अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिंतन

सहज

मध्यस्थ दर्शन सहअस्तित्ववाद

समाधानात्मक भौतिकवाद

मान्यता : ज्ञान की व्यापकता एवं प्रकृति का अनादित्व

सिद्धान्त : श्रम – गति – परिणाम

ए. नागराज

श्री भजनाश्रम, अमरकंटक

जिला – अनूपपुर, म. प्र. (भारत) – 484886

प्रकाशक :

जीवन विद्या प्रकाशन, दिव्यपथ संस्थान

अमरकंटक, जिला - अनूपपुर (म.प्र.), भारत, 484886

www.divya-path.org | info@divya-path.org

प्रणेता एवं लेखक :

ए. नागराज

सर्वाधिकार दिव्यपथ संस्थान के पास सुरक्षित

सहयोग राशि : 200/-

पूर्व संस्करण : प्रथम - 1998, द्वितीय - 2009

मुद्रण : जून - 2022

ISBN : 978-81-956883-0-2

प्रामाणिक वेबसाइट : www.madhyasth.org

प्रिंटेड पुस्तक प्राप्ति : books@divya-path.org

All Websites : www.jvidya.com

मुद्रक : युगबोध डिजिटल प्रिंटर्स,

समता कॉलोनी, रायपुर, छ.ग. – 492010

सदुपयोग नीति :

यह प्रकाशन 'सर्वशुभ' के अर्थ में है और इसका कोई व्यापारिक उद्देश्य नहीं है। इसका उपयोग एवं नकल, निजी अध्ययन के लिए उपलब्ध है। इसके अलावा किसी भी अर्थ में प्रयोग (नकल, मुद्रण, आदि) करने के लिए 'दिव्यपथ संस्थान', अमरकंटक, जिला अनुपपुर (म.प्र.) भारत - 484886 से पूर्व में लिखित अनुमति लेना अनिवार्य है। यह अपेक्षित है की इन अवधारणाओं को दूसरी जगह प्रयोग करते समय इस ग्रंथ का पूर्ण उद्धरण (संदर्भ) दिया जाएगा। कृपया दर्शन की पवित्रता बनाये रखें।

मूल अवधारणाएँ

- द्वंद्व व "संघर्ष" के स्थान पर "समाधान" के रूप में यह "समाधानात्मक भौतिकवाद" प्रबंध के रूप में प्रस्तुत है।
- शास्त्र रूपी पुस्तक और यंत्र प्रमाण के स्थान पर "जागृत मानव ही प्रमाण का आधार" होना - यह प्रतिपादित है।
- भक्ति-विरक्ति, एकान्त, संग्रह, सुविधा और भोगवाद के स्थान पर सहअस्तित्ववाद और व्यवस्था में समाधान, समृद्धि, अभय (वर्तमान में विश्वास) इंगित होने के अर्थ में यह प्रस्तुत है।
- विचार में समाधान, अनुभव में प्रमाण के रूप में प्रस्तुत है।
- "ब्रह्म सत्य, जगत् मिथ्या" के स्थान पर "ब्रह्म सत्य, जगत शाश्वत्" होने के प्रतिपादन के रूप में प्रस्तुत है।
- रहस्यमूलक, आदर्शवादी चिंतन और अस्थिरता, अनिश्चयता मूलक, वस्तु केन्द्रित भौतिकवादी विचार के विकल्प के रूप में यह अस्तित्वमूलक, मानव केन्द्रित सहअस्तित्ववादी चिंतन प्रस्तुत है।

मानवीय संविधान का चित्रण

व्यवहार	परिवार	संबंध मूल्य
व्यवहार	परिवार समूह	संबंध मूल्य
व्यवहार	ग्राम स्वराज्य परिवार	संबंध मूल्य
व्यवहार	ग्राम समूह परिवार	संबंध मूल्य
व्यवहार	ग्राम क्षेत्र परिवार	संबंध मूल्य
व्यवहार	मंडल परिवार	संबंध मूल्य
व्यवहार	मंडल समूह परिवार	संबंध मूल्य
व्यवहार	मुख्य राज्य परिवार	संबंध मूल्य
व्यवहार	प्रधान राज्य परिवार	संबंध मूल्य
व्यवहार	विश्व राज्य परिवार	अखंड समाज (संबंध मूल्य)
सार्वभौम व्यवस्था	विश्व राज्य सभा	भागीदारी
व्यवस्था	प्रधान राज्य सभा	भागीदारी
व्यवस्था	मुख्य राज्य सभा	भागीदारी
व्यवस्था	मंडल समूह राज्य सभा	भागीदारी
व्यवस्था	मंडल राज्य सभा	भागीदारी
व्यवस्था	ग्राम क्षेत्र राज्य सभा	भागीदारी
व्यवस्था	ग्राम समूह राज्य सभा	भागीदारी
व्यवस्था	ग्राम स्वराज्य सभा	भागीदारी
व्यवस्था	परिवार समूह सभा	भागीदारी
व्यवस्था	परिवार सभा	भागीदारी

विकल्प

1. अस्थिरता, अनिश्चयता मूलक भौतिक-रासायनिक वस्तु केन्द्रित विचार बनाम विज्ञान विधि से मानव का अध्ययन नहीं हो पाया। रहस्य मूलक आदर्शवादी चिंतन विधि से भी मानव का अध्ययन नहीं हो पाया। दोनों प्रकार के वादों में मानव को जीव कहा गया है।

   विकल्प के रूप में अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिंतन विधि से मध्यस्थ दर्शन, सहअस्तित्ववाद में मानव को ज्ञानावस्था में होने का पहचान किया एवं कराया।

   मध्यस्थ दर्शन के अनुसार मानव ही ज्ञाता (जानने वाला), सहअस्तित्व रूपी अस्तित्व जानने-मानने योग्य वस्तु अर्थात् जानने के लिए संपूर्ण वस्तु है यही दर्शन ज्ञान है इसी के साथ जीवन ज्ञान मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान सहित सहअस्तित्व प्रमाणित होने की विधि अध्ययनगम्य हो चुकी है।

   अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिन्तन ज्ञान, मध्यस्थ दर्शन, सहअस्तित्ववाद-शास्त्र रूप में अध्ययन के लिए मानव सम्मुख मेरे द्वारा प्रस्तुत किया गया है।

2. अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिंतन के पूर्व मेरी (ए. नागराज, अग्रहार नागराज, जिला हासन, कर्नाटक प्रदेश, भारत) दीक्षा अध्यात्मवादी ज्ञान वैदिक विचार सहज उपासना कर्म से हुई।

3. वेदान्त के अनुसार ज्ञान "ब्रह्म सत्य, जगत मिथ्या" जबकि ब्रह्म से जीव जगत की उत्पत्ति बताई गई।

उपासना	:-	देवी देवताओं के संदर्भ में।
कर्म	:-	स्वर्ग में मिलने वाले सभी कर्म (भाषा के रूप में)
मनु धर्म शास्त्र में	:-	चार वर्ण चार आश्रमों का नित्य कर्म प्रस्तावित है।
कर्मकाण्डों में	:-	गर्भ संस्कार से मृत्यु संस्कार तक सोलह प्रकार के कर्मकाण्ड मान्य है एवं उनके कार्यक्रम है।

   इन सबके अध्ययन से मेरे मन में प्रश्न उभरा कि -

4. सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम् ब्रह्म से उत्पन्न जीव जगत मिथ्या कैसे है? तत्कालीन वेदज्ञों एवं विद्वानों के साथ जिज्ञासा करने के क्रम में मुझे :-

   समाधि में अज्ञात के ज्ञात होने का आश्वासन मिला। शास्त्रों के समर्थन के आधार पर साधना, समाधि, संयम कार्य संपन्न करने की स्वीकृति हुई। मैंने साधना, समाधि, संयम की स्थिति में संपूर्ण अस्तित्व सहअस्तित्व होने, रहने के रूप में अध्ययन, अनुभव विधि से पूर्ण समझ को प्राप्त किया जिसके फलस्वरूप मध्यस्थ दर्शन सहअस्तित्ववाद वांङ्मय के रूप में विकल्प प्रकट हुआ।

5. आदर्शवादी शास्त्रों एवं रहस्य मूलक ईश्वर केंद्रित चिंतन ज्ञान तथा परंपरा के अनुसार - ज्ञान अव्यक्त अनिर्वचनीय।

   मध्यस्थ दर्शन के अनुसार - ज्ञान व्यक्त वचनीय अध्ययन विधि से बोधगम्य, व्यवहार विधि से प्रमाण सर्व सुलभ होने के रूप में स्पष्ट हुआ।

6. अस्थिरता, अनिश्चियता मूलक भौतिकवाद के अनुसार वस्तु केंद्रित विचार में विज्ञान को ज्ञान माना जिसमें नियमों को मानव निर्मित करने की बात कही गयी है। इसके विकल्प में सहअस्तित्व रुपी अस्तित्व मूलक मानव केंद्रित चिंतन ज्ञान के अनुसार अस्तित्व स्थिर, विकास और जागृति निश्चित संपूर्ण नियम प्राकृतिक होना, रहना प्रतिपादित है।

7. अस्तित्व केवल भौतिक रासायनिक न होकर भौतिक रासायनिक एवं जीवन वस्तुएं व्यापक वस्तु में अविभाज्य वर्तमान है यही "मध्यस्थ दर्शन सहअस्तित्ववाद" शास्त्र सूत्र है।

सत्यापन

8. मैंने जहाँ से शरीर यात्रा शुरू किया वहाँ मेरे पूर्वज वेदमूर्ति कहलाते रहे। घर-गाँव में वेद व वेद विचार संबंधित वेदान्त, उपनिषद तथा दर्शन ही भाषा ध्वनि-धुन के रूप में सुनने में आते रहे। परिवार परंपरा में वेदसम्मत उपासना, आराधना, अर्चना, स्तवन कार्य संपन्न होता रहा।

9. हमारे परिवार परंपरा में शीर्ष कोटि के विद्वान सेवाभावी तथा श्रमशील व्यवहाराभ्यास एवं कर्माभ्यास सहज रहा जिसमें से श्रमशीलता एवं सेवा प्रवृत्तियाँ मुझको स्वीकार हुआ। विद्वता पक्ष में प्रश्नचिन्ह रहे।

10. प्रथम प्रश्न उभरा कि -

    ब्रह्म सत्य से जगत व जीव का उत्पत्ति मिथ्या कैसे?

    दूसरा प्रश्न -

    ब्रह्म ही बंधन एवं मोक्ष का कारण कैसे?

    तीसरा प्रश्न -

    शब्द प्रमाण या शब्द का धारक वाहक प्रमाण?

    आप्त वाक्य प्रमाण या आप्त वाक्य का उद्गाता प्रमाण?

    शास्त्र प्रमाण या प्रणेता प्रमाण?

समीचीन परिस्थिति में एक और प्रश्न उभरा

चौथा प्रश्न -

भारत में स्वतंत्रता के बाद संविधान सभा गठित हुआ जिसमें राष्ट्र, राष्ट्रीयता, राष्ट्रीय चरित्र का सूत्र व्याख्या ना होते हुए जनप्रतिनिधि पात्र होने की स्वीकृति संविधान में होना।

वोट-नोट (धन) गठबंधन से जनादेश व जनप्रतिनिधि कैसा?

संविधान में धर्म निरपेक्षता - एक वाक्य एवं उसी के साथ अनेक जाति, संप्रदाय, समुदाय का उल्लेख होना।

संविधान में समानता - एक वाक्य, उसी के साथ आरक्षण का उल्लेख और संविधान में उसकी प्रक्रिया होना।

जनतंत्र - शासन में जनप्रतिनिधियों की निर्वाचन प्रक्रिया में वोट नोट का गठबंधन होना।

ये कैसा जनतंत्र है?

11. इन प्रश्नों के जंजाल से मुक्ति पाने को तत्कालीन विद्वान, वेदमूर्तियों, समाननीय ऋषि महर्षियों के सुझाव से -

(1) अज्ञात को ज्ञात करने के लिए समाधि एक मात्र रास्ता बताये जिसे मैंने स्वीकार किया।

(2) साधना के लिए अनुकूल स्थान के रूप में अमरकण्टक को स्वीकारा।

(3) सन् 1950 से साधना कर्म आरम्भ किया।

सन् 1960 के दशक में साधना में प्रौढ़ता आया।

(4) सन् 1970 में समाधि संपन्न होने की स्थिति स्वीकारने में आया। समाधि स्थिति में मेरे आशा विचार इच्छायें चुप रहीं। ऐसी स्थिति में अज्ञात को ज्ञात होने की घटना शून्य रही यह भी समझ में आया। यह स्थिति सहज साधना हर दिन बारह (12) से अट्ठारह (18) घंटे तक होता रहा।

समाधि, धारणा, ध्यान क्रम में संयम स्वयम् स्फूर्त प्रणाली मैंने स्वीकारा। दो वर्ष बाद संयम होने से समाधि होने का प्रमाण स्वीकारा। समाधि से संयम संपन्न होने की क्रिया में भी 12 घंटे से 18 घंटे लगते रहे। फलस्वरूप संपूर्ण अस्तित्व सहअस्तित्व सहज रूप में होना रहना मुझे अनुभव हुआ। जिसका वांङ्मय "मध्यस्थ दर्शन सहअस्तित्ववाद" शास्त्र के रूप में प्रस्तुत हुआ।

12. सहअस्तित्व :- व्यापक वस्तु में संपूर्ण जड़ चैतन्य संपृक्त एवं नित्य वर्तमान होना समझ में आया। सहअस्तित्व में ही :- परमाणु में विकासक्रम के रूप में भूखे एवं अजीर्ण परमाणु एवं परमाणु में ही विकास पूर्वक तृप्त परमाणुओं के रूप में 'जीवन' होना, रहना समझ में आया।
सहअस्तित्व में ही :- गठनपूर्ण परमाणु चैतन्य इकाई – 'जीवन' रूप में होना समझ में आया।
सहअस्तित्व में ही :- भूखे व अजीर्ण परमाणु अणु व प्राणकोषाओं से ही संपूर्ण भौतिक व रासायनिक प्राणावस्था रचनायें तथा परमाणु अणुओं से रचित धरती तथा अनेक धरतियों का रचना स्पष्ट होना समझ में आया।

13. अस्तित्व में भौतिक रचना रुपी धरती पर ही यौगिक विधि से रसायन तंत्र प्रक्रिया सहित प्राणकोषाओं से रचित रचनायें संपूर्ण वन-वनस्पतियों के रूप में समृद्ध होने के उपरांत प्राणकोषाओं से ही जीव शरीरों का रचना रचित होना और मानव शरीर का भी रचना संपन्न होना व परंपरा होना समझ में आया।

14. सहअस्तित्व में ही :- शरीर व जीवन के संयुक्त रुप में मानव परंपरा होना समझ में आया।
सहअस्तित्व में, से, के लिए :- सहअस्तित्व नित्य प्रभावी होना समझ में आया। यही नियतिक्रम होना समझ में आया।

15. नियति विधि :- सहअस्तित्व सहज विधि से ही :-

(i) अस्तित्व में चार अवस्थाएं

- पदार्थ अवस्था
- प्राण अवस्था
- जीव अवस्था
- ज्ञान अवस्था

और

(ii) अस्तित्व में चार पद

- प्राणपद
- भ्रांति पद
- देव पद
- दिव्य पद

(iii) और

- विकास क्रम, विकास
- जागृति क्रम, जागृति

तथा जागृति सहज मानव परंपरा ही मानवत्व सहित व्यवस्था समग्र व्यवस्था में भागीदारी नित्य वैभव होना समझ में आया। इसे मैंने सर्वशुभ सूत्र माना और सर्वमानव में शुभापेक्षा होना स्वीकारा फलस्वरूप चेतना विकास मूल्य शिक्षा, संविधान, आचरण व्यवस्था सहज सूत्र व्याख्या मानव सम्मुख प्रस्तुत किया हूँ।

भूमि स्वर्ग हो, मनुष्य देवता हो,
धर्म सफल हो, नित्य शुभ हो।

- ए. नागराज

प्राक्कथन

यह मूल प्रबंध रूपी पुस्तक "समाधानात्मक भौतिकवाद" सहज नाम से प्रस्तुत है। यह अस्तित्व सहज सहअस्तित्व रूपी तथ्यों की अभिव्यक्ति है और मानव सहज ज्ञान विवेक व विज्ञान सम्मत तर्क संगत है। वाद का अर्थ भी यही है - एक संवाद। संवाद का मतलब है प्रयोजनों के अर्थ में तर्क। मानव अपने में पूर्णता के अर्थ में किये गए वार्तालाप का संवाद, वाद, तर्क करता है और मनुष्येत्तर प्रकृति के साथ निरीक्षण, परीक्षण, सर्वेक्षणपूर्वक विश्लेषण करता है। इसी क्रम में, यह वांङ्मय, मानव कुल के सम्मुख प्रस्तुत हुआ।

मानव कुल, सुदूर विगत से ही, दर्शन, विचार (वाद) और शास्त्र विधाओं में अपने को संप्रेषित करने का प्रयास करते आया है। इसी क्रम में प्रस्तुति स्वरूप एक प्रमाण है। इस प्रस्तुति के नामकरण से संबंधित स्वीकृतियाँ मानव सहज है। इसीलिए यह सार्वभौम है। यह भी देखा गया कि मानसिक रूप में स्वीकृतियाँ होते हुए भी जिम्मेदारी के साथ व्यवहार में प्रमाणित होने में अवश्य ही परंपरा से भिन्नता होना पाया गया। जैसा इसका शीर्ष है।

पहले से हम 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' से परिचित हैं। उसकी स्वीकृति अर्थात् द्वन्द्व के अर्थ में मानव को संघर्ष समझ में आता है। उसको सदा-सदा के लिए मानव कुल ने स्वीकारा नहीं। जबकि परंपरा में अपेक्षा के रूप में समाधान समाया हुआ देखा जाता है, जैसा - मेधावियों के सम्मुख द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, विज्ञान शिक्षा के आधार रूप में प्रस्तुत हुआ है। इसका प्रमाण है कि सारा विज्ञान सूत्र द्वन्द्ववादी है ही। विज्ञान सूत्र का प्रमाण यंत्र होने के आधार पर शिक्षा परंपरा इसका धारक-वाहक है। इसी के आधार पर अर्थात् 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' के आधार पर ही 'कामोन्मादी मनोविज्ञान' सर्जित होना देखा गया। ऐसे मनोविज्ञान के आधार पर ही हम मानव 'भोगोन्मादी समाजशास्त्र' और 'लाभोन्मादी अर्थशास्त्र' को शिक्षा परंपरा में स्वीकार लिए। इसी द्वन्द्ववादी जंगल में मूल्य, चरित्र, नैतिकता को खोजे जा रहे हैं। अभी तक यह किसी देश, काल में प्रमाणित नहीं हो पाया है।

इन्हीं प्रश्नों के उत्तर या समाधान रूप में जो सहअस्तित्व सहज नियम, प्रक्रिया और फलन है, इसी के यथावत संप्रेषित करने के क्रम में इस पुस्तक को प्रस्तुत किया है।'समाधानात्मक भौतिकवाद' मूलत: व्यवस्था केन्द्रित अभिव्यक्ति, संप्रेषणा है। यह अस्तित्व में पाए जाने वाले मनुष्येत्तर संपूर्ण प्रकृति का अध्ययन सहज निश्चय के आधार पर निर्भर है। इस प्रस्तुति के पहले अस्तित्व सहज वैभव को समझना एक आवश्यकता रही है, इसकी आपूर्ति सहज संभव हो गई।

समाधान हर मानव में स्वीकृत है। इसे और भी विधि से कहा जाय तो सर्वतोमुखी समाधान सर्वमानव में स्वीकृत है। मनुष्येत्तर प्रकृति में आचरण प्रमाणित है ही। इसका नीति सूत्र है - "अस्तित्व में प्रत्येक एक अपने 'त्व' सहित व्यवस्था में कार्यरत और समग्र व्यवस्था में भागीदारी संपन्न है।" इस क्रम में मिट्टी, पत्थर, मणि, धातु, परमाणु, अणु, अणु रचित संपूर्ण पिंडों, किसी पिण्ड की सतह में पाए जाने वाले वनस्पति संसार, जीव संसार, इसी सूत्र व्याख्या में प्रमाणित होते हैं। मानव में प्रमाणित होना शेष है। इसे अध्ययनगम्य कराने के लिए 'समाधानात्मक भौतिकवाद' है।

मानव में समाधान प्रमाणित होने की संभावना है। मानव तभी समझदार हो पाता है, जब अस्तित्व, जीवन और मानवीयता पूर्ण आचरण अच्छे से समझ में आ जाय। यह आएगा कहां से? मानव से ही, मानव के लिए सुलभ होना नित्य सहज है। इस विधि से यह प्रस्तुत हुआ है।

समाधान का तात्पर्य क्यों और कैसे के उत्तर के रूप में है। मानव व्यवहार में संपूर्ण समाधान, नियम, नियंत्रण, संतुलन, न्याय और धर्म (सार्वभौम व्यवस्था) के रूप में परम सत्य रूपी सहअस्तित्व ही होना पाया गया है। यह नित्य समीचीन है। समीचीनता का अर्थ सबको सर्वदा सुलभ एवं समीपस्थ होने से है। समीपस्थता, यह सहअस्तित्व विधि से प्रमाणित है । सहअस्तित्व एक दूसरे के साथ होने के अर्थ को प्रतिपादित करता है। यह व्यापक वस्तु में संपृक्त, अनंत एक-एक वस्तु की हैसियत से पता लगता है। इसे अध्ययन करने की संपूर्ण प्रक्रिया सहित यह 'समाधानात्मक भौतिकवाद' प्रस्तुत हुआ है।

दूसरी विधि से, अस्तित्व ही सहअस्तित्व रूप में वैभवित है। सहअस्तित्व का मूल आशय, व्यापक वस्तु में एक-एक रूपी अनंत वस्तुओं की अविभाज्यता ही है। हर एक वस्तु जड़-चैतन्य के रूप में प्रमाणित है। प्रत्येक मानव जड़-चैतन्य का संयुक्त साकार रूप है । इस वांङ्गमय में परमाणु विकसित होने, जीवन पद प्रतिष्ठा में वैभवित होने का अध्ययन है।

गर्भाशय में मनुष्य शरीर की रचना भी प्राणकोशाओं से रचित होना स्पष्ट हो चुकी है। फलस्वरूप जीवन सहज, जागृति पूर्वक, अस्तित्व समझ में आने, अस्तित्व, सहअस्तित्व, विकास, जागृति, रासायनिक, भौतिक रचना-विरचना की क्रमविधि सहज प्रयोजन इस वांङ्गमय से संपन्न होने का आशय है।

- ए. नागराज

श्री भजनाश्रम, श्री नर्मदांचल

अमरकंटक, जिला-अनूपपुर (मध्यप्रदेश)

अनुक्रमणिका

	अध्याय		पृष्ठ संख्या
1.	समाधान और द्वन्द्व		1
2.	मानव स्वरूप का इतिहास		7
3.	समाधानात्मक भौतिकवाद		22
4.	अस्तित्व एवं अस्तित्व में परमाणु का विकास		24
5.	अस्तित्व में परमाणु का विकास		38
	सारणी - ज्ञानावस्था के पाँच मानव		54
	सारणी - प्रकृति सहज चार अवस्थाएँ (परस्पर पूरक)		55
	सारणी - अस्तित्व में व्यवस्था = सहअस्तित्व		56
6.	सहअस्तित्व, पूरकता और व्यवस्था		57
7.	संचेतना, चेतना और चैतन्य		94
8.	समाज, धर्म (व्यवस्था) और राज्य		99
9.	समाधानात्मक भौतिकवाद के नजरिए में-		
	1)	मौलिकता की पहचान ही निर्वाह का आधार	110
	2)	मानवीय आहार	123
	3)	मानव की मौलिकता	134
	4)	धर्म और राज्य में अंर्तसंबंध	138
	5)	मनुष्य की पहचान, महापुरुषों की पहचान	147
	6)	प्रकाशन और प्रतिबिम्ब	154
	7)	गुण, प्रभाव व बल	158
	8)	कृत्रिमता, प्रकृति और सृजनशीलता	164
	9)	संकरीकरण और परंपरा	171
	10)	उद्योग, आवश्यकता, संबंध और संतुलन	177
	11)	भय, प्रलोभन या मूल्य और मूल्यांकन	199
	12)	भौतिकता, अभिव्यक्ति, संस्कार और व्यवस्था	210

अध्याय - **1**

समाधान और द्वन्द्व

समाधानात्मक भौतिकवाद के नाम से मानव में अनेक प्रश्न उभरना स्वाभाविक है। जब से मानव सुनने-सुनाने योग्य हुआ, तब से भय और प्रलोभन वश ईश्वरवादिता क्रम में से ईश्वर को श्रेष्ठ तथा जीव-जगत का कर्त्ता, भरता, हरता मानता ही आया। कुछ समय बाद भौतिकता का नाम आया, तब से भौतिकतावादी, भौतिकता को अपने में द्वन्द्व ही बताते आये हैं। द्वन्द्व बताने वाले अपने को अत्यधिक वैज्ञानिक मान लिए हैं। विज्ञान को विधिवत अध्ययन मानते है। विधिवत अध्ययन का सार तर्क संगत होने से है। इस विधि से अथवा उपक्रमों से मानव ने भौतिक संसार में संधर्ष विधि से विकास को माना, जबकि आदर्शवादियों ने जगत् को ईश्वर की कृपा से उत्पन्न मान लिया।

द्वन्द्व कहने के मूल में अंतरविरोध और बाह्य विरोध नामक दो बातों की स्वीकारते हुए, अंतर्विरोध को विकास का आधार बताया गया। बाह्य विरोध को संघर्षपूर्वक स्व-वैभव अथवा स्वयं की ताकत को प्रदर्शित करने का आधार बताया गया। जबकि वास्तविकताओं का परिशीलन करने पर इसके विपरीत तथ्य उभर आए। जैसे :-

1. प्रत्येक एक अपने वातावरण सहित संपूर्ण है।
2. प्रत्येक एक अपने त्व सहित व्यवस्था है और समग्र व्यवस्था में भागीदार है।
3. प्रत्येक एक अपनी स्वभाव गति में विकास की ओर और आवेशित गति में ह्रास की ओर गतिशील होता है।
4. परस्पर नैसर्गिकता में ही आवेशित गति और स्वभाव गति का होना स्पष्टत: पाया जाता है।

जैसे यह धरती शून्याकर्षण विधि से अपनी स्वभाविक गति में निरंतर गतिशील है। यह अपने में से एक व्यवस्था है ही। समग्र व्यवस्था में भागीदारी का प्रमाण एक सौर व्यूह में भागीदारी के रूप में प्रमाणित है। सौर व्यूह में जितने ग्रह गोल है, उनके साथ अपनी गति को भागीदारी के रूप में अर्पित किया ही है। इससे यह सूत्र निकलता है कि "जो स्वयं व्यवस्था सहज रूप में नित्य वर्तमान रहता है, वह समग्र के साथ व्यवस्था में भागीदार हो पाता है।"

यह धरती अपने में व्यवस्था है। इसके साक्ष्य में इसी धरती पर चारों अवस्थाओं ने सहअस्तित्व को प्रमाणित किया है। इसी धरती पर पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था और ज्ञानावस्था देखने को मिला है। यह सब

देखने वाला अर्थात् समझने वाला ज्ञानावस्था का मानव ही है। ये सब प्रकार की अभिव्यक्तियाँ, इस धरती में होने के मूल में उसकी स्वभाव गति ही रही है, क्योंकि "प्रत्येक एक अपनी स्वभाव गति प्रतिष्ठा में ही अग्रिम विकास व यथा स्थिति को प्राप्त कर लेता है। क्योंकि प्रत्येक एक के लिए स्वभाव गति में सहज ही नैसर्गिकता, वातावरण एवं परंपरा आदि, ये सब अनुकूल रहते आया है।" किसी एक परमाणु या अणु को या एक मानव को स्वभावगति में रहने के लिए अनुकूल परिस्थिति का अथवा किसी जीव या वनस्पति को उन उनकी स्वभाव गति में रहने योग्य वातावरण, नैसर्गिकता और परस्परता मिल जाए, तब उनमें जो परिवर्तन देखने में आवेगा वह सब पहले से अधिक दृढ़ता तथा गुणात्मक और मात्रात्मक रूप से विपुलता की ओर परिवर्तित होता हुआ देखने को मिलता है।

इसे और भी स्पष्टता से देखें कि मानव जन्म से ही अर्थात् शरीर यात्रा के समय से ही न्याय का याचक, सही कार्य करने का इच्छुक और सत्य वक्ता होता है। यह शिशु की स्वभाव गति है। इसके अनुकूल परिस्थिति, वातावरण, नैसर्गिकता और परस्पता को स्थापित करने की स्थिति में मानव संतान में -

1. न्याय प्रदायिक क्षमता,
2. सही कार्य-व्यवहार करने की योग्यता तथा
3. सत्यबोध होने की पात्रता सहज प्रमाणित होती है।

उक्त उदाहरण से यह भी हृदयंगम होता है कि मानव परंपरा में सानुकूलता के आवश्यकीय तथ्य स्पष्ट होते हैं। ऊपर स्पष्ट किया गया है कि इसके लिए पहले से, मानव परंपरा में अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिंतन रुपी अस्तित्व दर्शन, जीवन ज्ञान सहज ऐसा अधिकार स्थापित हुआ रहता है तभी ऐसी सानुकूल परिस्थिति को स्थापित करना संभव हो पाता है।

अभी तक मानव परंपरा में ऐसी स्थिति नहीं बन पाई है। जबकि मानवेतर प्रकृति अर्थात् पदार्थ, प्राण एवं जीव प्रकृति सानुकूलता के साथ "त्व" सहित व्यवस्था के रूप में है। इनमें सानुकूलता का अध्ययन और मानव में सानुकूलता का अध्ययन विधि का भिन्न होना पाया जाता है। इनमें पदार्थावस्था की वस्तुओं को देखने पर पता चलता है कि मानव निर्मित अधिक आवेशित वातावरण से भी स्वयं स्वभावगति में रहने की स्थिति में, स्व विकास क्रम स्थिति को प्रमाणित कर लेता है। जैसे एक परमाणु अपनी स्वभाव गति में रहते हुए एवं दूसरा परमाणु अपने आवेशित गतिवश उनमें निहित कुछ अंशों को बहिर्गत करने के लिए विवश होने की स्थिति में पहला वाला (परमाणु) अपने में उन बहिर्गत अंशों को आत्मसात करता हुआ मिलता है। इससे स्पष्ट होता है कि पदार्थावस्था में आवेशित गति भी पूरक हो पाता है, जबकि मानव आवेशित गतिवश,

स्वयं भ्रमवश क्षतिग्रस्त होता ही है, अन्य को भी क्षतिग्रस्त कर देता हैं। पदार्थावस्था में अपने समृद्ध होने के लिए, जितने भी प्रकार के परमाणु अणु और अणु रचित पिण्डों के रूप में समृद्ध होने तक स्वभाव गति और आवेशित गति का परस्पर पूरक होना स्पष्ट होता है।

प्राणावस्था में वनस्पतियाँ अपनी स्वभावगति में रहने के लिए सानुकूल वातावरण चाहती है, जो पदार्थावस्था से भिन्न है। वनस्पतियाँ मूलत: बीजानुषंगीय व्यवस्था की अभिव्यक्ति है। वनस्पतियों के लिए सानुकूल वातावरण प्रधान रूप में ऋतु संतुलन है। ऋतु संतुलन का तात्पर्य आनुपातिक वर्षा का होना, आनुपातिक रूप में शीत होना, आनुपातिक रूप में उष्ण होना है। वनस्पतियों में होने वाली दिनचर्या को देखने पर पता चलता है कि ऊपर कहे तीनों प्रकार की उपलब्धियाँ किसी सीमा तक सह पाती है अर्थात् अनुकूल होना प्रमाणित हो पाता है। किसी अनुपात के अनन्तर अर्थात् किसी अवधि के कम या अधिक होने से प्रतिकूलता प्रमाणित होती है अर्थात् वनस्पतियाँ मर जाती हैं। वास्तविक रूप में उनके रचनाक्रम और वैभव क्रम में प्रतिकूलता उसकी विरचना के रूप में होना देखा जाता है। इसी घटना को मरना भी कहा जाता है।

इसका तात्पर्य यही हुआ कि संपूर्ण वनस्पतियाँ जीव शरीर और मानव शरीर भी प्राण कोशाओं से रचित है। इस कारण यह न्यूनतम अधिकतम ऊष्मा में संतुलित रहता है । इसी प्रकार न्यूनतम अधिकतम पानी को पाकर और न्यूनतम अधिकतम ठंडी को पाकर ही अपने संतुलन को स्वभाव गति के रूप में रख पाता है। इसी के साथ अर्थात् ऋतुमान के साथ ही सानुकूल रूप में धरती, हवा और उर्वरक संयोग भी महत्वपूर्ण कारक तत्व है।

ऊपर कहे गए सभी तत्व यथा-शीत, उष्ण, वर्षा, हवा, धरती और उर्वरकता का संतुलन यह धरती अपनी स्वभावगति प्रतिष्ठा के आधार पर स्पष्ट कर चुकी तभी जीव और मानव संसार इस धरती पर पनपे। इस प्रकार इस धरती की स्वभावगति प्रतिष्ठा में स्थित प्रत्येक मानव को समझ में आता है। अस्तु, प्राणावस्था की संपूर्ण रचनाओं के लिए अपनी परंपरा सहज स्वभाव गति को अक्षुण्ण बनाए रखने हेतु उक्त पाँचों कारक तत्वों का संतुलित रहना एक आवश्यकता है। इस प्रकार प्राणावस्था और प्राणावस्था की संपूर्ण रचनाएँ पदार्थावस्था से विकसित दिखते हुए, वातावरण और नैसर्गिकता सहज कारक तत्वों का सहअस्तित्व सहज पूरकता अनिवार्य रहना दृष्टव्य है।

इस विश्लेषण में भी अंतर्विरोध बाह्य विरोध के स्थान पर अंतर्सबधों में संतुलन बाह्य संबंधों में भी संतुलन इनके संयोग में सामन्जस्यता प्रमाणित होती हैं। यह समाधान का साक्षी है। ऊपर किए गए विश्लेषण से यह भी स्पष्ट हुआ कि सहअस्तित्व में ही स्वभावगति और आवेशित गति परस्पर सानुकूलता, प्रतिकूलता

आवश्यकता, उपलब्धि, संभावना ये सब मानव में, से, के लिए अध्ययनगम्य होते हैं। इसकी आवश्यकता इसीलिए है कि "मानव स्वयं संतुलित स्वभावगति संपन्न समाधान सहज रूप में वैभवित हो सके।"

"जीवों की सानुकूलता और स्वभाव गति प्रधानत: आहार, विहार व प्रजनन कार्य में प्रमाणित हो पाती है।" जीवों में शाकाहारी और मांसाहारी प्रजातियाँ देखने को मिलती हैं। इन इनके अंग अवयव की संरचनाओं में विशेषताएँ देखने को मिलती है। उदाहरण के रूप में मासांहारी और शाकाहारी पशुओं के हाथ, पैर और नाखून, सींग खुर आदि रचनाओं में अंतर होना पाया जाता है। प्रधानत: आंतो की रचना, नाखून और दांत की रचना मौलिक रूप में पहचानने में आती है। मांसाहारी पशुओं में आंते लंबाई में छोटी होती है और शाकाहारी पशुओं की आंते बड़ी होती है। यह एक मौलिक आधार है। इसी क्रम में नाखून और दांतों की बनावट में भी अन्तर होना पाया जाता है। शाकाहारी सभी जीव होठों से पानी पीते है जबकि मांसाहारी जीव समुच्चय जीभ से पानी पीते है। सभी पशुओं में चाहे वे मांसाहारी हों या शाकाहारी वंशानुषंगीय विधि से परंपरा होना देखने को मिलता है। जैसे:- हाथी, घोड़ा, कुत्ता, बिल्ली, भेड़ अपने अपने वंशानुषंगीय शरीर रचना और प्रवृति जो जीवन का वैभव है, से युक्त होते है। इनके अर्थात् शरीर और जीवन के संयोग से संपूर्ण प्रजाति के पशुओं का संतुलन और नियंत्रण होना पाया जाता है। इनमें संतुलन का आधार पहचानने के क्रम में पशु अर्थात् जीव जातियों का मांसाहारी और शाकाहारी होना पाया गया है।

पदार्थ, प्राण, जीव इन तीनों अवस्थाओं में परस्पर पूरकता सिद्धांत प्रभावशील रहता ही है। जैसे पदार्थावस्था प्राणावस्था के लिए प्राणावस्था पदार्थावस्था के लिए पूरक है- यह स्पष्ट है। ये दोनों अवस्थाएँ जीवावस्था के लिए पूरक हैं। जीवावस्था भी प्राणावस्था और पदार्थावस्था के लिए पूरक है यह प्रमाणित है। जैसे- संपूर्ण जीव पूरक होने के क्रम में पदार्थावस्था को अपने मल, मूत्र और शरीर के उपयोग से और वनस्पतियों में होने वाले अनेक संक्रामक और आक्रामक रोगों को अपने मल, मूत्र, श्वास एवं शरीर गंध से दूर करने में सहायक हुए हैं। जीवों का मल, मूत्र और श्वसन क्रिया महत्वपूर्ण भूमिका निभाता हुआ देखने को मिलता है। इस प्रकार इन तीनों अवस्थाओं का परस्पर पूरक होना, देखने को बन पाता है।

मानव ज्ञानावस्था की इकाई होते हुए इस बीसवीं शताब्दी के दसवीं दशक तक मनुष्येत्तर प्रकृति के साथ पूरक होने के स्थान पर इन्हें सर्वाधिक क्षतिग्रस्त करने में लगा ही रहता है। इतना ही नहीं, मानव मानव के साथ विद्रोहात्मक - द्रोहात्मक, शोषणात्मक और युद्धात्मक विधियों को अपनाता हुआ स्वयं क्षतिग्रस्त होते हुए अनेकों को क्षतिग्रस्त करने - कराने में लगा रहता है। यह सुदूर विगत से आयी समस्याओं का निचोड़ है। इन समस्याओं का समाधान भौतिक-रासायनिक वस्तुओं तथा जीवन, अनंत इकाई रुपी वस्तुओं और व्यापक के अविभाज्य अध्ययन से संभव है। इससे समाधानात्मक अवधारणाएँ मानव सुलभ होती हैं।

ऊपर की बातों में मानव के अतिरिक्त तीनों अवस्थाओं के अध्ययन की झलक आयी है। उसके अनुसार और वर्तमान में यही देखने को मिलता है कि "अस्तित्व में प्रत्येक एक अपने त्व सहित व्यवस्था है और समग्र व्यवस्था में भागीदार है।" इसके प्रमाणों को पूरक विधि से पदार्थावस्था, प्राणावस्था जीवावस्था में वर्तमान होना स्पष्ट किया गया। इसी क्रम में मानव में, से, के लिए भी व्यवस्था अपेक्षित है।

"अस्तित्व में व्यवस्था ही समाधान है, अव्यवस्था ही समस्या है" मानव अभी तक समस्याओं से जूझते ही आया है। अभी तक मानव अपने को एक इकाई मानने में शंकाग्रस्त है और संकटग्रस्त भी है। इसीलिए समाधानात्मक भौतिकवाद के प्रति शंका अथवा आश्चर्य होना भी संभव है। मनुष्य सहज रूप में जानने-मानने-पहचानने के आधार पर एक योग्य इकाई है। सहअस्तित्व सहज विधि से ही विश्वास होने के कारण मैं यह विश्वास करता हूँ कि मानव यथार्थता, सत्यता, वास्तविकता को हृदयंगम कर सकता है । यथार्थ यही है कि "मानव मानवत्व सहित व्यवस्था है" और समाधान है। मानवत्व से व्यवस्था के रूप में प्रमाणित होने के लिए सर्वप्रथम एक व्यक्ति का सर्वतोमुखी समाधान संबंधी तथ्यों में ओत-प्रोत होना या दूसरी भाषा में अधिकार संपन्न होना आवश्यक रहा है। यह होना अब संभव हो गया है। इसका प्रमाण यही है कि "समाधानात्मक भौतिकवाद" मानव के सम्मुख प्रस्तुत है।

मानव सहज रूप में ही अपनी कल्पनाशीलता कर्म स्वतंत्रता सहज महिमा के आधार पर अनेक प्रयोग करता है अथवा करने योग्य है ही। कल्पना करने पर पता चलता है कि हर व्यक्ति अपने में समाधान चाहता है। इसी प्रकार न्याय चाहिए या अन्याय, शांति चाहिए या अशांति, संघर्ष चाहिए या समाधान - इन सब कल्पनाओं में मानव सहज ही शांति, न्याय, समाधान जैसे तथ्यों को स्वीकारता है।

मानव स्वाभाविक रूप में ही सुख चाहता है भले ही सुख को वह नहीं जानता, इसके बावजूद वह सुख का पक्षधर होता है। अधिकांश मानव सुख के लिए ही रुचियों, प्रलोभनों के पीछे दौड़ते रहते हैं। इस तथ्य के निरीक्षण परीक्षण के उपरान्त यह निष्कर्ष निकलता है कि परंपरा जिन दिशा कोणों में प्रोत्साहित करता है अथवा जितना जागृत हुआ रहता है उसी के अनुरुप दिशा निर्देशन कर पाता है। परंपरा का तात्पर्य शिक्षा-संस्कार, संविधान और व्यवस्थाओं का अविभाज्य रूप में क्रियारत होना है। यह एक सहज प्रमाण है कि हर समुदाय किसी न किसी संविधान, शिक्षा, व्यवस्था तथा संस्कार को अपनाया रहता है।

इसे इस धरती के सभी समुदायों में निरीक्षण परीक्षण करके देखा जा सकता है। इससे यह भी स्पष्ट हुआ कि उन चारों आयामों के संबंध में मानव की कर्म स्वतंत्रता कल्पनाशीलता ने सहज रूप में कार्य किया है। अभी तक किसी एक अथवा एक से अधिक समुदायों में स्थापित संविधान व्यवस्था और संस्कार सभी समुदायों के लिए स्वीकृत नहीं हो पाया। सभी समुदायों में मानव विचारशील रहे हैं। समीचीन ज्ञान विज्ञान

के अनुरुप अभय और शांति सबको सुलभ होने के उद्देश्य से ही सभी संविधानों की स्थापना हुई है। प्रत्येक समुदाय अपने संविधान के अनुरुप शिक्षा, संस्कार, राज्य और धर्म व्यवस्था पाने की आशा और आकांक्षा से इसमें अर्पित होते आया है। आज भी ऐसी ही स्थितियाँ देखने को मिलती हैं। इस प्रकार सभी समुदायों में संविधान, शिक्षा संस्कार, व्यवस्था संबंधी तथ्यों को सोचते हुए समुदाय चेतना से विवश होकर समस्त कार्य किए गए। फलत: वाद-विवाद व द्रोह-विद्रोह की संभावनाएँ आदिकाल से अभी तक बनी हुई है। यह समस्या विश्व मानव के सम्मुख स्पष्ट है अर्थात् समुदायों के सम्मुख स्पष्ट है।

उक्त समस्या के कारण तत्वों का निरीक्षण परीक्षण किया गया। इसका उत्तर यही मिला कि मानव ने मूलत: मानव को पहचानने में सहअस्तित्व रूपी परम सत्य को समझने में ही भूल किया है।

इस पृथ्वी पर सर्वप्रथम मानव के अवतरण समय को जंगल युग अथवा शिलायुग का नाम दिया गया है। सर्वप्रथम एक से अधिक मानव अवतरित हुए ऐसा माना गया है। इसका कारण मानव की कल्पनाशीलता के अनुसार एक से अधिक नर-नारी होने से ही मानव परंपरा में प्रजनन कार्य संभव है। इस क्रम में सर्वप्रथम इस धरती पर एक से अधिक मानव अवतरित हो गए। सबसे पहले किस प्रकार से मानव का अवतरण संभव हुआ इस बात के लिए तमाम कल्पनाएँ होती हैं। किसी का सोचना बंदर, किसी का सोचना भालू, किसी का सोचना मछली, किसी का सोचना गाय। ये सब कल्पनाएँ की जा सकती है। यह सहज रूप में पाया गया है कि वनस्पतियों में अनेक बीज परंपराएँ, किसी एक परंपरा के बाद ही स्थापित हुई है, और जीवों में किसी एक वंश परंपरा के अनन्तर ही अनेक वंश परंपराएँ स्थापित हुई है।

इस क्रम में वंश सूत्र का परंपरा में ही होने वाले अनुसंधान अर्थात् अनुकूल परिस्थितियों का उन्नतोन्नत रूप में व्यक्त करने के क्रम में किया गया सहज प्रयास ही है। इसी क्रम में मानव प्रजाति का अवतरण कोई भी जीव योनि मूलक विधि से मानव का होना संभव है। जिसमें समृद्ध मेधस रचना का प्रावधान परंपरा में रहते आया हो। इस मुद्दे पर कितना भी सूक्ष्म अध्ययन करें, वह सारा अध्ययन शरीर रचना के ही संबंध में हो पाएगा। शरीर रचना मानव परंपरा में, अपने ही स्वरुप में संपन्न हो ही रहा है। शरीर का संपूर्ण उपयोग जीवन की अभिव्यक्ति, जागृति का प्रमाणीकरण के लिए (माध्यम) है। मानव परंपरा में इसकी आवश्यकता है। अस्तु, मानव का इतिहास आदि मानव से होना सहज है।

"नित्यम् यातु शुभोदयम्"

अध्याय - 2

मानव स्वरूप का इतिहास

(1) सामुदायिक इतिहास

उक्त प्रकार से आदि मानव ने एक स्थान अथवा देश में शरीर यात्रा प्रांरभ किया, या एक से अधिक देश अथवा स्थान में आरंभ किया - यह प्रश्न मानव को सोचने के लिए बाध्य करता हैं। इसका सत्य सहज उत्तर है कि आदिकाल में एक परिवार ने दूसरे परिवार को नस्ल के आधार पर पहचाना। यही पहली और ऐतिहासिक भूल या घटना हुई। आज हमें यह ज्ञात है कि नस्ल का आधार भौगोलिक, नैसर्गिक परिस्थितियाँ है। रंग का आधार भी भौगोलिक, नैसर्गिक परिस्थितियाँ है। पूजा व प्रार्थनाएँ कल्पनाशीलता के आधार पर निर्मित हुई। साधना का आधार श्रेष्ठता की अपेक्षा निष्ठा पर रहा। धर्म कहलाने वाले सभी प्रक्रियाएँ सामुदायिक शासन नियंत्रण और आश्वासन पर निर्भर रहीं। इसके लिए आज यही सोचा जा सकता है कि मानव की जागृति मानव के संबंध में नस्ल तक ही रही है। इसका प्रकाशन लड़ाई के रूप में हुआ। अर्थात् एक परिवार दूसरे परिवार को नस्ल, रंग के आधार पर क्रूर जीव-जंतु मानकर लड़ लिया। फलस्वरुप नस्ल के आधार पर समुदाय चेतना अर्थात् अपना पराया वाली सीमाएँ बनती रही।

दूसरी बार भिन्न-भिन्न रंगों के मानव देखने को मिले। उसी के आधार पर एक दूसरे को मारकाट करने वाले मानकर झगड़ा कर लिया। फलस्वरुप परिवारों में अथवा समुदायों में भिन्न-भिन्न रंग और नस्ल की दीवालें पनपती आई। इस प्रकार ये दोनों (रंग और नस्ल) मान्यताएँ परंपरा में कटुता, द्रोह, विद्रोह प्रवृति को पनपाती रही।

तीसरी बार पुन: मानव को पूजा, अर्चना, योग, साधना, उपासना के आधार पर पहचानने की कोशिश हुई। यह भी पूववर्ती दो प्रकार के भूलों जैसी ही हुई। मतभेद वाद-विवाद के आधार पर पहले जैसे ही द्रोह-विद्रोह होते रहे। चौथी बार पुन: वस्तु संग्रह, सुविधा और भोग के आधार पर एक दूसरे समुदायों को पहचानने की कोशिश हुई। इसमें द्रोह-विद्रोह के साथ शोषण भी प्रखरता से शामिल हो गया। युद्ध तो पहले से ही रहा। इस प्रकार मानव विविध समुदाय प्रेरणाओं से प्रेरित होकर ही एक दूसरे को नकारने-सकारने के तरीकों से समस्याओं को तौलता ही रहा। यह समुदाय चेतना का एक इतिहास है।

(2) शिला व धातु युग

दूसरा इतिहास जंगल युग के शिला युग, शिला युग से धातु युग, धातु युग से दास युग (आदर्शवादी विचार) तथा दास युग से संघर्ष युग जो आज वर्तमान है।

शिला और जंगल में मानव प्राकृतिक प्रकोप और क्रूर जानवरों से प्रधान रूप से भयभीत ही रहा। जैसे ही कबीला एवं ग्राम युग आया वैसे ही एक समुदाय दूसरे समुदाय से भयभीत होते रहा। जैसे ही दास युग आया वैसे ही ईश्वर, राजा और गुरु के प्रति नतमस्तक होने की पंरपरा चली। राजा से प्रजा को सुख चैन का आश्वासन मिलते रहा। धर्म ग्रंथों, दर्शनों एवं विचारों के आधार पर पाप, अज्ञान, स्वार्थ से मुक्त होने के आश्वासन के आधार पर दास युग को स्वीकारा गया । इसके बावजूद द्रोह-विद्रोह-युद्ध कहीं नहीं रुका।

इसके उपरान्त जैसे ही भौतिकवादी युग विज्ञान और तकनीकी पूर्वक यंत्र प्रमाण सहित आया वैसे ही संघर्ष युग का लोकव्यापीकरण होना आरंभ हुआ। इस युग की मूलभूत बात - "सुविधा, संग्रह और भोग" है। फलस्वरुप पहले ग्राम-कबीले में मानव में निहित अमानवीयता का भय जितना रहा उससे कहीं अधिक दास युग में रहा। आज संघर्ष युग में मानव में निहित अमानवीयता का भय सर्वाधिक हो गया है। इसी के साथ प्राकृतिक भय और जीव भय इस युग में अन्य युगों की अपेक्षा कम हुआ है।

(3) वैचारिक इतिहास

इतिहास का तीसरा चरण विचारधाराओं से शुरु होता है। यही अभी तक के प्राप्त विचारों के अनुसार ईश्वरवादी विचार है, जो प्रकारान्तर से तीन स्वरुप में मानव के सम्मुख है :-

1. अध्यात्मवाद
2. अधिदैवीवाद
3. अधिभौतिकवाद।

इन तीनों वादों को सम्मिलित रूप में आदर्शवाद नाम दिया गया है। आदर्शवाद का मूल प्रतिपादन रहस्यमूलक ईश्वर केन्द्रित चिंतन है। आदर्शवाद के अंतर्गत ऐसी रहस्यमयता को ज्ञान माना जाता है। अध्यात्मवाद वाले अध्यात्म ज्ञान को परम मानते हैं। अधिदैवीवाद वाले अधिदैवी ज्ञान को परम मानते है, जबकि ये सभी रहस्य हैं। इन तीनों वादों के अनुसार ज्ञान को चेतना, व्यापक और सत्य बताया गया है। मूलत: ईश्वर का प्रतिपादन अथवा सत्य का प्रतिपादन रहस्य पर आधारित होने के कारण ईश्वर भी, सत्य भी, ज्ञान भी रहस्यमय रह गया।

मानव में अज्ञात को ज्ञात करने की इच्छा बनी ही रही है। फलत: इन मुद्दों पर जितने भी वांङ्गमय तैयार हुए वे सब वाद विवाद के चंगुल में फंसते गए। इसमें प्रमुख बात यह रही है कि अनेकानेक प्रबुद्ध ईमानदार लोग सच्ची साधना में समर्पित हुए। साधनाओं की विविधता बढ़ती रही। अत: मतभेद का अनेकानेक रूप में प्रचारित होना और प्रतिबद्धित होना, देखने को मिला। इन सबके अथक प्रयास के बावजूद मूल मुद्दा रहस्य ही रहते आया। ईश्वर के नाम से रहस्यमय महिमाओं का कथन हुआ। "ईश्वर को रिझाना ही मानव जीव का कल्याणकारी मार्ग है"- ऐसा बताया गया। इस कथन के साथ सभी अभ्यासी महापुरुष सहमत रहे। इस रहस्यवाद में अध्यात्म का आधार रहा है। इसी मूल आश्वासन के आधार पर ही अनेक लोग ईश्वर कृपा को पाकर अभिभूत अथवा तृप्त होने, समाधिस्थ होने, मौन होने अथवा बोधगम्य होने के लिए निष्ठापूर्वक प्रयत्न भी किये। ऐसे निष्ठावान तपस्वी, ऋषि, यति, सती, सन्त, मौनी महापुरुषों को सामान्य लोग यह भी मान लिये कि उन्हें ईश्वर कृपा हो चुकी। परंपरा में यह तथ्य देखने को मिलते रहा। फिर भी रहस्य ही रहता आया और अभी भी इसी प्रकार देखने को मिलता है।

इस बीच एक दूसरी विचारधारा आई, जिसको भौतिकवाद नाम दिया गया। जिसमें भौतिकता को कार्यकलाप के रूप में द्वंद्वात्मक होना प्रतिपादित किए। उसके मूल में अनिश्चय, अस्थिरता को माना गया। इस प्रकार अस्थिरता एवं अनिश्चयमूलक भौतिकवादी वांङ्गमय मानव को मिला, जो अपने प्रभाव के रूप में तर्क संगत विधि से लाभोन्माद, कामोन्माद, भोगोन्माद के रूप में प्रज्जवलित हुआ।

ईश्वरवाद के अनुसार इन तीनों प्रवृत्तियों को दुखकारी और पाप मूलक बताया गया साथ ही स्वर्ग एवं भोग को स्वीकारा और स्वर्ग-नरक को बन्धन बताया। वहीं भौतिकवाद ने इन्हीं उन्मादों को सर्वोपरि स्वीकार किया। इन्हीं प्रवृत्तियों के समर्थन में राज्य और अर्थ-नीतियों को, प्रक्रियाओं को पद्धतियों को अध्ययन कराया।

इसके आधार पर एक सुविधावादी व्यवस्था की परिकल्पना सामने आई जो भोगवाद का समर्थन ही रहा। सुविधावादी व्यवस्था का विचार भौतिकवाद का प्रसंग हुआ। इसका प्रधान कार्यरुप मानव का संग्रह की ओर प्रवृत्त होना पाया गया है। उल्लेखनीय बात यह प्रमाणित हुई कि संग्रह का तृप्ति बिंदु, किसी भी स्थिति में व किसी भी मात्रा में देखने को नहीं मिला। इस प्रकार भौतिकवाद व्यवहार रूप में संग्रह के चक्कर में फँस गया और आदर्शवाद रहस्यमय ही रह गया। इस प्रकार दोनों विचारधाराओं द्वारा व्यवहार रूप में सार्थक सुन्दर समाधान पूर्ण और सुखद सार्वभौम व्यवस्था हाथ नहीं लगी। आज की रिक्तता यही है। पहले भी यही रिक्तता रही है।

(4) सांस्कृतिक इतिहास

प्रकारान्तर से संस्कृतियों के बारे में यह मान्यता है कि संस्कृति का आधार-

1. कपड़ो और अंलकारों की सजावट का विस्तार और उसके तरीके,
2. शादी-ब्याह के रीति रिवाज,
3. संतान, अन्न व वस्तुओं की प्राप्ति के साथ उत्सव मनाने का तौर तरीका,
4. कोई मर गया तो शोक संवेदनाओं को व्यक्त करने का तौर तरीका,
5. नृत्य, गीत-संगीत घर-द्वार की सजावट व स्वागत का तरीका।

प्रधानत: भक्ति और श्रृंगारिक प्रकृति सहज महिमाओं को आधार बनाकर व्यक्त किये हुए गीत, कविता, साहित्य, मूर्ति एवं चित्रों को संस्कृतियों का रूप मानते हुए समीक्षा करने पर शिलायुग से धातु युग, धातु युग से कबीला युग, कबीला युग से दास युग, दास युग से संघर्ष युग की संस्कृतियाँ, बेहतर से बेहतरीन मानी जा रही है।

(5) आर्थिक इतिहास

आर्थिक इतिहास का आधार मानव परंपरा में एक आयाम हैं। इसे ऐसा भी कह सकते है कि अर्थ परंपरा में मानव कितना डूबते रहा और तैरते रहा। तीसरी विधि से ऐसा भी देख सकते है कि अर्थ के प्रति मानव कितना जागृत रहा या भ्रमित रहा।

सबसे पहले जंगल में (आदिकाल में) जंगल को ही अर्थ मानता रहा। इसकी गवाही यही है कि आदि मानव जंगल में रहने तथा जंगल को खाने की वस्तुओं के रूप में पहचानते रहे है, चाहे शाकाहार करते रहे हों या मांसाहार। शिलायुग आने के उपरान्त शिला और जंगल को उपयोगी वस्तु के रूप में पहचाना। मानव के लिए उपयोगिता का स्वरुप आहार, आवास रहा ही है और अलंकार क्रम में उपयोगिता को पहचानना स्वाभाविक रहा है। जंगल युग की अलंकार प्रणाली से शिलायुग में परिवर्तन हुआ। धातु युग में और परिवर्तन हुआ। यही तीन उपयोगिता का आधार आवश्यकता के रूप में होते आया।

सम्मान योग्य व्यक्ति की पहचान जंगल युग से ही प्रारंभ हुई। क्योंकि जंगल में रहते हुए वन्य प्राणियों से जूझना एक अनिवार्य स्थिति रही। इस कारण वंश या परिवार में से अथवा समुदाय में से जो व्यक्ति क्रूर प्राणियों की हत्या कर पाया ऐसे व्यक्तियों का समुदाय या परिवार ने सम्मान किया। जैसे-जैसे आवास, अलंकार और आहार संबंधी वस्तुओं को इकट्ठा करने की बात आई, इसके लिए विविध प्रकार के उपायों को सोचा गया तथा उसे क्रियान्वित किया गया। इस क्रम में जब मानव प्रवृत्त हुआ तो इनमें से जो अधिक

एकत्रित कर पाया वह बड़े आदमी के नाम से पहचान में आया। इस प्रकार आदिमानव काल से बड़े आदमियों (सम्मान योग्य आदमी) की दो प्रजाति इस रूप में देखने को मिली।

आदर्शवाद के अनुसार पाप, अज्ञान, स्वार्थ दूर होने का आश्वासन जिनसे भी मिला उन्हें तीसरे प्रकार से बड़ा आदमी माना गया। इनको प्राय: गुरु के नाम से इंगित व संबोधित करते रहे। इसके पहले के दो प्रजाति के आदमी में से एक राजा के पद में आ गया जो बाहुबल और युद्ध का अधिकारी बना। दूसरा संग्रह करने वाला व्यापार कार्य में भाग लेने वाला बन गया। इस प्रकार से तीन स्वरुप में बड़े आदमी को पहचानते आए।

इस बीसवीं शताब्दी के अंत तक भी उक्त तीनों प्रकार के आदमियों को बड़े मानते हैं। इन्हीं के आदर्श पर और भी बहुत सारे रूप में प्रदत्त बहुत सारी वस्तुएँ राजा के पास एकत्रित होती रहीं। राजा एवं गुरुजनों का सम्मान होते ही रहा। इसी के साथ राजाओं द्वारा अपहृत वस्तुएँ भी एकत्रित होती रही। बाहुबल के साथ राजाओं में योद्धाओं, युद्ध तंत्रों और समर साधनों के संयोग से बलपूर्वक अन्य देशों को अपने अधीन करने व वस्तुओं को लूटने की दुखद स्थिति आ गई। फलस्वरुप राजाओं के साथ संग्रह जुड़ता ही रहा और सम्मान यथावत् बना रहा। इसी के साथ व्यापारवाद लाभोन्मादी पराकाष्ठा में पहुँचने लगा। सर्वाधिक लोग इस दशक में व्यापार और नौकरी को वर्चस्वी कार्य मानने लगे हैं।

इन दोनों से अधिक यदि किसी व्यक्ति के वर्चस्व को स्वीकारा जा रहा है तो वह है राजगद्दी में बैठा हुआ व्यक्ति अथवा बैठने योग्य व्यक्ति जो राजा का ही परिवर्तित रूप है। इस प्रकार वस्तु संग्रह के लिए तीन तबके सर्वाधिक आगे आए, वे है - राजगद्दी में बैठे हुए नेता या बैठने योग्य नेता, नौकरी करने वाले समुदाय और व्यापार करने वाले समुदाय। व्यापार कार्य को आज दो प्रकार से देखा जा रहा है -

1. उत्पादन विहीन व्यापार जो उपभोक्ता और उत्पादक के बीच होने वाला महत्वपूर्ण या गौरवशाली कार्य माना जाता है।
2. इससे अधिक गौरवशाली कार्य यदि आज मानते है तो वह है उत्पादन सहित व्यापार।

इस प्रकार बीसवीं शताब्दी में संग्रह करने वालों की संख्या बढ़ी। इनमें से जो राजगद्दी और व्यापार के द्वारा संग्रह करने में अभयस्त थे, वे भी इस प्रवाह के साथ है ही। इस क्रम में हर समुदाय राजगद्दी और धर्मगद्दी की निश्चित पहचान अपने-अपने रूप में रहती आयी। इन दोनों के बीच जो एकरुपता का सूत्र राजयुग अथवा दासयुग के प्रारंभ में स्थापित हुआ वह शनै:-शनै: परिवर्तित हो गया। आज राज्य और धर्म दोनों अलग-अलग पहचानने में आ गए हैं। इस परिवर्तन के लिए मानव मानस को जो सूत्र मिला है वह सब

"संग्रहवादी प्रवृत्ति" है । आज तकनीकी और प्रौद्योगिकी की प्रधान भूमिका के कारण अत्याधिक उत्पादन हुआ है। अब यह भी सुनने में आ रहा है कि धर्म का लेन-देन या संबंध राज्य के साथ नहीं है। जबकि धार्मिक राजनीति के आरंभिक काल से ही, धर्म और राज्य एक-दूसरे के पूरक रहने की अपेक्षा बनी रही है अथवा ऐसा मान लिया गया था। दोनों में एकात्म संबंध माना गया था। विज्ञान युग के अनंतर आर्थिक राजनीति प्रभावशील हुई। आर्थिक राजनीति की पराकाष्ठा में ऐसी आवाज गूंजने लगी कि धर्म और राज्य के बीच संबंध नहीं है।

इस सदी में सन् 1917 में साम्यवादी विचार के अनुसार धर्म विहीन राज्य व्यवस्था स्थापित हुई। पर सन् 1990 से साम्यवाद का उन्मूलन आरंभ हो गया। वहाँ पहले जैसे ही विविध धार्मिक आस्थाएँ पनपती हुई देखने को मिल रही हैं। इससे यह भी ज्ञानोदय होता है कि जब मानव अपने में सांत्वना एवं शांति चाहता है, प्रकारान्तर से धर्म का ही नाम याद आता है और आस्था का सूत्र ही उसका एकमात्र संबल होता है। आस्था की प्रेरणा आदर्शवाद से ही जनमानस में आई है। भय की तुलना में आस्था से आज भी राहत सी मिलती है। इसी आधार पर आस्था के केन्द्र राजा, गुरु और ईश्वर रहे। गुरु और राजा का सम्मान होते आया। आज की स्थिति में राजकाज का ढंग देखकर जनमानस की आस्था इससे टूटती गई है। आस्था का आधार है रहस्यमय धर्म तथा रुचि के लिए उन्माद त्रय (लाभोन्माद, कामोन्माद, भोगोन्माद)।

वर्तमान समय में व्यापारी और अधिकारी समय अनुसार बदलते रहते हैं। कभी व्यापारियों के चंगुल में अधिकारी तो कभी अधिकारियों के चंगुल में व्यापारी-इस तालमेल को बैठाने के कार्यक्रम में लगे दिखाई देते हैं। संपूर्ण अधिकारी समुदाय इस समय प्रधानत: तीन भागों में बंटे दिखाई पड़ते है-

1. कार्यपालिका में प्रशासन कार्य तंत्र और सीमा सुरक्षा में,
2. न्यायपालिका में,
3. विधायिका में - सभी नेता विधायिका के कार्य में लगे है।

इन्हीं के साथ बहुत सारे विभाग समाहित हैं। हर विभाग में अधिकारी होता है । शिक्षा तंत्र भी एक विभाग है। यह कार्यपालिका के अंतर्गत कार्य करता है। आज सर्वाधिक अधिकारी वर्ग संग्रह कार्य में व्यस्त है। विधायिका राजनेताओं के हाथों में है और नेता जनादेश के आधार पर चुना जाता है जबकि राजा वंशानुगत होता था।

विधायिका एक बहुत बड़ा काम हैं। इसी की भागीदारी के लिए अथवा इसका कर्णधार होने के लिए नेताओं को आज आम आदमी ही पहचानकर चुनता है। उल्लेखनीय बात तो यह है कि विधायिका को आम आदमी

आज नहीं जानता । नेता लोग भी ठीक से नहीं जानते। इसका ज्ञान किसे है नेता को या जनता को, ऐसा देखने पर दोनों अज्ञानी मिलते है। क्योंकि संविधान पर प्रश्न चिन्ह लगा हुआ है। ऐसे विधायिका की नैय्या सम्हालने वाले विधानसभा, लोकसभा और राज्यसभा के जनप्रतिनिधि हैं।

"जन प्रतिनिधित्व विधि से संप्रभुता वोट (मत) देते समय मानव गलती नहीं करता"- इसीलिए जनादेश संप्रभुता का द्योतक है। इसी मान्यता के आधार पर गणतांत्रिक व्यवस्था प्रांरभ हुई। जहाँ-जहाँ अभी भी राजा लोग है वहाँ-वहाँ विधायिका का स्वामी राजा को आज भी प्रधान माना जाता है। राजतंत्र के समय की मान्यता के अनुसार राजा स्वयं ईश्वर का प्रतिनिधि हैं। "राजा कभी गलती नहीं करता-इसीलिए संप्रभुता राजा का स्वरुप है" - ऐसी मान्यताएँ वंशानुगत उत्तराधिकार होने को मान लेती है। इस प्रकार जन प्रतिनिधि रूप में राजगद्दी का दावेदार अथवा राज परंपरा से आया हुआ राजा, राजगद्दी में बैठा होता है। इनके लिए आम जनता का सम्मान -गौरव अर्पित होते ही रहता है । हर समुदाय किसी न किसी राजगद्दी में अर्पित होता ही है, चाहे वह राजतांत्रिक राजगद्दी हो या गणतांत्रिक। अस्तु, इनमें यह चीज देखने को मिली कि संग्रह कार्य इनके लिए अत्यंत आसान हो जाता है। इस विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकला कि-

1. आदिकाल से अभी तक वस्तु संग्रह करने वाले व्यक्तियों का अनुपात बढ़ते गया।
2. शक्ति केन्द्रित शासन के अनुसार बंदूक, तोप, प्रक्षेपास्त्र, विस्फोट आदि वध-विध्वंस कार्यों का अधिकार संविधान विधि के अनुकूल प्रणालियों से राजा या नेता को प्रदत्त रहता है। इसे प्रत्येक शासन तंत्र में देखा जा सकता है। ऐसे शासन सम्मत अधिकार संपन्न व्यक्तियों के अतिरिक्त समर शक्तियों का उपयोग करना दूसरों के लिए अवैध माना गया हैं। इसीलिए ऐसे व्यक्ति ऐसे विध्वंसक कार्यों को करते हुए शासन तंत्र के कब्जे में न आ सकने की स्थिति में उग्रवादी, आतंकवादी आदि नामों से जाने जाते है। यह संघर्षवाद का एक स्पष्ट मूल्यांकन है।

शासन विधि, प्रणाली, प्रक्रियाओं से अधिकतर जनता उत्पीड़ित होते रही है, अभी भी उत्पीड़ित हो रही है। इससे छुटकारा पाने के लिए गणतंत्र प्रणाली को सोचा गया। इसके बावजूद उत्पीड़न अधिक प्रसन्नता कम है। इस प्रसन्नता और अप्रसन्नता का आधार वस्तु संग्रह होने या न होने की घटना पर आधारित है।

इसी तरह एक और समुदाय है जो हमें राजयुग से ही ईश्वर के प्रति आस्था, निष्ठा स्थापित करके क्लेश-मुक्ति के लिए उपदेश देते रहे। परोपकार, असंग्रह का उपदेश देते रहे हैं। ऐसे लोगों को हम गुरु, तपस्वी, संत, यति आदि मान कर सम्मान करते रहे है । आम जनता आस्थापूर्वक इनके लिए वस्तु अर्पित करती रही है। ऐसे लोगों को एक वर्ग के रूप में पहचाना जा सकता है। ऐसे महापुरुषों का अध्ययन करने पर पता लगता है कि इनमें से कुछ लोगों को वस्तु संग्रह करना आसान हो गया है अथवा ये लोग वस्तुओं का

संग्रह कर चुके है। पहले ये मेधावी व्यक्ति अपने तप, योग, अभ्यास, स्वाध्याय से, प्रभावशाली प्रवचनों और उपदेशों से, परोपकारी कार्यों से मनोकामना पूर्ण होने का आश्वासन देने में अग्रणी रहे। ये सब गौरव, सम्मान आदर के पात्र रहे हैं।

पहले चार समुदायों के संदर्भ में विश्लेषण पूर्वक उनकी स्थिति स्पष्ट की जा चुकी है। इनके अतिरिक्त लोगों को हम आम जनता कहते है। जिनमें पहले, आम जनता में से कुछ लोगों के पास सर्वकालीन उत्पादन कार्य हाथ में है। दूसरे कुछ लोगों के पास अर्धकालीन उत्पादन कार्य हाथ में हैं। तीसरे कुछ लोगों के पास अल्पकालीन उत्पादन कार्य हाथ में हैं। चौथे कुछ लोगों के पास कोई भी उत्पादन कार्य हाथ में नहीं है। इन चार स्वरुपों में दिखने वाली आम जनता में से उत्पादन कार्य शून्य समुदाय द्वारा अंशकालीन, अर्धकालीन या पूर्णकालीन उत्पादन कार्य आज की तिथि में धनोपार्जन कार्य की ओर गतिशील होना पाया जा रहा है। इसी प्रकार अंशकालीन उत्पादन कार्य अथवा धनोपार्जन कार्य अथवा अर्धकालीन उत्पादन कार्य अथवा धनोपार्जन कार्य जिन जिन समुदायों के हाथ में है, वे पूर्णकालीन धनोपार्जन कार्य में व्यस्त होने के लिए गतिशील है। पूर्णकालीन उत्पादन कार्य अथवा धनोपार्जन कार्य जिनके पास है वे संग्रह कार्य में संलग्न होते दिखाई पड़ रहे हैं।

अभी तक के मानव के संपूर्ण इतिहास में अर्थोपार्जन और संग्रह एक प्रधान कार्य सा, लक्ष्य सा और उपलब्धि सा दिखाई पड़ता है। इसी आधार पर नेतृत्व करने वालों को देखने पर अभी तक राजनेता और धर्मनेता ही मानव समाज में दृष्टिगोचर हुए हैं। इनकी सफलता और असफलता का आधार भी एक ही है, वह है वस्तु संग्रह। इस प्रकार सफल राजनेता वही है जो सर्वाधिक धन संग्रह करते है और आम जनता को कड़ी मेहनत का पाठ पढ़ाते हैं। इसी के साथ धन संग्रह न करने की सफाई प्रस्तुत करते ही रहते हैं। दूसरे जो धर्म नेता होते है वे भी अपार धन संग्रह करते है तो भी इन लोगों के प्रति संसार के आम लोगों की आस्था बनी रहती हैं। ये लोगों को त्याग और वैराग्य का पाठ पढ़ाते रहते हैं। स्वयं अपने को परोपकारी, त्यागी और असंग्रही घोषित करते रहते हैं।

(6) राजनैतिक इतिहास

शक्ति केन्द्रित शासन के एकाधिकार, उसकी अक्षुण्णता को, उसकी एकता-अखण्डता और प्रभाव को "राज्य" माना। ऐसे एकाधिकार तत्व को पहचानने गए तब मूल में "ईश्वर ही सर्वशक्ति केन्द्रित सत्ता है"- ऐसा मान लिया गया। फलस्वरुप ईश्वर को सर्वशक्तिमान नाम भी दिया गया।

जब ईश्वर को पहचाने जाने की बात आई, तब ईश्वर को मानव द्वारा पहचानना संभव नहीं हुआ क्योंकि मानव एक बहुत छोटी चीज और ईश्वर एक बहुत बड़ी चीज है। तब एक युक्ति निकल आई - वह यह कि ईश्वरीय महिमा अनुग्रह और निग्रह के रूप में है इसको हर व्यक्ति पहचान सकता है। इस प्रकार के आश्वासन को तत्कालीन विद्वानों ने तैयार किया। साथ ही लोक मानव में यह विश्वास भी स्थापित किया कि राजा ईश्वर का अवतार होता है और वह कभी गलती नहीं करता।

इसी के साथ यह उपदेश भी दिया कि राजा, गुरु, ऋषि क्या करते है, यह मत देखो ये क्या कहते है उनको सुनो, यह उपदेश का एक तरीका स्थापित किया । इसी के आधार पर पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक की परिकल्पना और कथाओं को बताया गया। पाप और नरक के प्रति भय और पुण्य व स्वर्ग के प्रति प्रलोभन स्थापित करने के लिए परिकथाएँ निर्मित हुई।

इसी आधार पर दान व परोपकार आदि के रूप में पुण्य करने के लिए उपदेश दिया गया। इसमें प्रधानत: ईश्वर को रिझाने के लिए सब पुण्य कर्म बताए गये जैसे - नमन करना, पूजा करना, प्रार्थना करना। हवा, पानी, धरती, सूरज, चाँद-तारे ये सब ईश्वर की महिमा है। इसलिए ये सब पूजा के योग्य हैं। इस प्रकार पूजा के लिए बहुत सारे आधार बनते गये। इसके आधार पर आम जनता को पुण्यार्जन का मार्ग दिखाया। पाप से मुक्ति, ईश्वर कृपा से ही होने का आश्वासन दिया। राजा को ईश्वर का अवतार होना बताया गया। राजा का सम्मान और गौरव ईश्वर की पूजा है, ऐसा बताया गया। ईश्वर की कृपा प्राप्त करने के लिए राजाज्ञा का पालन करना भी पुण्य कर्मों में गण्य बताया गया। गुरु की आज्ञा, उपदेश का पालन, शिक्षा ग्रहण ये सब पुण्य के साक्षात स्वरुप ही कहे गये। अर्थात् इन्हें पुण्य का प्रमाण माना गया।

इस प्रकार से पुण्य के लिए बताये गये अथवा पुण्य मिलने के लिए जो तरीके बताये गए उसका पालन करने वाले को पुण्यात्मा मान लिया गया। इसके विपरीत जो कुछ भी किया उनको पापात्मा मान लिया गया। इसी के आधार पर धार्मिक दंडनीति तैयार हुई। पाप का दण्ड, दमन, प्रायश्चित बताए गए। धर्मार्जन कार्यों में लगे रहना ही सदाचरण माना गया। इसी क्रम में समुदाय गत कार्यकलापों के आधार पर जो-जो धर्म-कर्म करते रहे है उनके लिए पाप-पुण्य के आधार पर सुधर्मो को बताया गया।

इस प्रकार प्रत्येक संविधान में अर्थात् राज्यकाल में अर्थात् कबीला युग, ग्राम युग में अंतरित होने के समय में विभिन्न समुदायों के बीच में संविधान बने और स्थापित हुए। कुछ लिखित और कुछ अलिखित, दोनों प्रकार के संविधान चलते आये। ईश्वर राजा और गुरु के प्रति आस्था और निष्ठा स्थापित करना ही प्रधान कार्य रहा।

पाप-पुण्य के आधार पर दण्ड और न्याय निर्णय करने का अधिकार राजा अथवा राजा से अधिकृत व्यक्तियों को रहा। इस क्रम में संविधानों में यह भी देखने को मिला बहिष्कार को भी एक दण्ड के रूप में प्रयोग किया गया। रहस्यमय पुण्य घटनाक्रम में दिखने वाले अपराधों के आधार पर धार्मिक राजनीति की स्थापनाएँ हुई। ऐसी स्थापनाएँ इस धरती पर कई समुदायों के बीच हुई। आज भी विभिन्न समुदायों के बीच भिन्नता सहित संविधानों का स्वरुप देखने को मिलता है।

धार्मिक राजनीति के काल में ही दास युग की स्थापना हुई। इसमें ईश्वर के प्रति दासता, गुरु के प्रति दासता और राजा के प्रति दासता को स्वीकारने की परंपरा बनी। इसी दासता को दूसरी भाषा में समर्पण कहा गया। उसके फलस्वरुप अधिकांश मानव जाति सशंकित, आतंकित रही।

क्रमागत विधि से मानव मानस के परिवर्तनों के आधार पर मानव से घटित होने वाली घटनाएँ बदलती भी रही। जैसे सत्ता परिवर्तन, वस्तु संचय का परिवर्तन, अपहरण, लूट, उपकार, द्रोह-विद्रोह, युद्ध, व्यापार, शिक्षा, व्यवस्था तंत्र, संस्कार तंत्र, विपन्नता से संपन्नता की ओर बढ़ने के क्रम में हर परिवार व हर व्यक्ति प्रयत्न करता ही आया।

अनुमानत: दो सौ वर्ष पूर्व विज्ञान युग या भौतिकवादी युग आरंभ हुआ। विज्ञान का विरोध धर्मतंत्र ने जमकर किया। अंततोगत्वा वैज्ञानिकों ने राजगद्दी को अपने पक्ष में कर लिया। इस आधार पर कि राजा को सदा ही युद्ध से जूझने की आवश्यकता पड़ी। धर्म के सहारे युद्ध भय से राहत मिलना संभव नहीं रहा। इसके विपरीत यह मान लिया गया कि धर्म का संरक्षण युद्ध में कुशल होने पर होगा। कुछ धर्म वाले अथवा कुछ धार्मिक राज्य वाले धर्म संरक्षण के लिए युद्ध को प्रधान कार्यक्रम मान लिये थे। इन्हीं आधारों पर तत्कालीन राजगद्दी वाले विज्ञान के द्वारा समर शक्ति पैनी होगी इस संभावना पर विश्वास किए। फलस्वरुप विज्ञान को राज्याश्रय मिलना आरंभ हुआ। आज भी सर्वाधिक समर शक्ति संपन्न देशों को ही विकसित देश मानते हैं। यही आज के मूल्यांकन का आधार है। इस जगह को आज विश्व संघ या राष्ट्रसंघ कह रहे हैं। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आज तक मूल्यांकन किसी देश की समर शक्ति संपन्नता और वस्तु संग्रह के आधार पर ही किया जाता है।

राजनैतिक इतिहास में उल्लेखनीय बात यह है कि सबसे पहले ईश्वर को सर्वशक्तिमान मानते हुए शक्ति केन्द्रित शासन की कल्पना दी गई। तत्कालीन तथाकथित ज्ञानियों, बुद्धिजीवियों से ऐसा ही करना बन पाया। इस परिकल्पना का मूल रूप "ईश्वर स्वयं रहस्य ही रहा।" ऐसी रहस्यमयी मान्यता का आधार केवल मानव की कल्पनाशीलता व कर्म स्वतंत्रता ही रही। रहस्यमय ईश्वर और मानव की कल्पनाशीलता

के साथ आस्था सूत्र को मिलाकर संपूर्ण ताना-बाना बन गया। इससे मानव कुल दुविधाओं का सामना करता ही आया।

दूसरा, जैसे ही विज्ञान युग आया पुण्य से स्वर्ग में मिलने वाली वर्णित सभी प्रकार के पुण्य भोग गली-गली में, बाजारों में, प्रासादों में, भवनों में, झोपड़ियों में, मैदानों और सड़कों में खुले आम मिलने लगा। पहले से पुण्य भोग के रूप में भोग लिप्सा को पैदा किये ही थे। इस भूमिका को सभी प्रकार के धर्म ग्रन्थों ने पूरा कर लिया था; इसलिए इंतजार के बिना (अर्थात् मरने के बाद स्वर्ग में बढ़िया विविध भोग मिलेंगे तब तक इंतजार करो) तत्काल नगद मिलने वाले भोगों के प्रति लोक मानस लपककर उत्सुक हुआ। इसमें यह भी पहलू उभर आया कि जितनी बातों के लिए धार्मिक राजनीति में मना किया गया और उसे 'पाप' कहा गया जैसे चोरी-बदमाशी, लूट-खसोट, शोषण-संग्रह, इसी 'पाप' को करने वाले विज्ञान युग में सभी भोगों को नगद पा लिए।

आज की स्थिति यही है कि परस्पर सभी संबंधों में धन को प्रधान मान लिया गया। फलत: धन के लिए प्रयास देखा जा रहा है। यह भी देखने को मिला कि शुद्ध पानी व शुद्ध हवा के लिए भी पैसा चाहिए। इस प्रकार शरीर यात्रा के हर पहलू में पैसा प्रधान हो गया। फलस्वरुप सभी प्रकार के राजतंत्र आर्थिक राजनीति में अन्तरित हो गये।

इस संघर्ष युग में "धार्मिक राजनीति" का पराभव हुआ और "आर्थिक राजनीति" की पराकाष्ठा हुई। इसमें एक और निष्कर्ष निकल कर आता है कि इस आर्थिक राजनीति संघर्ष युग और गणतंत्र प्रणाली के चलते शासन की संभावनाएँ टूट चुकी हैं। शासन की बुनियाद रहस्यमय होने से, राजगद्दी में बैठे हुए व्यक्ति के रहस्योद्घाटन हो जाने से ईश्वर स्वयं न तो किसी को मारने दौड़ता है न ही बचाने दौड़ता है - यह स्पष्ट हो जाने से तथा हर व्यक्ति संग्रह का उमीदवार होने से शासन की बुनियाद ही हिल चुकी हैं। अस्तु, इसका विकल्प समाधान युग का आरंभ होना है, जो स्वयं व्यवस्था के रूप में पल्लवित, पुष्पित व फलित होगा ही।

(7) धार्मिक इतिहास

विगत के अवलोकन से यह पता चलता है कि राजगद्दी के साथ धर्मगद्दी और धर्मगद्दी के साथ राजगद्दी ओत-प्रोत रहे है तथा एक-दूसरे के साथ शासन और नीति के आधार पर तालमेल बनाये रखने के मौलिक प्रयास रहे है यह लिखित इतिहासों से स्पष्ट होता है ।

धर्म का मूल तत्व ईश्वर, आत्मा, ईश्वर वाक्य, ईश्वर आज्ञा है- ऐसा माना गया है । जबकि ईश्वर अभी तक रहस्यमय है अथवा रहस्य में छुपा हुआ है। ये सब ईश्वर आज्ञाएँ ईश्वरवाणी के रूप में, कितने ही मूल ग्रंथों में, पावन ग्रंथों में, कितने ही समुदायों में माना गया हैं। जितने भी प्रकार की ईश्वर वाणियाँ अनेकानेक ग्रंथों में है; वे सब एक रूप, एक अर्थ प्रतिपादित करने वाले नहीं हैं। इस कारण कोई पावन ग्रंथ सार्वभौम नहीं हो पाया। कोई भी ऐसा पावन ग्रंथ अध्यवसायिक विधि से अर्थात् रहस्य विहीन यर्थाथता, सत्यता, वास्तविकता पूर्ण पद्धति, प्रणाली, नीति सम्मत विधि से उसे अध्ययनगम्य नहीं करा पाया।

पहले ही ईश्वर रहस्यमय रहा। रहस्य पर आधारित सभी पावन ग्रंथ एक-दूसरे से असहमत हुए। फलस्वरुप वाद विवाद हुआ जिसकी अंतिम परिणति झगड़ा और युद्ध के रूप में हुई। युद्ध के लिए राजाश्रय की आवश्यकता रहा। इस प्रकार पावन ग्रंथ रुपी धर्म-संविधान भी वाद-विवाद का केन्द्र बना। हर आदमी किसी न किसी धर्म संविधान और राज्य संविधान में अर्पित होते ही आया। धर्म तथा राज्य संविधान भिन्न भिन्न रहे। इसका फल यही निकला कि हर व्यक्ति दूसरे किसी पावन ग्रंथ को अथवा धर्म संविधान को मानने वाले के साथ वाद विवाद करते रहा। यही एक मात्र धार्मिक कार्य हो गया। इस विधि से हर व्यक्ति अपने-पराये की दीवाल बनाने वाला शिल्पी हो गया।

फलस्वरुप सामान्य जन मानस अपने-पराये की मानसिकता के साथ जीने को बाध्य हुआ। इसी मानसिकता के साथ जब-तब दूसरे धर्म संविधानों को अनुसरण करने वालों के साथ झड़प होते ही रही। आदमी, आदमी को मारने के लिए, वध करने के लिए अपने पराये के आधार पर मानसिकता को तैयार करते आया। आज भी इस प्रकार की घटनाएँ बारबार देखने को मिल रही हैं। इस अपने पराये की दीवाल बनाने के धंधे में सारा राज्य प्रबंध (संविधान), संपूर्ण पावन धर्म संविधान सिमट गया। अब एक ही धंधा सभी समुदायों के साथ बचा है वह है एक दूसरे समुदाय को कैसे मिटाए। इसके अलावा और कोई चिंतन मानव मानस में जीता जागता दिखता नहीं है। इसी के साथ संग्रह भी समाया हैं। विकसित देश की समीक्षा समर शक्ति के आधार पर ही विश्व स्तरीय संस्थाओं में हो चुकी है अब धर्म कहलाने वाले आधारों पर भी मारपीट ही एक मात्र कार्यक्रम रह गया है। इसके लिए भी बहुत सारा धन चाहिए ही। उसके लिए अनेक प्रकार से धन संचय करने का अनुसंधान भी कर लिया गया हैं।

इस अनुसंधान की समीक्षा अर्थात् धन संचय की समीक्षा शोषण, द्रोह, लूट-खसोट की चौखट में स्पष्ट है। यह तो सिद्धांत ही है कि किसी का शोषण किये बिना धन संचय नहीं होता। इस क्रम में मानव अपनी संपूर्ण शक्तियों अर्थात् कल्पनाशीलता, कर्म स्वतंत्रता, विचारशीलता जैसी मौलिक शक्तियों को दाँव पर लगा चुका है। यह मौलिक इस प्रकार से है कि केवल मानव में ही कर्मस्वतंत्रता कल्पनाशीलता और

विचारशीलता पाई जाती हैं। तथा प्रत्येक मानव व्यवहार प्रयोग में इसे प्रमाणित करता है। और किसी अवस्था में अर्थात् पदार्थावस्था, प्राणावस्था व जीवावस्था में ऐसे प्रयोग व्यवहार नहीं दिख पड़ते हैं। इसीलिए मानव में यह प्रमाणित होना मौलिक है। इस प्रमाण से मानव में अक्षय शक्ति का होना प्रमाणित होता है।

आर्थिक और राजनैतिक संचेतना के आधार पर मानव संघर्षशील है ही। धार्मिक चेतना अर्थात् धार्मिक ज्ञान अथवा धर्म कहलाने वाले ज्ञान कम से कम कल्पनाशीलता और विचारशीलता के रूप में कर्म स्वतंत्रता के आधार पर जितना और जैसा प्रमाणित होता है, उतने के आधार पर धर्म कहलाने वाले सभी मुद्दे संघर्ष में घिर आए। स्पष्ट भाषा में सभी प्रकार के धर्म कहलाने वाले सभी मुद्दे संघर्ष के गिरफ्त में हो गए। अर्थात् सभी प्रकार के धार्मिक कहलाने वाले मानव अथवा विविध प्रकार के धर्म का नाम लेने वाले मानव संघर्ष के लिए बाध्य हो गये। सभी धर्मों के मूल में प्रतिपादित पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक से आस्था घट गई। साथ ही संघर्ष और भोग लिप्सा प्रजवलित होती ही गई। इन्हीं कारणों से संघर्ष को अपनाया गया। आज की स्थिति में तथाकथित धर्म का डूबना एक अनिवार्य स्थिति बन चुकी है।

ध्यान देने का बात यह है कि व्यक्ति के रूप में प्रत्येक मानव सुख शांति चाहता भी है और इसे कहता भी हैं। जब वही आदमी किसी तथाकथित धर्म, संप्रदाय, मत, पंथ, रुढ़ियों के आधार पर बात करता है तब "और अधिक संग्रह" और "भोगवादी कार्यकलाप" के संबंध में जब बोलता है, तब अपने-पराए की दीवाल बनाता ही है। सुख शांति के संबंध में कुछ भी बात करता है, कितनी भी बातें करता है, तब अपने-पराये की दीवाल नहीं बन पाता है। अपितु सुख शांति की अपेक्षा सभी मानवों में है, इसे स्वीकारता है।

ऐतिहासिक विरोधाभास यही है कि सभी धर्म परंपराएँ सुख शांति को ध्यान में रखते हुए धर्म परंपराओं को आरंभ करती हैं। हर पावन ग्रंथ की यही मंशा है। इतना ही नहीं हर राज्य संविधान की मंशा भी यही है । किसी उस धर्म और राज्य के पक्ष में जिसमें वह समर्पित है जब आदमी बात करता है तब विरोधात्मक दीवाल चुनता ही है फलत: अपने पराये के भेद बन ही जाते है। जबकि व्यक्ति कोई पावन ग्रंथ नहीं हैं। सामान्य व्यक्ति के रूप में जब वह प्रस्तुत होता है तब उनको सुख शांति की आवश्यकता सभी मानवों में समान रूप में दिखाई पड़ती है। इससे स्पष्ट होता है कि धर्म ग्रंथों के प्रभाव के बिना जब मानव होता है तब उनकी कल्पनाशीलता और विचारशीलता विशालता की ओर दौड़ती दिखाई पड़ती है। वही व्यक्ति जब किसी धार्मिक ग्रंथ के दायरे में आ जाता है तब उसी व्यक्ति में पाई जाने वाली कल्पनाशीलता और विचारशीलता संकीर्ण होते हुए देखने को मिलती है।

इस तथ्य के आधार पर विश्व मानव ऐसा एक सद्बुद्धि का प्रयोग कर सकता है मानव सहज अपेक्षा रुपी सुख शांति सबके लिए सुलभ हो ऐसा निश्चय कर सकता है। तब विविध समुदायों में मान्य, सभी पावन ग्रंथों को सार्वभौम लक्ष्य के आधार पर पुनर्विचार कर सकता है।

सुख-शांति के प्रमाण है समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व। इस आधार पर सुख-शांति को पहचान सकते है और मूल्याँकन कर सकते हैं। इस विधि से देखें तब संभव है कि सब में एक सामरस्यात्मक सूत्र निकल जाये। यदि नहीं निकलता है तब अस्तित्व को परम सत्य के रूप में स्वीकारते हुए- मानव चिंतन करने वाला है - सुख शांति को जानने मानने वाला है- यह स्वीकार करते हुए- अनुसंधान कर सकते है। ऐसा अनुसंधान मैंने किया है। इसी के आधार पर कि अस्तित्व परम सत्य है व मानव दृष्टा, ज्ञाता व कर्त्ता-भोक्ता है। सहअस्तित्व दर्शन और उसका अध्ययन सुलभ हो गया है।

मानव, शरीर और जीवन के संयुक्त साकार रूप में है। जीवन का अध्ययन जीवन स्वयं करता है अर्थात् मानव करता है। जीवन ही जीवन का दृष्टा है, जीवन ही अस्तित्व में दृष्टा है और जीवन ही शरीर का दृष्टा है। इस तथ्य को जीवन ज्ञान से जानना मानना संभव हो गया है। इसलिए जीवन ज्ञान परम ज्ञान है।

सहअस्तित्व दर्शन ही परम दर्शन है। इन दोनों के योगफल में मानवत्व सहित मानव अपने में व्यवस्था है और समग्र व्यवस्था में भागीदार है- इसका प्रमाण हृदयंगम होता हैं। इसलिए मानवीयतापूर्ण आचरण ही परिपूर्ण आचरण हैं। यह अध्ययन सुलभ हो चुका हैं। इससे हम संघर्ष युग से समाधान युग में संक्रमित होने की सहज दिशा, मार्ग, प्रक्रिया, पद्धति, नीति और प्रणाली पा सकते हैं। सभी मानवों को इसे (मानवीयता) जानने, मानने और पहचानने का अधिकार है- यही इसे मानव में स्थापित करता है। इसका परीक्षण किया जा सकता है।

सहअस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिंतन ज्ञान "मध्यस्थ दर्शन" के रूप में प्रस्तुत हैं। "अस्तित्व स्वयं सहअस्तित्व है" यह प्रतिपादित और विश्लेषित है, फलस्वरुप सहअस्तित्ववाद अपने आप अभिव्यक्त और संप्रेषित हुआ है। सहअस्तित्ववाद ही मानव वाद है। मानववाद ही मूलत: मानव में, से, के लिए सार्थक है और सहज है। मानव की सार्थकता व्यवहार में प्रमाणित होना ही सार्वभौमिकता का आधार है।

मानव मूलत: परिवार मानव हैं। अकेले में कोई कार्य और कार्य योजना नहीं बन पाती है। मानव के लिए मानव और मनुष्येत्तर प्रकृति नैसर्गिकता और वातावरण है। इतना ही नहीं, "अस्तित्व ही सत्ता में संपृक्त प्रकृति के रूप में सहअस्तित्व है और नित्य वर्तमान है।" इन्हीं तथ्यों के आधार पर समाधानात्मक भौतिकवाद, व्यवहारात्मक जनवाद और अनुभवात्मक अध्यात्मवाद मानवकुल के लिए अर्पित हुआ है।

मानव सहज रूप में ही प्रयोग, व्यवहार और अनुभव रुपी प्रमाणों के साथ जीना चाहता है। सर्वतोमुखी समाधान पाना चाहता है अर्थात् विविध आयाम, कोण, दिशा, परिप्रेक्ष्य, देशकाल में समाधान पाना चाहता है। इस आश्य की पुष्टि प्रत्येक मानव में सभी देश काल में प्रकारान्तर से होती है। इसलिए द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के स्थान पर समाधानात्मक भौतिकवाद को मानव के सम्मुख प्रस्तावित किया। विश्वास है- मानव कुल अपनावेगा। इसे अपने ही स्वत्व के रूप में पहचानेगा, स्वीकारेगा और प्रयोजनशील हो जाएगा।

अध्याय - 3

समाधानात्मक भौतिकवाद

परिभाषा :-

(क) **समाधान :-** संपूर्णता और पूर्णता के अर्थ में प्रमाणपूत अवधारणा सहित प्रमाण।

अवधारणा का तात्पर्य :- जान लिया, मान लिया तथा पहचान चुके हैं। यही अवधारणा है। अस्तित्व सहज संपूर्णता का तात्पर्य सत्ता में संपृक्त प्रकृति से है और इकाई सहज संपूर्णता का तात्पर्य इकाई अपने वातावरण सहित संपूर्ण होने से है।

पूर्णता का तात्पर्य :- अस्तित्व में परमाणु के गठन पूर्णता (जीवन पद), क्रिया पूर्णता, आचरण पूर्णता और इन तीनों की निरंतरता है । इन्हीं के लिए आवश्यकीय विकास व जागृति के रूप में प्राप्त ज्ञान, दर्शन व आचरण है। यही पूर्णता अवधारणा का आधार और ध्रुव है। इसे सार्थक तथा चरितार्थ करने के लिए जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान तथा मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान लक्ष्य है। इस प्रकार पूर्णता के अर्थ में अवधारणा का आधार और लक्ष्य स्पष्ट है।

(ख) **पदार्थवस्था :-** सहअस्तित्व सहज वस्तुओं में से प्रकृति की भौतिक और रासायनिक वस्तुओं को जानने, मानने, पहचानने और निर्वाह करने के क्रम में भाषा शैली सहित संप्रेषित करना। वस्तु बोध होने का तात्पर्य वास्तविकता जिन जिन में प्रकाशित है और वर्तमान है। जो जैसा है वह उसकी वास्तविकता है। इस प्रकार अस्तित्व में निम्नलिखित वस्तुएँ है -

1. व्यापक रूप में नित्य वर्तमान “सत्ता” एक अखण्ड वस्तु है क्योंकि इसकी वास्तविकता, पारदर्शीयता, पारगामीयता, व्यापकता दृष्टव्य है।
2. सत्ता में संपृक्त जड़ व चैतन्य प्रकृति, वस्तुओं के रूप में नित्य वर्तमान है।
3. सत्ता में संपृक्त जड़-चैतन्य प्रकृति में से जड़ प्रकृति, रासायनिक-भौतिक रचना-विरचना में कार्यरत नित्य वर्तमान है। जो पदार्थावस्था और प्राणावस्था के रूप में गण्य है। पदार्थावस्था का स्वरुप और कार्य विभिन्न प्रकार के परमाणु और उनसे बनी रचनाऐं हैं। प्राणावस्था का प्रधान स्वरुप और कार्य प्राणकोषा और ऐसी कोषाओं से रचित रचनाऐं हैं। प्राणावस्था सभी अन्न, वनस्पतियों, जीव शरीरों और मानव शरीरों के रूप में दृष्टव्य है।

4. सत्ता में संपृक्त जड़-चैतन्य प्रकृति में से चैतन्य प्रकृति गठनपूर्ण परमाणु है। जिसका परिणाम के अमरत्व सहित, जीवन पद में संक्रमित रहना पाया जाता है।

वक्तव्य :-

1) अध्ययन करने की संपूर्ण वस्तु सहअस्तित्व ही है।

2) अध्ययन करने वाली वस्तु मानव है।

3) प्रत्येक मानव जड़-चैतन्य प्रकृति के संयुक्त साकार रूप में है। चैतन्य प्रकृति का नाम जीवन है। जड़ प्रकृति का नाम शरीर है।

अध्याय - 4

अस्तित्व एवं अस्तित्व में परमाणु का विकास

अस्तित्व को अनादि काल से मानव स्पष्ट और प्रमाण रूप में समझने का प्रयास करता रहा है। इसी क्रम में अधिभौतिकवादी विचारों के अनुसार चेतना से पदार्थ की उत्पत्ति होती है ऐसा माना जाता है।

भौतिकवादी विचारों के अनुसार पदार्थ से चेतना निष्पन्न होती है।

ये दोनों विचारधारायें अपने-अपने समर्थन के लिए अनेकानेक तर्कों, अभ्यासों और प्रयोगों को प्रस्तावित करते रहे। अभी तक न तो किसी ने चेतना से पदार्थ को पैदा होते हुए देखा तथा न ही पदार्थ से चेतना पैदा होते हुए देखने को मिला। यही देखने को मिलता है कि चेतना व पदार्थ अविभाज्य वर्तमान है। इसके मूल रूप को देखने से पता चलता है कि सत्ता (चेतना) में संपृक्त प्रकृति (पदार्थ) ही अस्तित्व सर्वस्व है। यहाँ देखने का तात्पर्य समझने से है। सत्ता में संपृक्त प्रकृति अविभाज्य वर्तमान होने के कारण अस्तित्व स्वयं सहअस्तित्व के रूप में नित्य प्रकाशित है। इस तथ्य को हृदयंगम करने पर स्पष्ट हो जाता है कि चेतना और पदार्थ में नित्य सामरस्यता त्रिकालाबाध सत्य है।

सत्ता अरूप है, व्यापक है और सत्ता में प्रकृति रूप गुण स्वभाव धर्म संपन्न है और अविभाज्य है । ऐसा कोई स्थान ही नहीं जहाँ सत्ता न हो, इसलिए प्रकृति का सत्ता में होना स्वाभाविक है। सत्ता को साम्य ऊर्जा, शून्य, ज्ञान, चेतना, व्यापक, नित्य, ईश्वर और निरपेक्ष ऊर्जा के नाम से भी जाना जाता है। सत्ता में संपृक्त प्रकृति अनन्त इकाईयों के रूप में है। प्रत्येक इकाई सत्ता में संपृक्त होने के कारण सत्ता में घिरी हुई, डूबी हुई और भीगी हुई है।

सत्ता व्यापक रूपी किसी लंबाई चौड़ाई में सीमित नहीं है, इसका कोई मापदण्ड नहीं बन पाता, इसलिए सत्ता व्यापक है। प्रकृति रूप में जितनी भी इकाईयाँ है उन सबकी गणना नहीं हो पाती इसलिए वे अनंत है इस प्रकार अस्तित्व स्वयं व्यापक और अनन्त है।

सत्ता अरूपात्मक और सत्ता में प्रकृति रूपात्मक अस्तित्व है। अस्तित्व का तात्पर्य होने से और अविनाशिता से है। सत्ता गति और दबाव विहीन स्थिति में है। जबकि सत्ता में ही संपूर्ण प्रकृति गति और दबाव सहित विद्यमान है। दबाव अर्थात् वातावरण वश (परस्परता वश) आकर्षण विकर्षण के लिए बाध्यता। सत्ता

अरूपात्मक होने के कारण आयामों में सीमित नहीं है जबकि सत्ता में संपृक्त प्रकृति अनन्त इकाईयों का समूह है। साथ ही प्रत्येक इकाई आयामों सहित छ: ओर से सीमित है।

अस्तित्व सहअस्तित्व होने के कारण पूरकता और पहचान नित्य सिद्ध होती है। जो है, वह निरंतर रहता ही है और जो था नहीं वह होता नहीं। इसी कारणवश अस्तित्व जैसा है, वह अनन्त काल तक वैसा रहेगा ही। इसी सत्यतावश सत्ता में संपृक्त प्रकृति की प्रत्येक इकाई अस्तित्व में परस्परता को पहचानने के रूप में व्यवहृत है, क्योंकि प्रत्येक इकाई में रूप, गुण, स्वभाव और धर्म अविभाज्य वर्तमान है। सत्ता में प्रकृति संपृक्त होने के कारण प्रत्येक इकाई अस्तित्व धर्म सहित होता है, इसका साक्षी ही है किसी इकाई का नाश न होना। जो कुछ भी होता है वह केवल परिवर्तन और विकास ही है। धर्म का तात्पर्य जिससे जिसका विलगीकरण न हो। अस्तित्व स्वयं सहअस्तित्व होने के कारण यही परम धर्म का रूप है। अस्तित्व स्वयं संपूर्ण भाव होने के कारण प्रत्येक इकाई में भाव संपन्नता देखने को मिलती है। मूलत: सहअस्तित्व ही परमभाव होने के कारण अस्तित्व ही परमधर्म हुआ। इस प्रकार भाव और इकाई अविभाज्य वर्तमान है। सहअस्तित्व ही अस्तित्व का स्वरुप होने के कारण संपूर्ण भाव (मूल्य) परस्परता में पूरकता, पहचान, व्यंजना है और अभिव्यक्ति रूप में आदान-प्रदान है। संपूर्ण भाव का तात्पर्य प्रत्येक पद और अवस्था में स्थित इकाईयों की मौलिकता से है। मौलिकता का तात्पर्य मूल्य से है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि परमधर्म (अस्तित्व) प्रत्येक इकाई में समान है इसीलिए यह सार्वभौम और शाश्वत है । मूल्यों का ही आदान-प्रदान और पहचान होती है, क्योंकि परस्परता में ही पूरकता, पहचान और व्यंजनायें होती हैं। साथ ही प्रत्येक व्यंजना व्याख्यायित होने योग्य घटना है। इकाई की मौलिकता (मूल्य) नित्य वर्तमान होने के कारण नियन्त्रित, संरक्षित व सार्वभौम है।

सहअस्तित्व में परस्परता स्वभाव सिद्ध होने के कारण पूरकता और पहचान आदान-प्रदान के रूप में होना अनवरत स्थिति है। अस्तित्व ही सत्य है। सत्य ही स्थिति सत्य, वस्तु स्थिति सत्य, वस्तुगत सत्य की स्थिति में अध्ययनगम्य है। सहअस्तित्व में अध्ययन पूर्वक आदान-प्रदान का जो प्रवाह है, उसे देखने पर पता चलता है कि सत्ता में संपृक्त प्रकृति ही प्रधान (अथवा संपूर्ण) अध्ययन की वस्तु बन जाती है । स्थिति पूर्ण सत्ता में संपृक्त प्रकृति स्थितिशील दिखाई पड़ती है। स्थिति पूर्ण सत्ता में संपृक्त प्रकृति उसके अनन्त इकाईत्व के स्वरुपवश पहचानने में आती है। इसी क्रम में प्रत्येक इकाई दूसरी इकाई को पहचानने की व्यवस्था अस्तित्व में प्रकाशित हुई। स्थिति पूर्ण सत्ता में संपृक्त प्रकृति का पूर्ण में गर्भित होने का तात्पर्य है कि पूर्णता का अभीष्ट अथवा ऐसे अभीष्ट का मूल रूप समाये रहना। इसी सत्यतावश प्रत्येक इकाई पूर्णता के अर्थ में होने के लिए एक अनिवार्य स्थिति हुई। इसी क्रम में संपूर्ण इकाई का विकास की ओर

उन्मुख होना स्वभाविक हुआ। फलस्वरुप, परस्परता में पहचान सहित आदान-प्रदान होना एक स्वाभाविक स्थिति हुई।

स्थितिशील प्रकृति की परस्परता में पूर्णता और अपूर्णता की स्थिति इस प्रकार स्पष्ट होती है कि स्थितिपूर्ण सत्ता में स्थितिशील प्रकृति अनन्त इकाईयों का समूह होने के कारण परस्परता एक अपरिहार्य स्थिति है। पूर्ण में गर्भित प्रत्येक इकाई पूर्णता के लिए ही क्रियाशील एवं विकासशील है।

स्थितिपूर्ण सत्ता में संपृक्त प्रकृति सत्ता में अनुभव पर्यन्त विकास और जागृति के लिए प्रवर्त्त है। विकास का तात्पर्य गठनपूर्णता, क्रियापूर्णता और आचरणपूर्णता और उसकी निरन्तरता से है। जागृति का तात्पर्य समाधान एवं प्रामाणिकता से है। इकाई में नियम और उसकी निरन्तरता इस तथ्य से स्पष्ट है कि इकाई में नियंत्रण और उसकी महिमा स्पष्ट होती हैं। यह इकाई + वातावरण = इकाई संपूर्ण रूप में है। यही उसकी निरन्तरता का द्योतक है।

"पूर्णता के अर्थ में अपूर्णता स्पष्ट है।" क्योंकि सह -अस्तित्व में परस्पर उपयोगिता पूरकता है। यह पूरकता पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था एवं ज्ञानावस्था में प्रकाशित है। ज्ञानावस्था में मानव ही गण्य होता है। मानव जड़-चैतन्य का संयुक्त साकार रूप होने के कारण एवं ज्ञानावस्था के पद में होने के कारण कर्म करते समय स्वतंत्र, फल भोगते समय परतन्त्र होने की व्यवस्था उनमें ही समाहित है।

विकास और जागृति क्रम में स्वतंत्रता एक मौलिक प्रकाशन है। स्वतंत्रता के लिए इकाई इसीलिए प्रवर्त होती गयी कि वातावरण और नैसर्गिकता के योगफल से प्रवर्तन होना एक अनिवार्य स्थिति रही। इसी क्रम में पूर्णता का अभीष्ट इकाई में होना एक शाश्वत स्थिति रही है इसलिए पूर्णता क्रम में विकास स्पष्ट हैं। विकास का पहला चरण अथवा पूर्णता का पहला चरण गठनपूर्णता है। ऐसी गठनपूर्ण इकाई जीवावस्था में केवल जीने की आशा से कार्यरत रही है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पूर्णता के अर्थ में विकासक्रम अस्तित्व में नित्य वर्तमान और स्पष्ट है। पूर्णता का दूसरा चरण क्रियापूर्णता के रूप में ज्ञानावस्था का मानव अपने त्व सहित व्यवस्था के रूप में समाधान और पूर्णता का तीसरा चरण आचरणपूर्णता अर्थात् प्रामाणिकता के रूप में सर्वाधिक उपकार प्रमाणित होना चिरकालीन अपेक्षा है। यह जड़-चैतन्य के सहअस्तित्व में ही सार्थक होना पाया गया और यह समझ में आता है।

रूपात्मक अस्तित्व :-

प्रकृति की मूल इकाई परमाणु है। क्योंकि परमाणु में ही विकास होता है। प्रत्येक परमाणु गठनपूर्वक परमाणु है । प्रत्येक गठन में एक से अधिक परमाणु अंशों का होना अनिवार्य है। परमाणु के पूर्व रूप

(परमाणु अंश) में विकास होता नहीं है। परमाणु के पररुप (अणु) रचनाएँ विकास की लाक्षणिकता को प्रकाशित करते है, परन्तु विकास नहीं होता है, क्योंकि विकसित इकाई अर्थात् जीवन शरीर रचना के माध्यम से प्रकाशित और संप्रेषित होता है।

विकास के क्रम में ही प्रकृति दो वर्ग व चार अवस्थाओं में प्रकाशमान है। प्रकृति के दो वर्ग जड़ और चैतन्य है। प्रकृति की चार अवस्थाएँ पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था और ज्ञानावस्था है । प्रकृति में पदचक्र और पदमुक्ति का प्रभेद चार प्रकार से है। जैसे- प्राणपद चक्र, भ्रांतिपद चक्र, देवपद चक्र और पदमुक्ति (दिव्यपद या पूर्णपद)। इसी क्रम में अस्तित्व में प्रकृति का विकास और उसका इतिहास नित्य समीचीन है।

अस्तित्व में प्रकृति सहज संपूर्ण वैविध्यताएँ विकासक्रम में प्रकाशित है। यह एक अनवरत क्रिया है। अस्तित्व में विकास क्रम शाश्वत प्रणाली है, क्योंकि अस्तित्व स्वयं सहअस्तित्व होने के कारण परस्पर प्रकृति के आदान-प्रदान एक स्वाभाविक क्रिया है। आदान प्रदान अपनी दोनों स्थितियों में स्वयं व्याख्यायित है। आदान-प्रदान के अनन्तर तुष्टि अथवा स्वभावगति का होना पाया जाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जिस इकाई में आदान होता है उसके उपरान्त स्वभाव गति होती ही है, साथ ही प्रदान जिससे होता है, उसके उपरान्त उसमें भी स्वभाव गति होती हैं। इस विधि से सहअस्तित्व प्रमाणित होता है।

अस्तित्व ही सहअस्तित्व है :-

प्रकृति में वैविध्यता है। वैविध्यता का मूल रूप पदार्थ में अथवा प्रकृति में अनेक स्थितियाँ हैं। प्रकृति में अनेक स्थितियाँ विकास के क्रम में है। अस्तित्व स्वयं सहअस्तित्व होने के कारण प्रकृति की प्रत्येक इकाई की परस्परता में सहअस्तित्व का सूत्र समाया है। (क्योंकि प्रकृति की अनन्त इकाईयाँ परस्परता में आदान-प्रदान रत है।) सहअस्तित्व ही पूरकता का सूत्र व स्वरुप हैं। पूरकता विकास के अर्थ में सार्थक होती हैं। अस्तित्व में विकास एक अनवरत स्थिति है। विकास के क्रम में अनेक पद और स्थितियाँ अस्तित्व में देखने को मिलती है। प्रकृति, पदार्थ के नाम से भी अभिहित होती हैं। पदार्थ का तात्पर्य है कि पदभेद से अर्थभेद को प्रकाशित कर सके अथवा पदभेद से अर्थभेद को प्रकाशित करने वाली वस्तुओं से है। वस्तु का तात्पर्य वास्तविकताओं को प्रकाशित करने योग्य क्षमता संपन्नता से है। इस प्रकार प्रकृति में वस्तु और पदार्थ की अवधारणा स्पष्ट हो जाती है।

अस्तित्व में प्रकृति नित्य क्रियाशील होने के कारण प्रत्येक क्रिया में श्रम, गति, परिणाम अविभाज्य रूप में वर्तमान रहता है। इसी सत्यतावश प्रकृति में परिणाम और विकास स्पष्ट है। विकासक्रम और विकास ही

अस्तित्व में विविधता के रूप में दिखाई पड़ता है। यही स्थिति अध्ययन की मूल वस्तु सिद्ध हो जाती है। अध्ययन करने की क्षमता केवल मानव में ही पायी जाती है। मानव भी अस्तित्व से अभिन्न अथवा अविभाज्य इकाई है। अध्ययन के लिए अस्तित्व से अधिक कोई वस्तु या आधार नहीं है। इसीलिए अस्तित्व में यथार्थता, वास्तविकता और सत्यता के अध्ययन क्रम में निर्भ्रमता होती है।

अस्तित्व में विकास एक अनुस्यूत क्रिया है :-

विकास का मूल स्फूर्ति अथवा स्फुरण सत्ता में संपृक्त प्रकृति में निरन्तर निहित है। "स्व" की अभिव्यक्ति में स्वयं स्फूर्त होना ही "त्व" और वातावरण और नैसर्गिकतावश स्फुरण पूर्वक उपयोगिता-पूरकता स्पष्ट होना एक व्यवहारिक प्रक्रिया है। इसको जड़-चैतन्यात्मक प्रकृति में देखा जाता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि स्वयं से जो शक्तियों को स्वेच्छापूर्वक अथवा स्वप्रेरणा पूर्वक व्यक्त करे वह स्फूर्ति के रूप में गण्य होता है। इसका साक्ष्य है कि प्रत्येक इकाई स्वयं क्रियाशील रहती है।

स्फुरण को इस प्रकार देखा जाता है कि एक बीज को जब नैसर्गिकता में स्थित पाते है तब उसमें अंकुरण होने की क्रिया आरम्भ हो जाती है। बीज होते हुए भी नैसर्गिकता के बिना स्फुरण उसमें नहीं हो पाता। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि स्फुरण नैसर्गिकता के योग से स्वयं में होने वाली क्रिया और स्फूर्ति स्वयं के वैभव को स्वयं प्रेरित पद्धति से अभिव्यक्त करने की क्रिया है। इसका कारण सत्ता में संपृक्त प्रकृति का सत्ता में अनुभव पर्यन्त विकसित जागृत होना ही है। विकास अस्तित्व में निरन्तर प्रकाशमान है। यह चार अवस्थाओं में है प्रथम पदार्थावस्था, द्वितीय प्राणावस्था, तृतीय जीवावस्था, चतुर्थ ज्ञानावस्था।

प्राणावस्था और पदार्थावस्था में विविधताएँ रचना और रासायनिक योग-संयोगों के आधार पर है। ऐसी रासायनिक और भौतिक रचना और स्थिति के मूल में परमाणु में विविधता है। परमाणु की विविधता उसमें समाहित अंशों की संख्या पर आधारित है। इन तथ्यों से यह स्पष्ट हुआ कि रचना और रचनाओं की स्थिति के मूल में रासायनिक एवं भौतिक अथवा तात्विक योग है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सत्ता में संपृक्त ऊर्जामय प्रकृति अपने मूल रूप परमाणु की स्थिति में अनेक तत्व संपन्न है। फलस्वरुप अणु और अणुरचित स्वरुपों में अपने आप में वैविध्यता की व्यवस्था है।

प्राण कोशिकाओं से जीव व मानव शरीर की रचनाएँ हैं। रचनाएँ विकास जैसी लगती है पर विकास नहीं है, क्योंकि जो जिससे बना रहता है वह उससे अधिक नहीं होता। जीवावस्था और ज्ञानावस्था ये जड़-चैतन्य के संयुक्त प्रकाशन है। पदार्थ और प्राणावस्था की रचनाएँ जड़-प्रकृति है। जीवावस्था और ज्ञानावस्था की

प्रकृति जड़-चैतन्य का संयुक्त प्रकृति है। जीव और मानव शरीर की रचना भी वंशानुषंगीयता पूर्वक संपन्न होती है। इसीलिए शरीर जड़-प्रकृति के रूप में स्पष्ट है।

चैतन्य इकाई तात्विक रूप में एक गठनपूर्णता प्राप्त परमाणु है। परमाणु में विकास होने पर रूप परिवर्तन के साथ गुण परिवर्तन होता है। गठनपूर्णता का तात्पर्य परमाणु के गठन में जितने परमाणु अंशों के समाने की अस्तित्व सहज व्यवस्था है, उन सभी परमाणु अंशों के समा जाने से है। गठनपूर्ण स्थिति में उस परमाणु में से न तो कोई परमाणु अंश बढ़ता है और न ही कोई अंश घटता है। इसी सत्यतावश गठनपूर्ण परमाणु में स्थिरता सहित अक्षयशक्ति और बल संपन्नता है। गठनपूर्ण परमाणु (जीवन) में मात्रात्मक परिवर्तन के बिना ही गुणों में परितर्वन होता हैं। यह भ्रम से जागृति पर्यन्त रहता है।

जीव और मानव प्रकृति जड़-चैतन्य का संयुक्त साकार रूप होने के कारण ही है कि जीवन के द्वारा शरीर में जीवन्तता प्रकाशित है। अस्तित्व स्वयं सहअस्तित्व होने के कारण ही प्रकृति परस्पर पूरकता के रूप में नित्य वर्तमान है। यही विकास का प्रधान क्रिया स्वरुप है। इसी क्रम में जड़-चैतन्य का संयुक्त प्रकाशन भी एक स्वाभाविक स्थिति है। यही नियति क्रम व्यवस्था भी है। प्रकृति में प्रत्येक इकाई सहअस्तित्वरत है, क्योंकि अस्तित्व स्वयं सहअस्तित्व है। इसी सत्यतावश जड़-चैतन्य में सहअस्तित्व, (जीवन गठनपूर्ण परमाणु) और रचना (प्राणकोशिकाओं की रचना) में सहअस्तित्व सिद्ध हुआ। सहअस्तित्व नित्य पूरकता के अर्थ में स्पष्ट है। इस प्रकार अस्तित्व ही विकास, विकास ही क्रम, क्रम ही व्यवस्था, व्यवस्था ही स्वयं नियति है।

अधिक शक्ति और बल, कम शक्ति और बल के माध्यम से प्रकाशित होता है, क्योंकि बल और शक्ति की अधिकता क्षयशील और अक्षयशीलता के अर्थ में सार्थक होती है। अक्षयबल और शक्ति प्रत्येक चैतन्य इकाई में समान रूप से विद्यमान है। जबकि जड़ प्रकृति की प्रत्येक इकाई में शक्ति की क्षरणशीलता (परिवर्तनशीलता) स्पष्ट है। इसी सत्यतावश यह सिद्ध हो जाता है कि जड़ प्रकृति की स्थूलता उसकी शक्तियों की क्षरणशीलतावश अनिवार्य स्थिति है, अर्थात् संगठनात्मक बन्धन स्वाभाविक है। जबकि चैतन्य इकाई तात्विक रूप में एक ही परमाणु है, वह गठनपूर्ण परमाणु होने के कारण उसकी सूक्ष्मता अपने आप व्याख्यायित है। इस प्रकार जीवन की सूक्ष्मता और अक्षय महिमा स्पष्ट होने के कारण यह तथ्य असंदिग्ध रूप में सिद्ध हो जाता है कि प्राण कोशिकाओं से रचित शरीर, चैतन्य-प्रकृति की तुलना में कम शक्ति एवं कम बल संपन्न है। साथ ही शरीर स्थूल रूप में है तथा जीवन सूक्ष्म रूप है। इसीलिए कम शक्ति कम बल के माध्यम से अधिक शक्ति व अधिक बल प्रकाशित होना सार्वभौम सिद्ध हुआ।

नियन्त्रण स्वयं नियम के रूप में स्पष्ट होता हैं। फलत: प्रत्येक इकाई में नियमपूर्वक ही एक दूसरे को पहचानने की व्यवस्था है। यही नियंत्रण का तात्पर्य है। एक दूसरे को पहचानने के लिए प्रत्येक इकाई का अपने में संपूर्णता का होना है। परस्पर पहचानने का मूल तत्व और नियन्त्रण का रूप अपने आप में सत्ता में संपृक्तता और ऊर्जामयता ही है। सत्ता में डूबे रहने के फलस्वरुप ही इकाई के सभी ओर शून्य का होना देखा जाता है। यही भीगा रहना स्वयं बल संपन्नता है। यह अपने आप में इस बात से स्पष्ट होता है कि सत्ता पारगामी होने के कारण ही भीगा हुआ है। इस प्रक्रिया से स्पष्ट हो जाता है कि हम इकाई के कितने भी विभाजन करें उसका प्रत्येक भाग-विभाग यथावत् डूबा हुआ, घिरा हुआ एवं भीगा हुआ दिखाई देता है। इसके साथ ही यह भी स्पष्ट होता है कि इकाई का नाश नहीं होता तथा इसका साक्ष्य मिलता है कि छोटी से छोटी एवं बड़ी से बड़ी इकाईयाँ सतत क्रियाशील हैं। क्रियाशीलता स्वयं बल का द्योतक है तथा क्रिया स्वयं नियन्त्रित रहने का द्योतक है। इस प्रकार इकाई का सत्ता में घिरे रहने के कारण नियन्त्रण, डूबे रहने के कारण क्रियाशीलता एवं भीगे रहने के कारण बल संपन्नता को देखा जाता है।

प्रत्येक इकाई में नियन्त्रण, बल व क्रियाशीलता अविभाज्य रूप में वर्तमान है तथा अपनी स्वाभाविक गति में समान होते है। इस तथ्य से यह स्पष्ट होता है कि प्रत्येक इकाई अपनी संपूर्णता में ध्रुवीत होती हैं। ध्रुवता से तात्पर्य आचरण की स्थिरता से है। संपूर्णता का तात्पर्य नियंत्रण, क्रियाशीलता और बल संपन्नता से है। नियंत्रण क्रियाशीलता और बल संपन्नता प्रत्येक इकाई का नित्य वैभव है। इसका पराभव कभी नहीं होता। अस्तित्व सत्ता में संपृक्त प्रकृति होने के कारण सत्ता में से वस्तु का वियोग नहीं होता। इसी कारण इकाई का वैभव नित्य शाश्वत और स्थिर सिद्ध होता है। स्थिरता का तात्पर्य अस्तित्व की नित्यता और क्रिया की निरन्तरता में है।

प्रत्येक इकाई का स्वभाव गति में वैभव है।

प्रत्येक भौतिक-रासायनिक क्रिया श्रम, गति, परिणाम का अविभाज्य वर्तमान।

श्रम और परिणाम के संयुक्त रूप में गति है।

गति और परिणाम के संयुक्त रूप में श्रम है।

श्रम और गति के संयुक्त रूप में परिणाम है।

चैतन्य परमाणु में -

गति के गंतव्य रूप में आचरण पूर्णता है।

श्रम के विश्राम रूप में क्रिया पूर्णता है।

परिणाम के अमरत्व के रूप में गठनपूर्णता (जीवन परमाणु) है।

प्रत्येक परमाणु क्रिया अपने परमाणु अंशों के गतिपथ सहित वैभवित है। यही गतिपथ उस परमाणु की नियन्त्रण रेखा भी है और सीमा भी है। ऐसे गतिपथ की सीमा में प्रत्येक परमाणु अपने में समाहित संपूर्ण परमाणु अंशों के अनुशासन समेत परिभाषित होता हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रत्येक परमाणु में समाहित प्रत्येक परमाणु अंश अपनी परस्परता में एक निश्चित दूरी में अपने अस्तित्व को स्पष्ट करते हुए अनुशासन को, गठन के अंगभूत कार्य के रूप में प्रकाशित करते हैं। ऐसे प्रत्येक परमाणु में अंशों का घटना बढ़ना देखा जाता है।

इस क्रिया को किसी एक परमाणु से कुछ परमाणु अंशों का क्षरण होना तथा दूसरे किसी परमाणु में समा जाना या अन्य परमाणु में गठित हो जाने के रूप में देखा जाता है। इसी क्रम में गठनपूर्णता गण्य हैं। इसका साक्ष्य, अक्षय बल एवं अक्षय शक्ति संपन्नता से होता हैं। चैतन्य प्रकृति में अक्षय बल एवं अक्षय शक्ति स्पष्ट है। यही तात्विक परिणाम प्रक्रिया है। इसी क्रम में विभिन्न संख्यात्मक अंश संपन्न परमाणु अस्तित्व में दिखाई पड़ते हैं। ऐसे विभिन्न परमाणु अंशों की संख्या से संपन्न परमाणु स्वयं विभिन्न जातियों में गण्य होते हैं। यही तात्विक परिवर्तन, स्थिति, अभिव्यक्ति, प्रकाशन और ज्ञान का तात्पर्य है।

परमाणु के विकास के क्रम में एक ऐसी अवधि आती है, जिसमें उस परमाणु के गठन के लिए जितने अंशों की आवश्यकता रहती है, वे सभी समा जाते है, उसी समय वह गठनपूर्ण हो जाता है। गठनपूर्णता का तात्पर्य उस गठन में, से, के लिए तृप्ति है। यही परिणाम का अमरत्व है और चैतन्य पद है। इस पद में प्रत्येक इकाई, बल और शक्ति के रूप में समान होती हैं। गठनपूर्ण परमाणु सहित संपूर्ण प्रजाति के परमाणु अस्तित्व सहज सहअस्तित्व विधि से नित्य वर्तमान है। जीवन शक्ति अक्षय होने के कारण रासायनिक-भौतिक क्रियाकलाप में रत परमाणुओं के साथ मानव अपने प्रयोग विधि से परिणामों को पहचान पाता है।

गति प्रत्येक इकाई में घूर्णन वर्तुलात्मक एवं कंपनात्मक रूप से गण्य होता है। इसी गति एवं वातावरण के दबाववश स्थानान्तरण सिद्ध हो जाता है। स्थान का तात्पर्य साम्य ऊर्जा अथवा शून्य और ऊर्जामयता ही है। क्योंकि प्रत्येक इकाई छ: ओर से सीमित पदार्थ पिण्ड है। "ओर" का स्वरुप शून्य अथवा सत्तामयता ही है। प्रत्येक इकाई परस्परता में स्वभाव गति अथवा आवेशित गति में अवस्थित होती है। आवेशित गति का प्रधान कारण नैसर्गिकता व वातावरण के योगफल में होने वाले दबाव पर आधारित होता है। साथ ही यह भी देखने को मिलता है कि जिस इकाई के लिए जो नैसर्गिक वातावरण चाहिए, वह उस इकाई के स्वरुप में ही होता हैं। इसी कारण प्रत्येक इकाई एक दूसरे के लिए नैसर्गिक सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार परस्पर पूरकता स्वयं सिद्ध होती है। पूरकता परस्पर स्वभाव गति की स्थिति में होने वाले आदान-प्रदान

(वातावरण) से है। नैसर्गिकता (परस्परता) स्वभाव गति में होने वाली स्थिति से है। इस प्रकार जड़-चैतन्यात्मक प्रकृति का अपने आप में परस्पर नैसर्गिक और वातावरण होना एक अनुस्यूत प्रक्रिया सिद्ध हुई, यह स्वयं सहअस्तित्व का द्योतक है।

"कंपनात्मक गति और वर्तुलात्मक गति प्रत्येक इकाई में वर्तमान है।"

परमाणु में विकास का क्रम देखें तो पता चलता है कि जैसे-जैसे परमाणु विकसित होता है वैसे वैसे उसमें कंपनात्मक गति बढ़ती जाती है। इसी के साथ उसकी स्थिरता व्याख्यायित होती हैं। इसी क्रम में गठनपूर्णता हो जाती हैं। जैसे ही गठनपूर्णता होती है वैसे ही उस परमाणु में कंपनात्मक गति, वर्तुलात्मक गति की अपेक्षा अधिक हो जाती हैं। यही गति का इतिहास है जो स्वयं इस बात को स्पष्ट कर देता है कि जीवन की स्थिरता और उसकी निरतंरता को परिणाम का अमरत्व व्याख्यायित कर देता है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि स्थिरता इकाई की संपूर्णता में होते हुए उसकी निरन्तरता को बनाये रखना एक अनिवार्य स्थिति होने के कारण विकास के इतिहास में कंपनात्मक गति का महत्व अपने आप में स्पष्ट हो जाता है। इसी क्रम में जड़ प्रकृति में केवल परार्वतन होता है चैतन्य प्रकृति में परावर्तन एवं प्रत्यावर्तन दोनों होता है।

चैतन्य प्रकृति में विशेषकर ज्ञानावस्था के मानव में परावर्तन एवं प्रत्यावर्तन प्रक्रिया स्पष्ट रूप से देखने को मिलती हैं। मानव संचेतना में भी पाँचों शक्तियों की अभिव्यक्ति होने की संभावना रहते हुए, संचेतना को पहचानने एवं निर्वाह करने के क्रम में नित्य गतिशील होना पाया जाता है। यही इसका निराकरण है कि प्रत्यावर्तन पूर्वक परावर्तन में समाधान अपेक्षित तथ्य है। यह प्रत्येक व्यक्ति में प्रयोग पूर्वक, व्यवहारपूर्वक और अनुभवपूर्वक तभी सिद्ध हो जाता है, जब पहचानने एवं निर्वाह करने में सामरस्यता हो जावे। यही समाधान का स्वरुप है तथा इसकी निरन्तरता होती है।

"श्रम मानव जीवन में अविभाज्य आयाम है।" श्रम स्वयं बल के बराबर में होता है, श्रम विश्राम के अर्थ में ही है।

प्रत्येक स्थिति और अवस्था में प्रत्येक इकाई में बल संपन्नता रहता है । यह बल संपन्नता विकास के क्रम में आचरण के रूप में मिलती है। फलत: विकास और उसकी निरन्तरता होती हैं। बल संपन्नता स्वयं नित्य और स्थिर होने के कारण बल, स्थिति में, शक्ति गति में अविभाज्य होना स्वाभाविक हुआ। इसलिए प्रत्येक इकाई में रूप, गुण, स्वभाव, धर्म अविभाज्य रूप में विद्यमान रहते हैं। श्रम (बल) प्रत्येक इकाई में धर्म

और स्वभाव के रूप में; गति स्वभाव और गुण के रूप में और परिणाम रूप तथा अमरत्व सहित वर्तमान है।

इकाई में मूलत: बल चुम्बकीय बल ही है। यह सत्ता में भीगे रहने का द्योतक है। इकाई के रग-रग में बल संपन्नता होने के कारण श्रम की नित्यता अपने आप स्पष्ट हो गयी। इससे व्याख्यायित हो जाता है कि प्रत्येक इकाई प्रत्येक स्थिति में श्रमशील है। श्रम निरन्तर विश्राम के अर्थ में ही हुआ करता है। विश्राम का भासाभास इकाई की स्वभावगति में होता हैं। जैसे-जैसे नैसर्गिकता और वातावरण इकाई को अपने स्वाभाव गति में रहने में हस्तक्षेप करता गया, वैसे-वैसे ही इकाई वातावरण और नैसर्गिकता के हस्तक्षेप से अथवा हस्तक्षेप के प्रभाव से मुक्त होने की क्षमता योग्यता और पात्रता को उपार्जन करने की आवश्यकता स्वभाव सिद्ध हुई। क्योंकि अस्तित्व में किसी का नाश होता नहीं इस कारण स्वभाव गति में आकर विकसित होना ही है। इस प्रकार श्रम, विश्राम के लिए अविरत प्रयासरत रहना अस्तित्व में अविभाज्य रूप में वर्तमान है। इससे पता चलता है कि समाधान की अवधि तक बल का प्रयोग अर्थात् श्रम का प्रयोग होता ही है। क्योंकि वातावरण और नैसर्गिकता के दबाव को सहना है या सहने योग्य क्षमता को उपार्जन करना है। अन्ततोगत्वा स्वभावगति में आकर विकसित होना है, गठनपूर्ण होना है। गठनपूर्णता के अनन्तर श्रम और गति दोनों अक्षय होने के कारण अक्षय शक्ति संपन्नता चैतन्य इकाई में एक स्वाभाविक स्थिति हो जाती हैं। ऐसे अक्षय शक्ति संपन्नतावश ही ज्ञानावस्था के मानव में संचेतना का परावर्तन और प्रत्यावर्तन क्रिया संपादित होना एक स्वाभाविक स्थिति है। इसी परावर्तन, प्रत्यावर्तन क्रम में पहचानने और निर्वाह करने की सामरस्यता में, जाने हुए को मानने और माने हुए को जानने की स्थिति में प्रत्येक मानव समाधानित होने और उसकी निरन्तरता की संभावना उदितादित होने की व्यवस्था स्पष्ट है।

प्रत्येक इकाई में बल संपन्नता ही मूल चेष्टा का कारण है। क्योंकि शक्ति के बिना बल का परिचय, बल के बिना शक्ति का परिचय नहीं होता। इस प्रकार मूल चेष्टा के बिना ऊर्जा का परिचय और ऊर्जा के बिना मूल चेष्टा नहीं होता। परस्परता में संपर्क के साथ हर इकाई नित्य क्रियाशील होने के कारण, क्रिया के मूल में निरपेक्ष ऊर्जा, साम्य सत्ता अपने आप नित्य प्राप्त है। इसका कारण यही है कि साम्य ऊर्जा न हो ऐसा कोई स्थान नहीं है। साथ ही साम्य ऊर्जा में संपूर्ण प्रकृति ओत-प्रोत है। इसीलिए ऐसी साम्य ऊर्जा में संपृक्तता स्वयं बल संपन्नता, बल संपन्नता स्वयं मूल चेष्टा, मूल चेष्टा स्वयं क्रिया, क्रिया स्वयं श्रम-गति-परिणाम, श्रम-गति-परिणाम स्वयं विकास और इसकी निरन्तरता है। इसी क्रम में प्रत्येक अवस्था में प्रत्येक इकाई के एक दूसरे को पहचानने की व्यवस्था है।

पदार्थावस्था में तात्विक क्रिया में परस्पर परमाणु अंश की निश्चित दूरियाँ स्वयं उनके परस्परता की पहचान को प्रकाशित करता है। साथ ही भौतिक और रासायनिक वस्तुओं का संगठन भी परस्पर अणुओं की पहचान का द्योतक सिद्ध हो जाता है। प्राणावस्था में रासायनिक अणु संरचनाएँ, प्राणकोशिकाओं की पहचान का द्योतक है। यह बीज वृक्ष नियम पूर्वक संपादित होते हैं। जीवावस्था में जड़-चैतन्य-प्रकृति का प्रारंभिक प्रकाशन है, जिसमें से शरीर रचना जड़-प्रकृति स्वरुप होने के कारण वंशानुषंगी सिद्धांत पर आधारित रहता है। साथ ही जीवन संचेतना जीवावस्था में अध्यास के रूप में प्रभावित रहता है। अध्यास का तात्पर्य परंपरागत कार्यकलापों और विन्यासों को गर्भावस्था से ही स्वीकारने के क्रम में गुजरते हुए जन्म के अनन्तर उसे अनुकरण करने की प्रक्रिया से है। जैसे गाय की सन्तान गाय जैसे कार्यकलापों को करते हुए देखने को मिलता है। इसी प्रकार सभी प्रजाति के जीवों में स्पष्ट है। ज्ञानावस्था में मानव, जड़-चैतन्य का संयुक्त प्रकाशन होते हुए मानव शरीर भी प्रधानत: वंशानुषंगी होता है। साथ ही संचेतना संस्कारानुषंगी होता है। इसका साक्ष्य स्वयं शिक्षा-संस्कार व्यवस्था परंपराएँ है। इससे सिद्ध हुआ कि मानव संस्कारानुषंगी प्रणाली से पहचानने के कार्यकलाप को संपादित करता है।

जीवन संचेतना में मन, वृत्ति, चित्त, बुद्धि और आत्मा जैसे अक्षय बल तथा आशा, विचार, इच्छा, ऋतम्भरा और प्रमाण जैसी अक्षय शक्तियाँ कार्यरत एवं प्रकाशमान है। मानव संचेतना में अनवरत कार्यरत अक्षय शक्तियाँ परार्वतन एवं प्रत्यावर्तन में स्पष्ट हो जाती हैं। जैसे आशा शक्ति की पहचान परार्वतन में चयन तथा प्रत्यावर्तन में आस्वादन के रूप में है। वृत्ति की शक्ति का परिचय परावर्तन में विश्लेषण, प्रत्यावर्तन में तुलन के रूप में होते हैं। इच्छा शक्ति की पहचान परार्वतन में चित्रण के रूप में प्रत्यावर्तन में चिन्तन के रूप में होती हैं। बुद्धि शक्ति की पहचान परावर्तन में संकल्प के रूप में एवं प्रत्यावर्तन में बोध के रूप में है। आत्मा शक्ति परावर्तन में प्रामाणिकता एवं प्रत्यावर्तन में अनुभव के रूप में है।

शक्तियों का अर्थात् चैतन्य शक्तियों का परावर्तन एवं प्रत्यावर्तन पहचानने एवं निर्वाह करने के अर्थ में सार्थक सिद्ध होता है। पाँचों अक्षय शक्तियों का परावर्तन एवं प्रत्यावर्तन जीवन की एक अनुस्यूत क्रिया होने के कारण यह क्रिया स्वयं जीवन संचेतना के नाम से अभिहित है। इसी क्रम में संचेतना अपनी परावर्तन क्रिया में रूप और गुणों को पहचानती है। प्रत्यावर्तन में निर्वाह करती है। इससे स्पष्ट होता है कि संपूर्ण भौतिक और रासायनिक संसार परावर्तन के क्रम में इन्द्रिय सन्निकर्ष पूर्वक पहचानने को मिलता है। जबकि मूल्य और अस्तित्व अथवा स्वभाव और धर्म प्रत्यावर्तन में ही पहचानने में आता है। फलत: इसे निर्वाह करने की प्रणाली अपने आप समीचीन होती हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि भौतिक संसार का

निर्वाह, बौद्धिक संसार का निर्वाह एवं पहचान संज्ञानशीलता एवं संवेदनाशीलता की सन्तुलित पद्धति से है। पहचानने और निर्वाह करने की स्थिति समाधान के अर्थ में सार्थक होती है।

अस्तित्व में, से, के लिए ही संपूर्ण अध्ययन है क्योंकि अस्तित्व समग्र ही स्थिति में नित्य वर्तमान है। अस्तित्व न घटता है न बढ़ता है। इसीलिए अस्तित्व में, से, के लिए मानव अध्ययन करने के लिए बाध्य है। क्योंकि यह अध्ययन मानव को अपने जीवन जागृति का साक्ष्य प्रस्तुत करने के क्रम में अपरिहार्य है। फलत: प्रामाणिकता, प्रमाण और समाधान की स्थिति के लिए तत्पर होना पड़ा। इसी क्रम में निर्भ्रमता की अभिव्यक्ति है। इसकी संप्रेषणा भी होती हैं। यही मानव परंपरा की गरिमा और सामाजिक अखण्डता का सूत्र है। यही शिक्षा व्यवस्था और चरित्र में सामरस्यता के स्वरुप को स्पष्ट करता है। यही अनुभवपूर्ण सहअस्तित्व ही विचारशैली एवं जीने की कला के लिए आवश्यक है।

सहअस्तित्व ही अस्तित्व है। सहअस्तित्व में विकास क्रम, विकास में जीवन घटना और पद, जीवन घटना और पद में जागृति क्रम, और जीवन जागृति में परावर्तन व प्रत्यावर्तन, परावर्तन व प्रत्यावर्तन क्रम में अस्तित्व में अनुभूति, अस्तित्व में अनुभूति क्रम में स्थिति सत्य, वस्तुस्थिति सत्य और वस्तुगत सत्य में मानव के निर्भ्रम होने की व्यवस्था है। यही नियतिक्रम व्यवस्था है। अनुभव बल को व्यक्त करने के क्रम में विचार शैली एवं जीने की कला अपने आप में संप्रेषित होती है। यही जीवन वैभव एवं जागृति का साक्षी है। जागृति पूर्वक ही मानव मूल्यों को अभिव्यक्त, संप्रेषित एवं मूल्यांकित करता है। यह महिमा जीने की कला को श्रेष्ठ और श्रेष्ठतर के रूप में प्रकाशित करती है।

जीने की कला का स्वरुप जीवन जागृति और उसकी महिमा का स्वरुप, स्वयं संबंधों व मूल्यों को पहचानना ही है। इसकी गरिमा का स्वरुप उसके निर्वाह करने में स्पष्ट होता है। यही मानव कुल के संपूर्ण आयामों, कोणों, परिप्रेक्ष्यों और दिशाओं में समाधान और प्रामाणिकता के रूप में जीवन गति है। स्थिति सत्य को सत्ता में संपृक्त प्रकृति के रूप में, वस्तुस्थिति सत्य ही दिशा, काल, देश के रूप में और वस्तुगत सत्य रूप, गुण, स्वभाव, धर्म को पहचानने व निर्वाह करने की व्यवस्था मानव में जागृति पूर्वक सिद्ध हो जाती है। प्रत्येक इकाई में रूप, गुण, स्वभाव, धर्म अविभाज्य वर्तमान है। परस्पर इकाई अथवा परस्पर ध्रुवों के आधार पर ही दिशा, देश स्पष्ट होता है । साथ ही क्रिया की अवधि में काल गणना होती हैं। वस्तु की पहचान आकार, आयतन, घन के रूप में, गुण की पहचान सम, विषम, मध्यस्थ शक्तियों के रूप में, स्वभाव की पहचान शक्तियों के सद्‌व्यय के रूप में होती हैं। धर्म की पहचान अस्तित्व, पुष्टि, आशा और आनन्द के रूप में स्पष्ट होती है।

अस्तित्व स्थिति और इकाई के किसी आयाम को भुलावा देना स्वयं अज्ञान का ही द्योतक होगा। अज्ञान स्वयं समस्या और क्लेश का द्योतक होता है । प्रत्येक मानव जागृति को स्वीकारता है। जागृति परार्वतन व प्रत्यावर्तन का सफल स्वरुप है। अर्थात् समाधान एवं प्रामाणिकता का स्वरुप है । ऐसी सामरस्यता रूप और गुणों की सीमा में परिपूर्ण नहीं होती। इसीलिए मानव को प्रत्येक इकाई के रूप, गुण, स्वभाव, धर्म अविभाज्य रूप में जानने, मानने, पहचानने और निर्वाह करने की आवश्यकता है।

इसी क्रम में मनुष्य पहचानने और निर्वाह करने के क्रम को अस्तित्व में विकसित करता आया है। अभी भी कई बिन्दु पहचानने, निर्वाह करने के लिए शेष है। फलत: अस्तित्व समग्र और अस्तित्व में समग्र विकास को पहचानने की आवश्यकता और स्थिति समीचीन हुई। इस प्रकार अस्तित्व समग्र और संपूर्ण इकाई नित्य शुभ और सफल है। शुभ और सफलता का तात्पर्य सर्वतोमुखी समाधान और प्रमाणिकता से है। यह अवसर अथवा ऐसा पावन अवसर प्रत्येक मानव में, से, के लिए समीचीन रहता है, क्योंकि जो था नहीं, वह होता नहीं।

जागृति क्रम में भी प्रत्येक मानव अपनी क्षमता योग्यता पात्रता को संप्रेषित एवं अभिव्यक्त करता है। यही प्रकाशमानता का भी तात्पर्य है। प्रत्येक इकाई प्रकाशमान है ही। प्रकाशमानता स्वयं प्रतिबिम्बन-अनुबिम्बन प्रक्रिया और प्रणाली होने के कारण यह प्रत्येक इकाई की स्थिति में वर्तमान रहता है। क्योंकि अस्तित्व में ऐसी कोई इकाई नहीं है जिसका वर्तमान न हो। मानव अस्तित्व में अविभाज्य इकाई होने के कारण इनका वर्तमान स्थिति सहज सिद्ध है। मानव में अपनी गरिमा, महिमा और वैभव को परंपरा का स्रोत बनाये रखने के क्रम में जागृति, उत्प्रेरणा समीचीन रहती ही है।

इसलिए जागृति पूर्वक ही मानव में सामाजिकता को पहचानने और मानवीयता को चरितार्थ रूप देने की अनिवार्यता सतत विद्यमान है। अस्तु, मानव सहअस्तित्व को प्रकाशित करना ही समाधानात्मक भौतिकवाद, व्यवहारात्मक जनवाद और अनुभवात्मक अध्यात्मवाद सहज सूत्र और व्याख्या का स्वरुप है। इसका नित्य स्रोत मध्यस्थ सत्ता, मध्यस्थ क्रिया और मध्यस्थ जीवन सहज महिमा ही है, जो स्वयं मध्यस्थ दर्शन का स्वरुप है। इससे ही अभ्युदय (सर्वतोमुखी विकास) अध्ययन सुलभ, व्यवहार सुलभ एवं अनुभव सुलभ होने का संपूर्ण तथ्य आपके सम्मुख प्रस्तुत है।

भूमिः स्वर्गताम् यातु, मनुष्यो यातु देवताम्।
धर्मो सफलताम् यातु, नित्यं यातु शुभोदयम्॥

अस्तित्व में परमाणु का विकास

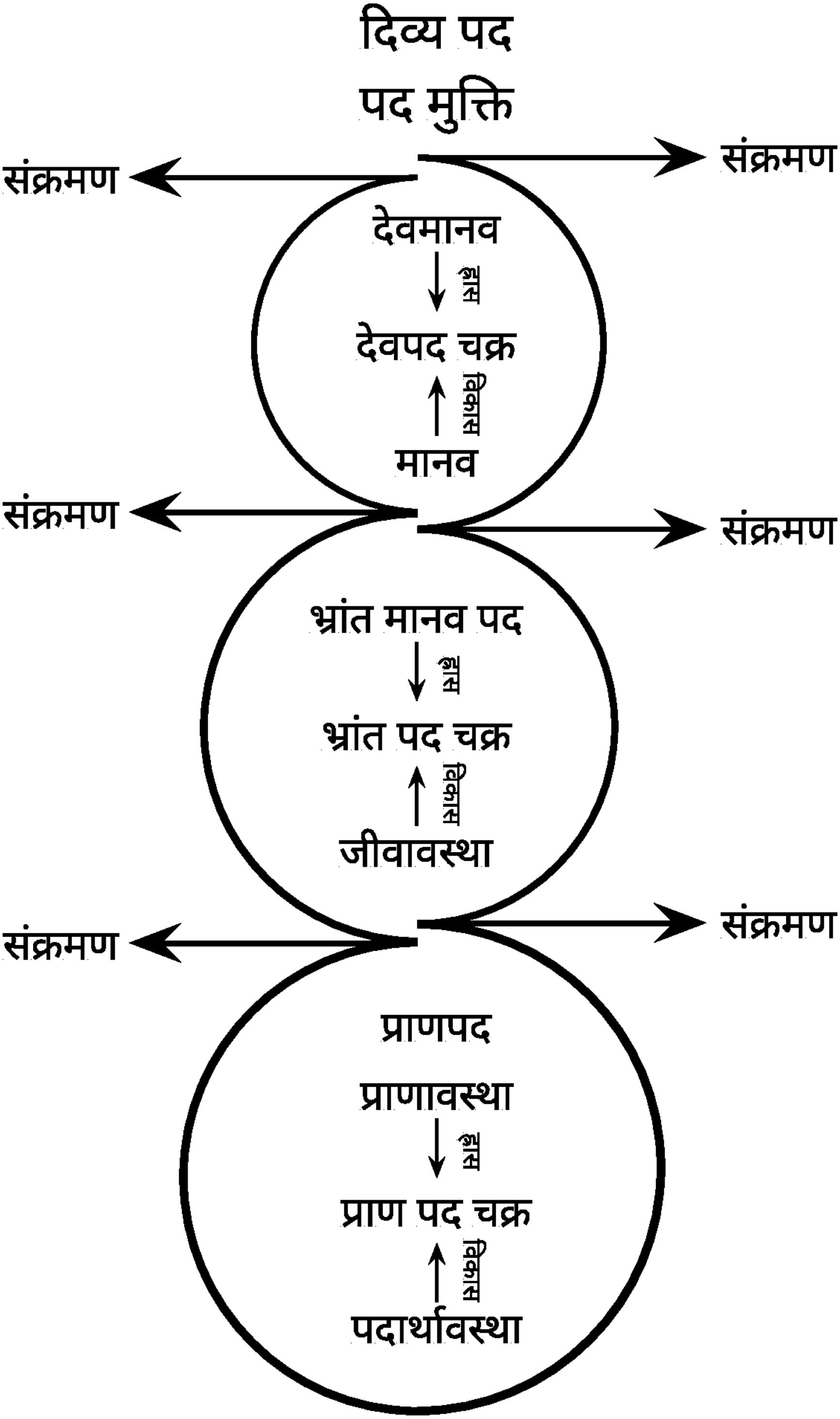

अध्याय - 5

अस्तित्व में परमाणु का विकास

मानव अस्तित्व में ही कार्य-व्यवहार, विचार और अनुभव करना चाहता है। अस्तित्व में, अस्तित्व के अतिरिक्त समझने, सोचने, कार्य-व्यवहार अथवा अनुभव करने का कोई आधार नहीं होता, क्योंकि अस्तित्व से अधिक और कम सभी कल्पनायें भ्रम ही होती हैं।

भ्रम का तात्पर्य सत्य सा प्रतीत होते हुए सत्य न होना है। अस्तित्व सत्ता में अर्थात् अरूपात्मक अस्तित्व में संपृक्त प्रकृति (रूपात्मक अस्तित्व) है। इसलिए अध्ययन के लिए संपूर्ण वस्तु अस्तित्व ही है।

अरूपात्मक अस्तित्व की पहचान :-

अरूपात्मक अस्तित्व स्वयं में निरपेक्ष ऊर्जा के रूप में वैभवित है। यह गति, तरंग, दबाव विहीन नित्य वर्तमान स्थिति में है। साथ ही सर्वकाल में एक सा विद्यमान भासमान और बोध व अनुभवगम्य है। इसी सत्यतावश अरूपात्मक अस्तित्व मूल रूप में साम्य ऊर्जा, परम ऊर्जा अथवा निरपेक्ष ऊर्जा के अर्थ में नित्य विद्यमान है। यही निरपेक्ष सत्ता है । इसे हर एक-एक की परस्परता के मध्य में होना पाया जाता है।

"सत्ता स्थितिपूर्ण है। सत्ता में संपृक्त प्रकृति स्थितिशील है।" सत्ता स्थितिपूर्ण होने की सत्यता उसकी व्यापकता से सिद्ध होती है क्योंकि अरूपात्मक अस्तित्व न हो, ऐसा कोई स्थान और काल सिद्ध नहीं होता।

सत्ता में संपृक्त प्रकृति अनन्त इकाईयों का समूह है। इकाई का तात्पर्य छः ओर से सीमित पदार्थ पिण्ड से है। प्रकृति की मूल इकाई परमाणु है क्योंकि परमाणु में ही विकास और ह्रास सिद्ध होता है। परमाणुओं का निश्चित गतिपथ सहित अस्तित्व में होना पाया जाता है। ऐसे गति पथ और परमाणु अंशों के सभी ओर अरूपात्मक अस्तित्व दिखाई पड़ता हैं। इससे स्पष्ट होता है कि अरूपात्मक अस्तित्व में ही संपूर्ण रूपात्मक अस्तित्व संपृक्त एवं ऊर्जा संपन्न है। प्रत्येक इकाई में ऊर्जामयता का साक्ष्य परमाणु के पूर्व रूप में और परमाणु के पर रूप में क्रियाशीलता से स्पष्ट है।

रूपात्मक अस्तित्व की पहचान :-

प्रकृति अनन्त इकाईयों का समूह है। प्रकृति की मूल इकाई परमाणु है। प्रत्येक इकाई अपनी परमाण्विक अवस्था में व्यवस्था सहित सचेष्ट है, क्योंकि सत्ता में संपृक्त होने के कारण उसे ऊर्जा प्राप्त हैं। प्रकृति में

ऐसी कोई इकाई या अंश नहीं है जो ऊर्जा संपन्न न हो। इसी कारणवश प्रत्येक इकाई क्रियाशील है। यह क्रियाशील प्रत्येक इकाई में श्रम, गति और परिणाम के रूप में दिखाई देती है।

इकाईत्व + ऊर्जा संपन्नता = क्रियाशीलता

जड़ इकाई से तात्पर्य छ: ओर से सीमित पदार्थ पिंड की प्रकाशमानता + परावर्तन से है।

इकाई और ऊर्जा संपन्नता का वियोग कभी नहीं होता। इसी सत्यतावश क्रियाशीलता निरन्तर देखने को मिलती है। इसीलिये सत्ता में संपृक्त प्रकृति सत्ता में स्वाभाविक रूप से गर्भित होने के कारण, सत्ता में अनुभव पर्यन्त विकास के लिए नित्य प्रवर्तित है। क्योंकि सत्ता स्थिति पूर्ण है। प्रकृति पूर्ण में गर्भित हैं। इसीलिए पूर्णता के लिए प्रवर्तन होना अस्तित्व सहज सिद्ध हुआ।

क्रियाशीलता स्वयं सम, विषम एवं मध्यस्थ शक्तियों के रूप में गण्य होती है। सम, विषम शक्तियाँ परस्परता में आवेश के रूप में देखी जाती है। उसे सामान्य बनाना मध्यस्थ क्रिया का कार्य हैं। इसे हम छिपी हुई ऊर्जा के नाम से जानते हैं। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि सम, विषम शक्तियाँ कार्य ऊर्जा के रूप में मध्यस्थ शक्ति छिपी हुई ऊर्जा के रूप में प्रकृति में नित्य वर्तमान है।

स्वभाव गति प्रतिष्ठा ही इकाई की संपूर्णता व इकाई की निरंतरता है। आवेशित गति को अधिकतम आवेशित कर किसी प्रणाली के द्वारा स्वेच्छात्मक रूप में क्रिया कराना ही आज विज्ञान का आधार है। ऐसी घटना अर्थात् आवेशों पर आधारित होने की मानसिकता इसीलिए हुई कि मध्यस्थ क्रिया और उसकी महिमा को आज तक पहचाना नहीं गया। धन-ऋणात्मक आवेशों में ही सापेक्षता सिद्ध होती हैं। यही अधिक और कम का भी अर्थ है। अधिक और कम, दोनों पूर्ण नहीं होते और इसी कारण स्थिर नहीं होते। फलत: मध्यस्थ शक्ति ऋण एवं धन आवेशों (शक्तियों) को सामान्य बनाने के लिए सतत कार्य करती रहती है क्योंकि मध्यस्थ शक्ति (क्रिया) का लक्ष्य पूर्णता है। इसका साक्ष्य पूर्णता और उसकी निरन्तरता है। इसी कारण प्रत्येक इकाई (परमाणु) का वर्तमान पूर्ण होने के क्रम में ही व्यवस्था अथवा नियति क्रम स्पष्ट है। यही अस्तित्व में विकासक्रम और विकास का प्रकाशन है।

"विकास परमाणु में होता है।"

प्रत्येक परमाणु गठनपूर्वक परमाणु है । प्रत्येक गठन में एक से अधिक अंश होते हैं। प्रत्येक परमाणु अपने गतिपथ सहित इकाई है। ऐसा गतिपथ स्वयं गठन और गति के आकार को स्पष्ट करता है। प्रत्येक परमाणु में तब तक प्रस्थापन और विस्थापन होता रहता है जब तक गठनपूर्णता न हो जाये। क्योंकि प्रत्येक परमाणु का क्रिया के रूप में होना प्रत्येक क्रिया में श्रम, गति, परिणाम अविभाज्य वर्तमान होता हैं। परिणाम

अमरत्व के अर्थ में, श्रम विश्राम के अर्थ में, गति गन्तव्य के अर्थ में अपने आप विकास का लक्ष्य होता हैं। यही लक्ष्य विकास के क्रम और विकास के रूप में स्पष्ट होता है।

जैसे प्रत्येक परमाणु अपने ऋण धनात्मक स्थिति में आवेशित होना और मध्यांश में छिपी हुई ऊर्जा द्वारा उन आवेशों को सामान्य बनाना निरन्तर इस लीला को देखा गया हैं। भौतिक-रासायनिक परमाणु अपने ऋण-धनात्मक स्थिति में आवेशित होने का आशय परिवेशीय अंशों के मध्यांश से दूरी बढ़ने या घटने की स्थिति को कहा है, ऐसी दोनों ही स्थिति में मध्यांश में छिपी हुई ऊर्जा परिवेशीय अंशों को एक निश्चित दूरी पर रखती है। जिसको आवेशों का सामान्य बनाना कहा है। यह इस बात का द्योतक है कि आवेश से मुक्त स्थिति ही स्वयं स्वभाव गति के रूप में गण्य होती है। ऐसी स्वभाव गति की स्थिति में ही प्रत्येक परमाणु में विकास की संभावना निहित होती है।

इस उदाहरण से यह समझ सकते है कि जब किसी भी वस्तु को तात्विक परिवर्तन (परमाणु में निहित परमाणु अंशों की संख्या में परिवर्तन) के लिए बाध्य किया जाता है तब उस स्थिति में हमें यह देखने को मिलता है कि जिस परमाणु में प्रस्थापन होता है वह अपनी स्वभाव गति में रहता है और जिस परमाणु से विस्थापन होता है वह आवेशित गति में रहता है। परमाणु आवेशित गति में रहने का कारण उसमें समाहित अंशों की संख्या की अजीर्णता है। अजीर्ण परमाणु ही अंशों को बहिर्गमित करके स्वभाव गति में हो जाता है। विकास का तात्पर्य अपरिणामिता के ओर से है। अपरिणामिता की स्थिति तक द्रुत परिणाम, शीघ्र परिणाम, दीर्घ परिणाम के पदों में परमाणुओं को देखा जाता है। तात्विक स्थिति व ज्ञान यही है । इस प्रकार परमाणु में एक से अधिक परमाणु अंशों अर्थात् कम से कम दो अंशों से गठित परमाणुओं का योग प्रारंभ होकर कई अंशों से गठित परमाणुओं का होना सिद्ध हो चुका हैं। प्रकृति में व्यवस्था सहज मूल इकाई परमाणु होने के कारण परमाणु में मात्रा, बल और शक्ति का अविभाज्य वर्तमान होना पाया जाता है।

परमाणु की पूर्वावस्था (परमाणु अंश) में व्यवस्था प्रमाणित नहीं है। व्यवस्था प्रमाणित होने के लिए कम से कम दो परमाणु अंश का होना आवश्यक है क्योंकि सहअस्तित्व में ही व्यवस्था है। जैसे ही एक से अधिक परमाणु एकत्रित होते है वे अणु का पद पाते हैं। वे स्वजातीय व विजातीय भेद से गण्य है। विजातीय परमाणुओं के योग से जो अणु अस्तित्व में होते है वे रासायनिक रूप में जाने जाते हैं। ऐसे रासायनिक अणुओं की विभिन्न प्रजातियाँ होती हैं। ऐसी विभिन्न प्रजातियों के रासायनिक अणु मिलकर विभिन्न रचना तथा रस, उपरस आदि के रूप में प्रकाशित होते हैं। जिस प्रकार एक पौधा अंकुर के रूप में आरंभ होता है, बढ़ता है और एक दिन विरचित हो जाता है। उसे ठीक से देखने पर यह विदित होता है कि अंकुरण

के समय से ही उसके बढ़ने में भी मात्रा की कोई स्थिरता नहीं है। इसी के साथ एक व्यक्ति के जन्म को देखें तो यह पता चलता है कि जिस समय शरीर गर्भ में रूप धारण करता है, उसी समय से उसका बढ़ना आरंभ हो जाता है। यह स्वयं में मात्रा के अर्थ में अस्थिरता का द्योतक है। जब गर्भ से शिशु बाहर आता है, उसी क्षण से उसमें परिवर्तन का क्रम देखने को मिलता है। यह परिवर्तन शिशु, किशोर, कौमार्य, युवा, प्रौढ़ और वृद्धावस्थाओं में गण्य होते है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि रचनायें स्थिर नहीं हैं। इससे स्पष्ट है कि रचनाएँ रासायनिक एवं भौतिक सीमावर्ती है। यद्यपि रचनाओं में विकास की लाक्षणिकता अवश्य ही दिखाई पड़ती है तथापि विकासशील और विकास केवल परमाणुओं में ही होता हैं। इसीलिए रचना में विकास सिद्ध नहीं होता। मात्रा में स्थिरता होना ही विकास है इसका प्रमाण अस्तित्व में जीवन (चैतन्य इकाई) है। रचनाएँ विकास क्रम में है। विकास क्रम में प्रस्थापन-विस्थापन संभावित रहता है । वह अंश जो किसी परमाणु में स्वभाव गति में रहता है, उसमें प्रस्थापित होता हैं। फलत: जिसमें विस्थापन होता है उसमें ह्रास की गणना होती है और जिसमें प्रस्थापन होता है, उसमें विकास होता है अथवा समृद्ध होता चला जाता है। इसी क्रम में, परमाणु के गठन में जितने भी अंशों के समाने की आवश्यकता है, अथवा संभावना है, वह पूर्ण होते तक, उसमें प्रस्थापन के साथ विस्थापन की संभावना भी बनी रहती हैं। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि गठनपूर्णता के अर्थ में प्रत्येक परमाणु में प्रस्थापन और विस्थापन अवश्यंभावी है। यही विकास क्रम की सार्थकता भौतिक-रासायनिक वैभव के रूप में स्पष्ट है। अपरिणामिता तब सिद्ध होती है जब गठनपूर्णता हो जाती है। यही परिणाम (रूप) के अमरत्व का तात्पर्य है। परमाणु के विकास के अन्तर संबंध क्रम में यह प्रथम सफलता है। इस स्थिति में इस परमाणु में किसी भी अंश का प्रस्थापन या विस्थापन किसी भी प्रक्रिया द्वारा नहीं हो पाता। इस सत्यतावश वह परमाणु अक्षय शक्ति संपन्न हो जाता है। यही चैतन्य पद अथवा चैतन्य प्रकृति है। इस प्रकार यह अपने आप में स्पष्ट हो जाता है कि गठनपूर्णता पर्यन्त जड़ प्रकृति एवं गठनपूर्णता के अनन्तर चैतन्य प्रकृति का स्वरुप वैभवित होता है।

"सत्ता में संपृक्त प्रकृति अनन्त इकाईयों का समूह है।" प्रकृति की मूल इकाई परमाणु के रूप में जानी जाती है। क्योंकि जड़-चैतन्य प्रकृति की मूल इकाई परमाणु में ही व्यवस्था स्पष्ट है।

वातावरण और नैसर्गिकता प्रत्येक इकाई के लिए अविभाज्य होने के कारण निष्प्राण और सप्राण कोशिकाएँ परिवर्तन के लिए प्रवर्त्त है। सप्राण कोशिकाओं का इतिहास देखने से पता चलता है कि मूलत: पूर्व में कहे गये वातावरण और नैसर्गिकता के पूरकता में आये हुए एक रासायनिक अणु का सप्राण कोशिका के रूप में अवतरित होना पुन: उसी का स्वयं दो भागों में विभक्त होना तथा फिर दोनों मिलकर उनके जैसे और

कोशिकाओं का निर्माण करने की क्रिया रचनाओं के रूप में प्रकाशित हुई। इसको देखने पर वास्तविकता समझ में आती है कि मूलत: एक ही कोशिका एक ही प्रजाति की होते हुए, इस एक कोशिका के लिए वातावरण और नैसर्गिकता के अनुकूल सिद्ध हुआ।

बीज के मूल में एक ही प्रजाति की प्राण कोशिका की गवाही मिलती है। सप्राण कोशिका और निष्प्राण कोशिकाओं में देखने से यही पता चलता है कि निष्प्राण कोशिकाओं में श्वसन क्रिया नहीं होती जबकि सप्राण कोशिकाओं मे श्वसन क्रिया होती है। इसी श्वसन क्रिया के आधार पर ही सप्राण कोशिकाओं की रचना को पहचाना जाता है। वही रसायन जिसे प्राण कोशिकाओं में देखा गया, दोनों में समान होते हुए भी निष्प्राण में श्वसन क्रिया नहीं पायी जाती । इस प्रकार सप्राण कोशिकाओं और निष्प्राण कोशिकाओं की रचना और क्रिया को स्वयं मौलिक रूप में अस्तित्व में पाया जाता है। इसके तीन प्रधान कारक तत्व सिद्ध होते है। प्रथम - वे अणु, जो प्राण कोशिकाओं के रूप में कार्यरत है जिसका मूल द्रव्य रूप (रासायनिक गठन) है, द्वितीय - वातावरण और तृतीय - नैसर्गिकता है। नैसर्गिकता का तात्पर्य जिस विधि से उस इकाई पर दबाव पड़ा हो उससे है। वातवारण का तात्पर्य इकाई पर प्रभावित दबाव से है। इस प्रकार तीनों कारक तत्व स्वयं स्पष्ट है। बीजानुषंगीयता के क्रम में बीजों के आधार पर रचना (वृक्ष) को और रचनाओं (वृक्षों) के आधार पर बीजों को पहचानने का विश्वास किया जाता है। बीजों के ऊपर ध्यान दें तो पता चलता है कि उसके स्तुषी (अंकुर का मूल रूप) में संपूर्ण रचना (वृक्ष) का स्वरुप नियम और संगति बद्ध रूप में होना पाया जाता है। नियम बद्ध होने का तात्पर्य यह है कि पूर्व रचनाक्रम का अनुकरण करने की क्षमता का होना। संगति बद्ध का तात्पर्य योग संयोग को पाकर अंकुरण में प्रवृत्त होने की योग्यता से है। इसी तथ्यवश प्रत्येक बीज में अनुकूल भूमि और वातावरण को पाकर रचना होने की व्यवस्था रहती हैं। इस क्रम में इसी पृथ्वी पर अनेक बीज और रचनाएँ देखने में आती हैं। इससे स्पष्ट होता है कि सर्वप्रथम एक कोशिका ही अनके कोशिकाओं में परिवर्तित हुई, वह एक ही प्रजाति की रही है। पुन: विभिन्न मापदण्डों के आधार पर अर्थात् प्राण सूत्र में पाये जाने वाले अनुसंधान प्रवृत्ति, वातावरण और नैसर्गिक दबाव के क्रम में अनेकानेक प्रकार की रचनाएँ और बीज इस वर्तमान में धरती पर समृद्ध हुई।

"रचना संपूर्ण विकास नहीं" क्योंकि "जो जिससे बना होता है वह उससे अधिक नहीं होता।" संपूर्ण प्रकृति में भौतिक, रासायनिक, अणु और प्राण कोशिकाओं की रचना प्रसिद्ध है। इन कोशिकाओं की संयुक्त रचना में भी उतने ही गुण विद्यमान रहते हैं। जैसे लोहे से बनी हुई छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी रचना लोहे से न कम और न अधिक होती है। अधिक-कम का मतलब उनके "त्व" (जैसे लोहे में लौहत्व) से हैं। इसी प्रकार वृक्षत्व, लौहत्व, मानवत्व इत्यादि। "त्व" का तात्पर्य इकाई की मौलिकता है। मौलिकता

स्वभाव होती हैं। प्रत्येक इकाई में जैसा पहले कहा गया-गाय, घोड़ा आदि में उन के स्वभाव को कम से कम उन-उन रचनाओं को शरीर आयु पर्यन्त स्थिर रखने के क्रम में ही वंशानुषंगीयता स्पष्ट होती गयी। यह एक विलक्षण स्थिति सम्मुख होती है कि इस धरती पर मानव के अतिरिक्त सभी रचनाओं (अवस्थाओं) यथा पदार्थावस्था, प्राणावस्था एवं जीवावस्था में देखने पर पता चलता है कि लोहा जब तक रहता है तब तक उसके त्व में अर्थात् लौहत्व में वैपरीत्यता नहीं होती। उसी भाँति आम, बाघ, भालू, गाय आदि में भी वैविध्यता नहीं होती। जबकि मानव को देखें तो पता चलता है कि इसके विपरीत अर्थात् मानवत्व के विपरीत स्थिति में अधिकतम व्यक्ति प्रकाशित है। तात्पर्य यह कि मानव ही इस धरती पर ऐसी एक इकाई है जो मानवत्व के विपरीत कार्य, व्यवहार-विन्यास करते हुए भी अपने को श्रेष्ठ और विकसित होने का दावा करता है। जैसे अधिकतम शोषण एवं युद्ध में समर्थ व्यक्ति, परिवार, समाज अथवा राष्ट्र को विकसित समझा जा रहा है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि मानव अपने त्व को वंशानुषंगीयता में खोजने के अरण्य में भटक गया है या मिटने की तैयारी में आ गया है। मानव का वर्चस्व वंशानुषंगीयता में उज्जवल एवं अनुकरण होने की व्यवस्था होती तब क्या होता? या तो वंशानुषंगीयता के समर्थक कहलाने वालों के अनुसार मानव के पूर्वज जैसे बन्दर थे वे मानव क्यों बन गये? बदल क्यों गये? या तो बदलना को विकास समझ लें। इसी प्रकार, पूर्व पीढ़ी का ज्ञान दूसरी पीढ़ी को बिना समझे व सीखे क्यों नहीं आता? यह उन मनीषियों के लिए विचार करने का एक मुद्दा है।

पदार्थावस्था परिणामकारिता के साथ अथवा परिणाम बीज के रूप में देखी जाती है क्योंकि पदार्थ में मात्रात्मक परिवर्तन के बिना गुणात्मक परिवर्तन नहीं होता और पदार्थावस्था में जो कुछ भी तात्विक परिवर्तन है, वह सब किसी न किसी पद के अर्थ को स्पष्ट करता है । ऐसा प्रत्येक पद विकास के क्रम में कड़ी के रूप में दृष्टव्य है यह कड़ी स्वयं ही विकास का साक्ष्य है। इस प्रकार पदार्थावस्था में जितनी भी संख्या में तात्विक रूप की व्यवहारिक व्यवस्था है, वह स्वयं में स्थिर और निश्चित है। जब वह पदार्थ प्राणावस्था में होता है उसे हम विकास की संज्ञा भाषा रूप में देते हैं। अपेक्षाकृत अर्थात् पदार्थावस्था की अपेक्षा में प्राण कोशिकाओं की जाति प्रजाति कम होने से हैं। दूसरी, परिणामानुषंगीय बीजानुषंगीयता में गण्य हो जाती हैं। पदार्थावस्था में से प्राणावस्था अपनी मौलिकता सहित वैभवित होने के पश्चात् पुन: पदार्थावस्था में परिवर्तित होने की व्यवस्था है।

इसी कारणवश प्राणावस्था, पदार्थावस्था की अपेक्षा विकसित हुई सी दिखते हुए भी पदार्थावस्था की अपेक्षा में उसकी स्थिरता और निश्चयता घट जाती है, जबकि संक्रमित विकास यदि होता तो पदार्थावस्था से प्राणावस्था में स्थिरता और निश्चयता अधिक उजागर होनी थी, किन्तु ऐसा नहीं हुआ। अपितु पदार्थावस्था

की अपेक्षा में प्राणावस्था की वैविध्यता घट गयी। धरती पर प्राणावस्था और जीवावस्था का प्रगटन ही ज्ञानावस्था के प्रगटन का आधार बना है। पदार्थावस्था में संगठन-विघटन की अपेक्षा प्राणावस्था में रचना की गति तेज है। पदार्थावस्था ही उदात्तीकरण होकर प्राणावस्था के रूप प्रगट होती है। अर्थात् प्रकृति में मनुष्येत्तर प्रकृति के प्रगटन का प्रयोजन ज्ञानावस्था का प्रकटन ही है। जो जीवन और शरीर के संयुक्त रूप में है। इसको समझने से मानव को धरती पर अपराध करना बनता नहीं है।

जीवावस्था को देखें तो प्राणावस्था में उसमें कम वैविध्यता दिखाई पड़ती है साथ ही यह देखने को मिलता है कि नैसर्गिकता और वातावरण के दबाव में आकर जो वंशानुषंगीयता की स्थिरता रही है, उसको वह बदल देता हैं। जैसे कुत्ता, बिल्ली, गाय पशु आदि मानव के नैसर्गिक दबाव में आकर अपने वंशानुषंगी कार्यकलाप से भिन्न कार्यकलाप करने लगते है इससे पता चलता है कि प्राणावस्था से जीवावस्था में वंशानुषंगीयता की अस्थिरता अथवा अनिश्चयता बढ़ गई तथा वैविध्यता घट गई।

मानव को देखें तो पता चलता है कि मानव में वैविध्यता नहीं के बराबर रह गई। किन्तु इनमें वंशानुषंगीय अस्थिरता चरमावस्था में पहुँच गई। जैसे चोर का बेटा चोर हो ऐसा आवश्यक नहीं। विद्वान की संतान ने विद्वता का अनुकरण नहीं किया, जबकि मूर्ख की संतान विद्वान भी होती है। आश्चर्य की बात है कि मानव फिर भी स्वयं को वंशानुषंगीयता का दावेदार, प्रणेता मान रहा है। यह कितनी दयनीय स्थिति है? जिन वंशानुषंगीयता के आधार पर प्रतिवर्ष ही अनेक निबंध, प्रबंध तैयार हो रहा है ये कहाँ तक मानवोपयोगी है?

"विकास के क्रम में ही पदों की गणना है।"

पदार्थावस्था एक पद है, जिसमें परमाणुओं का तथा विभिन्न प्रजातियों के परमाणुओं के कार्य विन्यास को देखा जाता है जो भौतिक और रासायनिक रूप में परिगणित होते हैं। यही संपूर्ण पदार्थों की वैविध्यता के मूल में तथ्य हैं। संपूर्ण पदार्थों में सजातीय विजातीय परमाणुओं का योग (मिलन) होता है। ऐसे योग के मूल में प्रत्येक परमाणु में अपने आप में एक दूसरे से मिलने का अथवा जुड़ने का बल समाहित रहता है । ऐसे परमाणु में होने वाले गठन के मूल में भी यही तथ्य सिद्ध होता हैं। अरूपात्मक अस्तित्व (सत्ता, व्यापक) में रूपात्मक अस्तित्व संपृक्त रहने के फलस्वरुप ही बल संपन्नता अभिव्यक्त है। अस्तित्व स्वयं रूप-अरूप की अविभाज्य स्थिति होने के कारण इस बात का प्रमाण है कि संपूर्ण रूपात्मक अस्तित्व, अरूपात्मक अस्तित्व में घिरा हुआ दिखाई पड़ता है। यह घिरा हुआ स्वयं प्रत्येक इकाई के नियंत्रण को स्पष्ट कर रहा है, क्योंकि प्रत्येक इकाई अर्थात् अणु-परमाणु और परमाणु में निहित अंश भी परस्पर निश्चित

दूरी, जो अरूपात्मक अस्तित्व ही है, में नियन्त्रित रहते हैं। अर्थात् नियन्त्रण की अवस्था में प्रत्येक इकाई आवेश में नहीं होती है, यही स्वभाव गति है। आवेश में ह्रास होने की संभावना अपने आप समीचीन होती हैं। यही आवेश का साक्ष्य है।

जड़ प्रकृति और चैतन्य प्रकृति इस धरती पर गण्य होते हैं। जड़ प्रकृति में पदार्थावस्था प्राणावस्था गण्य है। चैतन्य प्रकृति में जीवावस्था तथा ज्ञानावस्था गण्य है। पदार्थावस्था में परमाणु की पहचान होती है। इन परमाणुओं की स्थिति ही स्वयं विकास की अभिव्यक्ति हैं। इसी क्रम में परमाणु विकसित होकर अविकसित परमाणुओं को पहचानने की योग्यता से संपन्न होता हैं। ऐसे परमाणु चैतन्य पद में होते हैं। यही विकास की महिमा हैं। इसी क्रम में चैतन्य प्रकृति अर्थात् गठनपूर्णता प्राप्त परमाणु में पाँचों शक्तियाँ और पाँचों बल अक्षय रूप में समाहित रहते हैं। उसकी जागृति पूर्ण अभिव्यक्ति पर्यन्त गुणात्मक विकास के लिए चैतन्य इकाई प्रवर्त्त है। नियंत्रण जड़-चैतन्यात्मक प्रकृति के लिए समान रूप में वर्तमान है। वर्तमान का तात्पर्य अस्तित्व सहित स्थिति और प्रभाव से हैं। अरूपात्मक अस्तित्व का प्रभाव नियन्त्रण के रूप में प्रत्येक इकाई में प्रभावशील होना ही साक्ष्य है। परमाणु गठनपूर्णता पर्यन्त एक दूसरे से मिलकर अणु और रचना के रूप में प्रकाशित है।

गठनपूर्णता के अनन्तर परमाणु अपनी गति में होता है जो स्वयं में एक गति पथ को स्थापित करता है। जबकि जड़ परमाणु में परमाणु अंशों का गतिपथ स्वयं उसके गठन को गठनपूर्णता पर्यन्त प्रकाशित करता है। गठनपूर्णता के अनन्तर परणामु अंशों के गतिपथ सहित परमाणु अपनी विशालता को प्रकाशित करने के क्रम में एक पुर्नगतिपथ की स्थापना करता है जो स्वयं में एक पुंजाकर होता है। जैसे एक रस्सी के छोर में आग लगाकर घुमाने से एक अलातचक्र दिखाई पड़ता है, वैसा ही गठनपूर्ण परमाणु जितने स्थान पर अपना गति चक्र बना लेता है, वह एक पुंज रूप में प्रकाशित होता हैं। ऐसी चैतन्य इकाई अर्थात् गठनपूर्णता प्राप्त परमाणु में ये विशेषताएँ है कि वह अक्षय बल और अक्षय शक्ति संपन्न होता है।

अक्षय शक्ति और बल संपन्नता का तात्पर्य यह है कि गठनपूर्णता के अनन्तर परमाणु में अमरत्व सिद्ध होने के फलस्वरुप उसमें श्रम और गति दोनों अक्षय हो जाती हैं। यही स्वाभाविक स्थिति हैं। इसी सत्यावश गठनपूर्ण परमाणु में अभिव्यक्त होने वाले पाँचों बल पाँचों शक्तियाँ अक्षय सिद्ध होती हैं। अक्षयता का अर्थ है - क्षय न होना, अक्षुण्ण होना।

चैतन्य प्रकृति के कार्यकलापों में इस अक्षयता का साक्ष्य सिद्ध होता है। आशा और विचार को देखें तो कितनी ही आशाओं और विचारों का उपयोग करने पर वे किसी भी प्रकार घटती नहीं है। इसके विपरीत यह देखने को मिलता है कि आशा और विचारों का उपयोग सन्निकर्ष और नियोजन के रूप में करते-करते

उनकी प्रखरता और श्रेष्ठता उजागर होती जाती है। आशा जब किसी वस्तु का चयन करती है अर्थात् उसमें आस्वादनीयता को पहचानती है, तब चयन क्रिया में प्रवृत्त होती हैं। आस्वादनीयता को जब तक आशा पहचानती नहीं तब तक चयन करने की क्रिया प्रमाणित नहीं होती। आशायें कितनी भी दूर तक और पास तक क्रियाशील रहती हैं। वहाँ तक संपूर्ण क्रियायें आस्वादन को पहचानने के आधार पर ही स्पष्ट है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जड़ प्रकृति में आस्वादन की पहचान जो प्रकाशित नहीं हो पाती थी वह चैतन्य प्रकृति में सर्वप्रथम प्रकाशित हुई। चैतन्य-प्रकृति में मनोबल, आशा शक्ति के रूप में स्वयं को प्रकाशित करता हैं। वे चयन और आस्वादन की क्रियायें हैं। मनोबल, चैतन्य प्रकृति जीवन अथवा चैतन्य इकाई का एक अविभाज्य वर्तमान है। चैतन्य इकाई से पाँचों बल और पाँचों शक्तियों को अलग करके देखा नहीं जा सकता। इसी प्रकार जड़ प्रकृति तथा परमाणु में भी पाँच बल अविभाज्य वर्तमान है।

चैतन्य प्रकृति अर्थात् चैतन्य इकाई का दूसरा बल वृत्ति बल है। इसकी शक्तियाँ विचार और तुलन के रूप में प्रभावशील होती है । तीसरा बल चित्त बल = इच्छा शक्ति है जिसकी बल एवम् शक्तियाँ चिन्तन और चित्रण के रूप में प्रभावशील होती है । चौथा बल बुद्धि बल है जिसकी बल एवं शक्तियाँ बोध और संकल्प के रूप में प्रभावशील होती हैं। पाँचवां बल आत्मबल है जिसकी बल एवं शक्तियाँ अनुभव एवं प्रामाणिकता और व्यवहार में समाधान के रूप में हैं।

आत्मबल, स्वभावत: अनुभव का वैभव है। अनुभव ही अभिव्यक्ति में शक्ति अर्थात् आत्मशक्ति कहलाता है। आत्मशक्ति की पहचान प्रामाणिकता में ही होती हैं। प्रामाणिकता ही चैतन्य इकाई की जागृति और तृप्ति का साक्ष्य है। विकास का लक्ष्य सत्ता में संपृक्त प्रकृति का सत्ता में अनुभूत होने से हैं। अनुभूति स्वयं जागृति का स्वरुप हैं। जागृतिपूर्वक ही पहचान और निर्वाह करने की व्यवस्था है। पहचान और निर्वाह ही प्रामाणिकता है यही अनुभूति की अभिव्यक्ति है।

प्रत्येक परमाणु में कंपनात्मक गति होती हैं। इसका प्रमाण अणु और अणुरचित पिण्डों में संकोचन-प्रसारण के रूप में दृष्टव्य है। पदार्थावस्था के अणुओं में बाह्य दबाव के बिना संकोचन अथवा प्रसारण सिद्ध नहीं होता है जबकि प्राणावस्था की प्रत्येक प्राण कोशिका में संकोचन, प्रसारण, स्पन्दन स्वभाव के रूप में होना पाया जाता है। यह अणुओं में होने वाली स्पंदनशीलता ही प्राणावस्था की स्पष्ट पहचान है।

पदार्थावस्था से प्राणावस्था, रचना के अर्थ में विकास सा प्रतीत होता है। जब तक उस अवस्था में रहता है तब तक उसका प्रयोजन भी सिद्ध हो जाता है, जैसे प्राणावस्था की प्रत्येक कोशिका जितनी भी बड़ी रचनाएँ होती है, उसके प्रतिरुप में होती हैं। तात्पर्य यह है कि रचना में जो कोशिका का अस्तित्व है, वह उस रचना के संपूर्ण आकार का सूक्ष्म रूप है। इस प्रकार देखने पर पता चलता है कि प्रत्येक कोशिका जिस रचना

में भागीदारी निभा रही है उसकी प्रत्येक कोशिकायें उसी स्थान में होने वाली क्रिया को संपादित करती है। यही साक्ष्य है कि कोशिकाएँ रचना के संपूर्ण रूप का प्रतिरुप है।

मूल कोशिका जब पदार्थावस्था से प्राणावस्था में परिवर्तित होती है तब उसमें यह देखने को मिलता है कि पदार्थावस्था की वह कोशिका जो प्राणावस्था में परिवर्तित होनी है, रासायनिक जल के योग में आप्लावित रहती है। ऐसी आप्लावन स्थिति में किसी एक उष्मा का दबाव और नैसर्गिकता के प्रभाव के योगफल में उसमें स्पन्दनशीलता आरंभ हो जाती हैं। यह विधि पुन: कोशिका से कोशिकाएँ निर्मित होने की विधि में भी दिखाई पड़ती हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्पन्दनशीलता के समय में पवित्र रासायिनक जल, निश्चित रासायनिक अणु, वातावरण और नैसर्गिकता (ऊष्मा) के दबाव के योगफल में प्रत्येक प्राणकोशिका का निर्मित होना अर्थात् स्पन्दनशीलता में बदल जाना सिद्ध हुआ।

कोशिकाएँ रचना में, अपने-अपने स्थान में, अपने अपने स्थान पर रहकर अपनी-अपनी निश्चित क्रियाएँ करती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि एक पौधे की जड़ में जो प्राण कोशिका कार्यरत है, वह उस स्थान के अनुरुप कार्य करती है। पत्ते में, तने में, फूल में अवस्थित कोशिकाएँ उन-उन स्थानों की निश्चित क्रियाएँ करती हुई मिलती हैं। इस प्रकार प्राण कोशिकाएँ मूलत: एक ही प्रजाति की होते हुए, उस रचना के तालमेल की महिमा में ही अपने कार्य को समर्पित किये रहती है। इनमें अपने आप में कोई व्यतिरेक नहीं होता। व्यतिरेक न होने मात्र से इनकी स्थिरता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि प्रत्येक क्षण में एक पौधे में कई कोशिकाएँ मर जाती है और इसी क्षति पूर्ति के लिए संवेदन के लिए और भी समानधर्मी कोशिकाएँ निर्मित होती है । इसी क्रम में संपूर्ण प्राणावस्था की रचनाएँ संपादित होते रहती है। इनकी परस्पता का तालमेल और सामरस्यता इनका स्पन्दन ही है। यही स्पन्दन एक दूसरे के कार्य के साथ जुड़े रहने की व्यवस्था है। ये संकोचन-प्रसारण ही तरंग और दबाव का कार्य करते हुए एक दूसरे के साथ व्यवस्था बनाये रखती है। इस समस्त प्रक्रिया में प्राण कोशिका में होने वाली संकोचन की स्थिति में दबाव, प्रसारण की स्थिति में तरंग के रूप में प्रभावशील रहती हैं। इसी सत्यतावश संपूर्ण प्राणावस्था की इकाई विद्युतग्राही सिद्ध हुई।

मात्रा और उसका स्वरुप

मात्रा रूप, गुण, स्वभाव, धर्म का अविभाज्य वर्तमान है। कोई ऐसी इकाई नहीं है जिसमें रूप, गुण, स्वभाव, धर्म न हो। मात्रा का मूल रूप परमाणु में ही आंकलित होता है क्योंकि परमाणु ही तात्विक रूप में अस्तित्व में निश्चित आचरण सहित व्यवस्था व समग्र व्यवस्था में भागीदारी प्रकाशमान है। उसके पूर्वरुप और पर-रूप में मात्रा की अस्थिरता तात्विकता (परमाणु) के अपेक्षाकृत बढ़ जाती हैं। सिद्धांत है कि

तात्विक रूप में जो परमाणु अपनी स्थिति में जितने समय तक रह पाता है, वह उतने समय तक अणु के अथवा परमाणु के पूर्व रूप में नहीं रह पाता। प्रकृति में परमाणु के अंशों के रूप में, पदार्थ की स्थिति नगण्य रूप में हैं। कोई भी पदार्थ अधिकतम संख्या में अणु और अणुओं की रचना के रूप में ही मिलता है । इनमें से मात्रा का अध्ययन परमाणु का अपने स्वरुप में सम-विषम-मध्यस्थ शक्तियों से संपन्न रहने की नियति क्रम व्यवस्था हैं। परमाणु में ही संपूर्ण बल व्यवहृत होता हुआ देखने को मिलता है । पर-रूप अर्थात् अणु अथवा अणु रचित पिण्डों में मध्यस्थ बल दिखाई नहीं पड़ता। इसी कारणवश परमाणु में ही पाँचों बलों का अध्ययन-अध्यापन सुलभ हुआ है।

मध्यस्थ क्रिया अपने-आप में मध्यस्थ बल और शक्ति के रूप में है। इसकी स्थिति परमाणु के केन्द्र में होती हैं। यह अविरत रूप में सम-विषम शक्तियों पर नियन्त्रण किये रहता है। चैतन्य प्रकृति और जड़ प्रकृति में मौलिक रूप से यह अन्तर पाया जाता है कि जड़ प्रकृति में परमाणु अणु और अणु रचित पिण्डों के रूप में प्राप्त होते है जबकि चैतन्य प्रकृति परमाणु के रूप में ही वर्तमान रहती है। चैतन्य परमाणु में ही अक्षय शक्तियाँ होने के कारण प्रत्येक इकाई अपने में जीवन वैभव और महिमा का अनवरत प्रकाशन करती है। जड़ शक्तियाँ क्षरणशील होती है और चैतन्य शक्तियाँ अक्षय होती है। इसी तथ्यवश चैतन्य इकाई में परावर्तन और प्रत्यावर्तन स्वाभाविक रूप में होता है।

जड़ शक्तियाँ में पाँच बल
1. विद्युत-चुम्बकीय बल
2. गुरुत्वाकर्षण बल
3. सामान्य (क्षीण) हस्तक्षेप
4. सबल हस्तक्षेप
5. मध्यस्थ बल

चैतन्य शक्तियाँ	
अक्षय बल	**अक्षय शक्ति**
मन	आशा
वृत्ति	विचार
चित्त	चित्रण
बुद्धि	संकल्प
आत्मा	अनुभूति

मध्यस्थ क्रिया के अनुरुप में ही प्रत्येक इकाई में स्वभाव गति का होना पाया जाता है। परिणामत: उसमें अग्रिम विकास की संभावना और विकास क्रम में भागीदारी सुलभ हो जाता है।

प्रत्येक परमाणु में रूप, गुण, स्वभाव और धर्म वर्तने के कारण ही उनमें ऊर्जा का परिचय होता है। ऊर्जा जब कार्य ऊर्जा के रूप में होता है तभी बलों का परिचय हो पाता है। ऐसी स्थिति के लिए एक से अधिक इकाईयों की परस्परता अनिवार्य सिद्ध होती हैं। परमाणु अपनी स्थिति में क्रियारत होते हुए मिलता है। परमाणु में निहित बल का परिचय उसकी अपनी ही स्थिति में उसी के अन्तर्गत होने वाली क्रिया की ही अभिव्यक्ति है। प्रत्येक इकाई किसी का वातावरण और प्रत्येक इकाई के लिए अन्य का वातावरण नित्यभावी होने की सत्यता को ध्यान रखते हुए परस्पर बलों का परिचय पाने की व्यवस्था है। इसी क्रम में विकास की व्यवस्था एवं विकासक्रम में भागीदारी है। गठनपूर्णता पर्यन्त परमाणु में मात्रात्मक परिवर्तन के साथ ही अर्थात् अंशों की संख्या में परिवर्तन होने के साथ ही उनमें गुण परिवर्तन होते हुए देखा जाता है।

इस प्रकार मात्रा की गणना मूलत: परमाणु में आंकलित होना सिद्ध हुआ और अणु तथा अणुरचित मात्राएँ इन्हीं परमाणु के आधार पर होने वाली घटना होने के कारण परमाणु मूल मात्रा होना एवं रहने को समझ लेने मात्र से संपूर्ण पिण्डों का मात्रा के रूप में समझने का सूत्र अपने आप में निकल जाता है। परमाणु से रचित पिण्डों में होने वाले चारों आयामों का प्रकाशन इस प्रकार होना पाया जाता है:-

1. आकार, आयतन, घन के अर्थ में रुप ।
2. सम, विषम, मध्यस्थ के अर्थ में गुण (शक्तियाँ) ।
3. रचना, रचना की परंपरा, विरचना के रूप में स्वभाव (मौलिकता) ।
4. स्वभाव- (i) पदार्थावस्था में - संगठन-विघटन
   (ii) प्राणावस्था में - सारक-मारक
   (iii) जीवावस्था में - क्रूर-अक्रूर
   (iv) ज्ञानावस्था में - धीरता, वीरता, उदारता, दया, कृपा, करूणा।
5. अस्तित्व, पुष्टि, आशा और अनुभूति (सुख, शांति, संतोष, आनंद) सहज अर्थ में धर्म है।

इस प्रकार जड़ प्रकृति में रूप और गुण, गणित एवं गुण के द्वारा समझ आता है । स्वभाव व धर्म अस्तित्व में गुण और कारण द्वारा समझ में आते है। धर्म अस्तित्व में ही नित्य वैभवित रहता है। अस्तु, अस्तित्व में मात्रा की समझ के लिए केवल गणित की भाषा पर्याप्त सिद्ध नहीं हुई क्योंकि "गणित आंखों से अधिक

एवं समझ से कम होता है।" इसीलिए चैतन्य प्रकृति गणितीय भाषा से व्याख्यायित नहीं हो पाती। इसीलिए हम गुण और कारणात्मक भाषा को भी सीखने के लिए बाध्य है।

गुण, घटनाओं के रूप में परस्पर वर्तमान होता हुआ देखा जाता है। जड़ प्रकृति में समविषमात्मक प्रभाव परस्पर इकाईयों में पड़ता है और स्वयं के समषमात्मक आवेशों को सामान्य बनाने के क्रम में मध्यस्थ शक्ति को कार्यरत होना देखा जाता है। कार्य ऊर्जा बढ़ना ही सम-विषम आवेश है इसी आवेश को सामान्य बनाने के लिए छिपी हुई ऊर्जा प्रभावशील रहती है, जबकि चैतन्य प्रकृति में समाधान और प्रमाणिकता के रूप में मध्यस्थ क्रिया प्रभावशील होती है। समाधान और प्रमाणिकता ही मानव परंपरा के रूप में स्वीकार है। इससे पता चलता है कि चैतन्य प्रकृति में ही मध्यस्थ क्रिया की पूर्ण प्रभावशाली परंपरा होने की व्यवस्था है। इसीलिए विकास होता है।

स्वभाव और धर्म को कारण-कार्य एवं कार्य-कारण पद्धति से समझने की व्यवस्था हैं। स्वभाव प्रत्येक इकाई में अर्थात् जड़-चैतन्यात्मक इकाई में मूल्यों के रूप में वर्तता है। मूल्य प्रत्येक इकाई में स्थिर होता हैं। धर्म अविभाज्य होता हैं। इसी कारणवश मानव में समझने की व्यवस्था है। किसी घटना के मूल के लिए सब आवश्यकीय सघन कारक तत्वों को स्पष्ट कर देना ही गुणात्मक भाषा हुई, जैसे :-

अव्यवस्था = दर्द = समस्या = गुणात्मक भाषा।

अव्यवस्था के कारक तत्व की समझ = घटना का अध्ययन

समस्या का कारण = कारणात्मक भाषा।

इसी तरह,

व्यवस्था की समझ = सुख = समाधान = गुणात्मक भाषा।

व्यवस्था के कारक तत्व की समझ = घटना का अवयव = नियतिक्रम = समाधान का कारक = कारणात्मक भाषा।

इस गवाही के साथ ही विकास का अभीष्ट स्पष्ट हो जाता है।

समाधान ही विभव का आधार हैं। समाधान पूर्वक ही प्रत्येक विकास की कड़ी अपने आप में प्रकाशित होती हैं। यही समाधान नित्य परंपरा और त्राण तथा प्राण होने के कारण यह स्पष्ट हो जाता है कि समाधान के पद में ही विकास और उसकी निरन्तरता का वैभव है। इस प्रकार मध्यस्थ क्रिया का स्वयं व्यवहारिक समाधान के रूप में नित्य प्रभावशील होना ही स्थिति के अर्थ को स्पष्ट कर देता है। समविषमात्मक आवेश निरन्तर समस्या का ही प्रकाशन है | इस तथ्य को हृदयंगम करने पर असंदिग्ध रूप में स्पष्ट हो जाता है कि संपूर्ण प्रकृति स्थिति में स्वभाव गति प्रतिष्ठा में ही रहती है जो मध्यस्थ क्रिया "आत्मा" के अनुशासन में

होने वाली क्रिया है। यही अनुशासन मध्यस्थ क्रिया बल के रूप में अनुभव, शक्ति के रूप में प्रामाणिकता होती है। यह चैतन्य क्रिया की अभिव्यक्ति में होने वाला वैभव है। प्रत्येक चैतन्य क्रिया की प्रामाणिकता प्रकाशित होने की संभावना रहती हैं। उन संभावनाओं को सर्व सुलभ, सहज सुलभ बना लेना ही पुरुषार्थ का तात्पर्य है। शिक्षा पूर्वक अथवा प्रबोधन पूर्वक प्रामाणिकता आदान-प्रदान करने की वस्तु है। चैतन्य प्रकृति में ही समाधान की नित्य तृषा का होना एवं समाधानपूर्वक नित्य तृप्ति होना पाया जाता है। समाधान और उसकी निरन्तरता के अर्थ में ही संपूर्ण पदार्थ और संबंध का निर्वाह हो पाता है। समाधान ही जीवन सन्तुष्टि का स्रोत होने के कारण समाधान और प्रामाणिकता की परंपरा में ही चैतन्य प्रकृति की परंपरा अथवा संपूर्ण चैतन्य प्रकृति के तृप्त होने की व्यवस्था है। इस निष्कर्ष पर आते है कि चैतन्य प्रकृति में आदान-प्रदान होने वाली, पहचानने और निर्वाह करने की संयुक्त संप्रेषणा की स्वीकृति ही बोध के नाम से जानी जाती हैं। इसी को हृदयंगम कहा जाता है और ऐसा बोध ही अवधारणा है।

चैतन्य इकाईयों में पाया जाने वाला अक्षय बल और शक्तियों की सामरस्यता (प्रामाणिकता और समाधान) स्वयं की परस्परता में और परस्पर इकाईयों में त्रिकालाबाधित साम्य हैं। ऐसी सामरस्यता सार्वभौम रूप में, हम मानवों में प्रामाणिकता और समाधान संपन्न होने की व्यवस्था समीचीन है। यही संपूर्ण अनुसंधान, शिक्षा, व्यवस्था, चरित्र और उसकी निरन्तरता का अक्षय स्रोत हैं। मात्रा विज्ञान, भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान, मनोविज्ञान, व्यवस्था विज्ञान और व्यवहार विज्ञान के मूल रूप में यही प्रमाणिकता और समाधान ही अक्षय स्रोत अक्षय त्राण और अक्षय प्राण है।

शिक्षा-संस्कार ही बोध और अवधारणा का एकमात्र स्रोत है। ऐसे स्रोत को सार्थक रूप देने, उसमें प्रामाणिकता और समाधान की निरन्तरता को बनाये रखना चैतन्य प्रकृति में, से ज्ञानावस्था की इकाई का दायित्व और वैभव होता हैं। जड़ प्रकृति में अंशों का आदान-प्रदान होता हैं। परमाणुओं के स्तर में जिसमें प्रस्थापन होता है वह पहले से ही सामान्य गति में रहता है, जिसमें विस्थापन होता है उसके अनन्तर वह भी सामान्य गति में होना पाया जाता है। सामान्य गति में होने के लिए निरन्तर मध्यस्थ क्रिया में बल समाहित रहता है जिसे हम छिपी हुई ऊर्जा कहते है।

स्वनियंत्रण के अर्थ में ही मध्यस्थ शक्ति क्रियाशील होती है। नियन्त्रण में ही प्रत्येक जड़-चैतन्यात्मक इकाई सुरक्षित रह पाती हैं। अर्थात् उसका अस्तित्व यथावत् बना रहता है। चैतन्य प्रकृति में नियन्त्रण को समाधान और उसकी निरन्तरता के अर्थ में देखा जाता है। इसी बिन्दु में भौतिकता, बौद्धिकता और अध्यात्मिकता का अविभाज्य वैभव दिखाई पड़ता है क्योंकि चैतन्य परमाणु अनुभव पूर्वक ही जागृत होता है। फलत: समाधान का प्रेणता, उद्‌गाता और प्रबोधक हो पाता है। इसी के परिणाम स्वरुप प्रबोधनपूर्वक,

बोध के रूप में दूसरे में इंगित होना भी व्यवहार में देखा जाता है। इसीलिए पदार्थ ही निश्चित विकास के पद में जागृत होने, मध्यस्थ क्रिया से "स्व" का नियन्त्रित होने और मध्यस्थ सत्ता में परस्पर निश्चित दूरी के रूप में संरक्षित रहने की सत्यता अपने आप स्पष्ट होती है। चैतन्य इकाई में मध्यस्थ बल स्वयं आत्मबल और मध्यस्थ शक्ति ही अनुभव और प्रामाणिकता है। जीवन जागृति की स्थिति में बोध, जीवन की अविभाज्य उपलब्धि हो जाती है और अध्यात्मिकता अर्थात् अरूपात्मक अस्तित्व में ओत-प्रोत रहने का बोध परस्पर अच्छी दूरी और ज्ञानमयता अर्थात् चेतनामयता के रूप में स्पष्ट होता हैं। इस प्रकार बौद्धिक, भौतिक और अध्यात्मिकता अविभाज्य वर्तमान है।

जागृत जीवन संचेतना अर्थात् संज्ञानीयता में नियंत्रित संवेदनायें प्रकाशित होने वाला अनुभव बल ही बोधपूर्वक विचार शैली में, विचार शैली जीने की कला के रूप में परावर्तित होता है। संचेतना में पाँचों अक्षय बल तथा शक्तियाँ निरन्तर कार्यरत रहती हैं। संचेतना शरीर के माध्यम से प्रकाशमान होने मात्र से शरीर जीवन नहीं होता। संचेतना की अभिव्यक्ति प्रत्येक मानव में होती हैं। संचेतना पहचानने व निर्वाह करने के रूप में परिलक्षित है। पहचानने तथा निर्वाह करने के क्रम में ही जागृति के क्रम में अर्थात् अस्तित्व और विकास को पहचानना बुनियादी आवश्यकता हैं। जागृति, विकास की परम अवस्था हैं। परमाणु में विकास होने की व्यवस्था हैं। जागृति का तात्पर्य अस्तित्व में अनुभूत होना ही हैं। सत्ता में संपृक्त प्रकृति का सत्ता में अनुभूत होना ही अस्तित्व का उद्देश्य हैं। इस को समझने पर ही विकास की यात्रा भी समझ में आती हैं। अस्तित्व के संबंध में जितना भ्रमित रहेंगे उतना ही लक्ष्य के संबध में भ्रमित रहेंगे। इसी को दूसरी प्रकार से देखें तो अस्तित्व में निर्भ्रमता ही लक्ष्य के प्रति निर्भ्रम होने का आधार है। इस प्रकार अस्तित्व, लक्ष्य और विकास के संबंध में निर्भ्रम हो जाना ही विवेक और विज्ञान का प्रयोजन है। इस क्रम में यह स्पष्ट हो जाता है कि सत्ता में संपृक्त प्रकृति का सत्ता में अनुभूत होने पर्यन्त विकास के लिए बाध्य होना "अस्तित्व सिद्ध सत्य" हुआ। यह स्वयं जड़-चैतन्यात्मक प्रकृति का लक्ष्य है। पदार्थ अवस्था से प्राणावस्था बिना दिग्भ्रम के विकसित हुई। जीवावस्था से ज्ञानावस्था के निर्भ्रम होने के क्रम में ही मानव अपने को भ्रमित पाता है। इसका संपूर्ण कारण शरीर को जीवन समझना ही है अक्षय बल एवं अक्षय शक्ति संपन्न होने के कारण प्रत्येक मानव जीवन क्षमता की स्थिति में समान हैं। यह समानता हर स्तर में समन्वय होने पर्यन्त लक्ष्य विहीन होने के कारण विरोधाभासी प्रतीत होती है, तब विरोध का विरोध और विरोध के दमनकारी कार्यकलापों में प्रवृत्त हो जाता है। जबकि विरोध का विजय ही जागृति का साक्षी है। संपूर्ण विरोधाभास केवल अस्तित्व, अस्तित्व में विकास और जीवन के भूलाने का परिणाम है।

जीवन के भुलावेवश ही अथवा जीवन विद्या का भुलावा अथवा अज्ञात रह जाना ही शरीर को जीवन समझने की विवशता है। तभी हम सोचने के लिए बाध्य हो जाते है शरीर में होने वाली क्रिया को जीवन का सोना (निद्रा) मान लेते है। जबकि ऐसा होता नहीं है। इसका साक्ष्य है कि जड़-चैतन्यात्मक कोई परमाणु निष्क्रिय नहीं होता अर्थात् सतत क्रियारत रहता है।

चैतन्य क्रिया शरीर की अक्षमता को जानकर इसे चलाने और दौड़ाने की प्रेरणा की अक्षयता स्वभाव सिद्ध होते हुए शरीर द्वारा जितना कार्य कराना है अथवा शरीर जितना कार्य करने योग्य है उतना ही कराता है। इस प्रकार शरीर का सो जाना जीवन का सो जाना नहीं हुआ। शरीर के लिए आहार, निद्रा आदि क्रियाओं का प्रयोजन सिद्ध होता हैं। जीवन के लिए मूल्य और मूल्यांकन ही व्यवहारिक प्रयोजन सिद्ध होता है। शरीर निर्वाह ही जीवन तृप्ति नहीं है। जीवन की अनुग्रह बुद्धि से ही शरीर निर्वाह की व्यवस्था हो पाती हैं। अस्तु, हम इस निष्कर्ष पर आते है कि शरीर जीवन नहीं है, जीवन शरीर नहीं है। जीवन नित्य है, जीवन के लिए शरीर एक साधन है और माध्यम है।

जीवन में संचेतना का वैभव प्रकाशमान होता है। विकास के क्रम में जितने भी पद देखने को मिलते है जैसे - प्राण पद, भ्रांति पद, देव पद और दिव्य पद - इन पदों में जड़-चैतन्यात्मक प्रकृति क्रियारत है। इनमें जीवन, संचेतना के रूप में अथवा क्रिया के रूप में अभिव्यक्त रहता ही है। जीवन एक परमाणु के रूप में होते हुए गठनपूर्ण होने के कारण उसका वैभव गठनशील परमाणुओं के सदृश नहीं होता। अस्तु, हम इस निष्कर्ष पर आते है कि अस्तित्व स्थिर होने के कारण जड़ परमाणु ही विकसित होकर चैतन्य पद में संक्रमित हो जाता है जो किसी भी कारण से पुन: जड़ परमाणु में नहीं बदलता। यही चैतन्य परमाणु, अक्षय बल अक्षय शक्ति संपन्न होने के कारण अपनी अक्षयता को गुणात्मक विकास और जागृति ही अस्तित्व में अनुभव पूर्वक स्वयं की अक्षयता को सिद्ध कर देता है। यही अस्तित्व में परमाणु का विकास और जागृति ही उसकी निश्चयता है।

ज्ञानावस्था में पाँच मानव

मानव	स्वभाव	विषय	दृष्टि	प्रमाण
पशु मानव	दीनता प्रधान, हीनता, क्रूरता	आहार, निद्रा, भय, मैथुन	प्रिय, हित, लाभ	अव्यवस्थाओं का प्रकाशन = भ्रांत मानव
राक्षस मानव	क्रूरता प्रधान, हीनता, दीनता	आहार, निद्रा, भय, मैथुन	प्रिय, हित, लाभ	अव्यवस्थाओं का प्रकाशन = भ्रांत मानव
मानव	धीरता, वीरता, उदारता	वित्तेषणा, पुत्रेषणा, लोकेषणा सहित	न्याय प्रधान, समाधान, सत्य	व्यवस्था, शिक्षा आचरण में सामरस्यता = स्वराज्य में प्रवृत्ति
देवमानव	दया, धीरता, वीरता, उदारता	लोकेषणा सहित उपकार प्रवृत्ति	न्याय व धर्म प्रधान, सत्य	स्वराज्य में निष्ठा स्वतंत्रता में प्रवृत्ति
दिव्य मानव	दया, कृपा, करुणा	पूर्ण जागृति उपकार प्रधान	सत्य प्रधान, धर्म व न्याय	मुक्त जीवन और स्वराज्य व स्वतंत्रता = निर्भ्रांत मानव

प्रकृति सहज चार अवस्थाएं (परस्पर पूरक)

अवस्था	**रूप**	**क्रिया**	**स्वभाव**	**धर्म**	**अनुषंगी (प्रवृत्ति)**
पदार्थावस्था	मिट्टी, पत्थर, मणि, धातु	रचना-विरचना	संगठन-विघटन	अस्तित्व	परिमाणानुषंगी प्रवृत्ति
प्राणावस्था	पेड़-पौधे, लता, गुल्म	श्वसन-प्रश्वसन	सारक-मारक	अस्तित्व सहित पुष्टि	बीजानुषंगी
जीवावस्था	पशु-पक्षी	वंश केंद्रित	क्रूर-अक्रूर	अस्तित्व, पुष्टि सहित जीने की आशा	वंशानुषंगी प्रवृत्ति
ज्ञानावस्था	मनुष्य	समझदारी केंद्रित आहार, विहार, कार्य-व्यवहार	धीरता, वीरता, उदारता, दया, कृपा, करुणा	अस्तित्व, पुष्टि, जीने की आशा सहित सुख	संस्करानुषंगी (समझदारी के अनुसार प्रवृत्ति)

अस्तित्व में व्यवस्था = सह-अस्तित्व

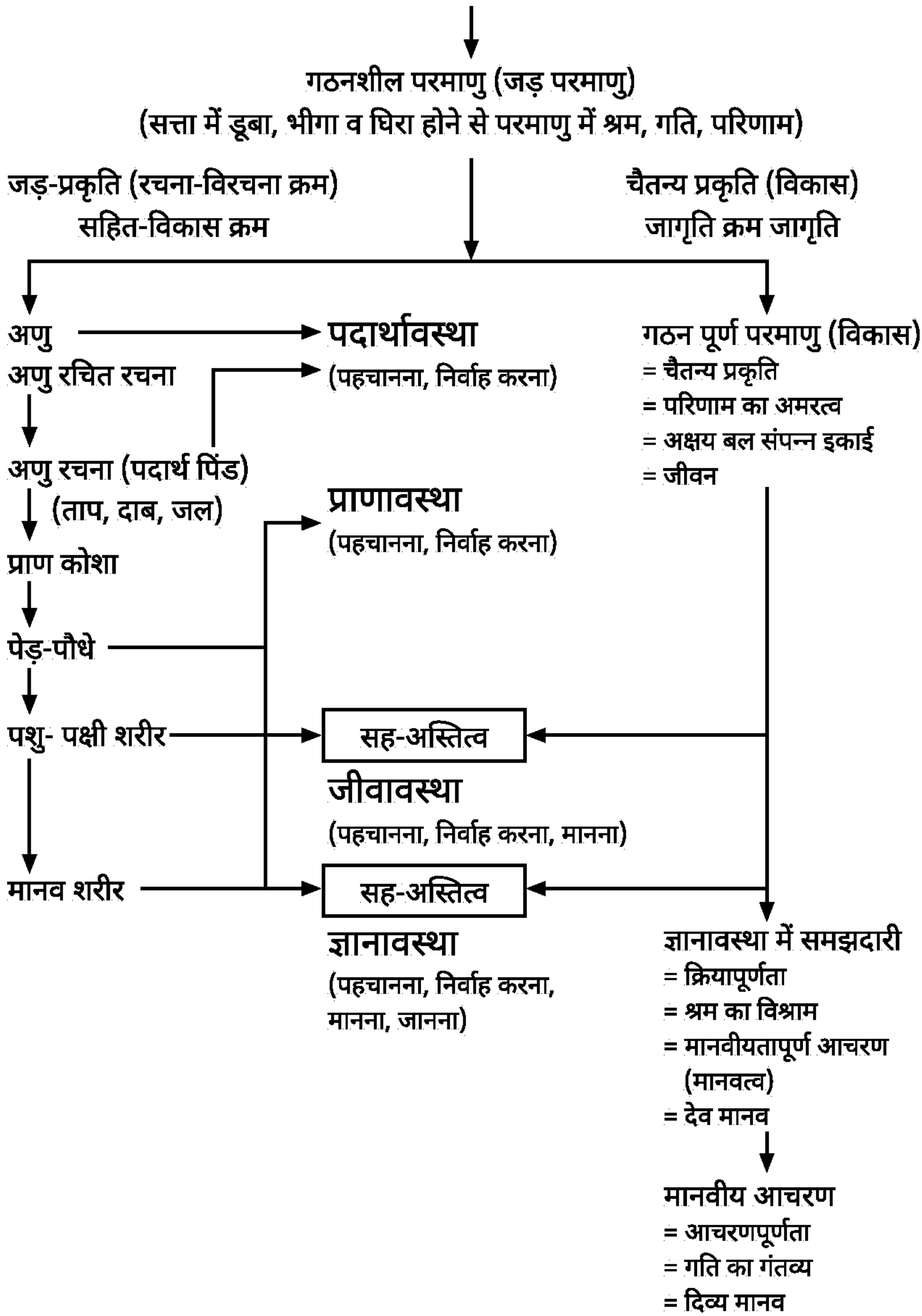

अध्याय - 6

सहअस्तित्व पूरकता और व्यवस्था

इस अध्याय में युद्ध के स्थान पर सहअस्तित्व, शोषण के स्थान पर पूरकता, अव्यवस्था के स्थान पर व्यवस्था और संग्रह के स्थान पर समृद्धि के लिए प्रेरणा है।

"समाधानात्मक भौतिकवाद" भौतिक-रासायनिक वस्तुओं को व्यवस्था के रूप में अध्ययनगम्य कराता है।

अस्तित्व ही अध्ययन की संपूर्ण वस्तु हैं। सहअस्तित्व में ही रासायनिक-भौतिक वैभव विद्यमान हैं। भौतिक वस्तुएँ ठोस और विरल रूप में विद्यमान हैं। जबकि रासायनिक द्रव्य ठोस, तरल, विरल रूप में वैभवित है। भौतिक क्रियाकलापों के मूल में, आधार बिन्दु के रूप में परमाणु है । परमाणु आधार होने का तात्पर्य वह अपनी स्वभाव गति में स्वयं एक व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी है यह प्रमाणित होता है। परमाणु के स्वभाव गति में होने का प्रमाण, अनेकानेक परमाणु मिलकर अणु के रूप में व्यक्त होने से है। ऐसे अनेक अणुओं का बड़े-छोटे पिण्डों के रूप में रचित रहना द्दष्टव्य हैं। इसी तथ्य के आधार पर यह धरती बड़े से बड़े पिण्ड के रूप में दिखती हैं। यह सब स्वभाव गति सहज अस्तित्व का वैभव है- यह समझ में आता है।

परमाणु अपने में एक से अधिक अंशों के सहअस्तित्व में व्यवस्था है। प्रत्येक परमाणु एक से अधिक अंशों के साथ ही स्वयं व्यवस्था होने, समग्र व्यवस्था के साथ भागीदार होने के प्रमाण को प्रस्तुत करता है। परमाणु अपने में व्यवस्था के रूप में है, इस क्रम में एक से अधिक अंशों के साथ ही सहअस्तित्व अवश्यंभावी हुआ। इसके मूल में अस्तित्व है, सत्ता में संपृक्त जड़-चैतन्य प्रकृति के रूप में, इस तरह सहअस्तित्व नित्य वर्तमान है। इस प्रकार अस्तित्व स्वयं सहअस्तित्व के रूप में नित्य प्रभावी एवं वर्तमान है । वर्तमान ही वस्तुओं में वास्तविकता का प्रकाशन है। वास्तविकता, तात्विक रूप में, वस्तुओं की बनावट और उसके वैभव सहज योगफल के समान (बराबर) होता हैं। प्रत्येक वस्तु का संपूर्ण वैभव उसके वातावरण अथवा प्रभाव क्षेत्र सहित गम्य होता है।

अस्तित्व में प्रत्येक एक, सत्ता में संपृक्त वैभव होने के फलस्वरुप बल संपन्नता, चुम्बकीय बल संपन्नता के रूप में प्रमाणित है। इसी सत्यता वश, प्रत्येक अंश में भी बल संपन्नता अस्तित्व सहज है। इसका प्रमाण है- एक से अधिक अंश ही, परस्पर निश्चित दूरी में होते हुए, व्यवस्था को व्यक्त करते हैं। प्रत्येक परमाणु

एक से अधिक अंशों से गठित रहता ही हैं। प्रत्येक परमाणु में गतिपथ सहित परमाणु अंश कार्यरत रहते हैं। कम से कम दो अंशों से संपन्न अथवा गठित परमाणु गति पथ सहित होता है। ऐसे दो अंशों के परमाणु में भी मध्य में एक अंश होता है और उसके सभी ओर चक्कर काटता हुआ एक दूसरा अंश देखने को मिलता है। ऐसे परमाणु अपने स्वभाव गति में अणुओं के रूप में और पिण्डों के रूप में होते हैं। ऐसे सीमित संख्यात्मक अंशों से गठित प्रत्येक परमाणु अपनें में एक व्यवस्था है - यह प्रमाण मिलता ही हैं।

किसी एक संख्यात्मक अंशों से संपन्न संपूर्ण परमाणु एक ही प्रजाति के होते हैं। इनमें किसी भी प्रकार का व्यतिरेक नहीं होता है। उन प्रजाति के परमाणु अपने में व्यवस्था के आधार पर सक्षम होते हैं। यही स्वभाव गति प्रतिष्ठा का सहज प्रमाण हैं। केवल अंशों के रूप में, अर्थात् किसी परमाणु में समाया न हो ऐसे अंश इस धरती और धरती के वातावरण में न्यूनतम अथवा नहीं के बराबर होते हैं।

न्यूनतम संख्या में यदि कोई अंश हो तो वह आवेशित गति में ही होता है। ऐसे अंश का स्वभाव गति प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित किसी परमाणु के साथ संयोग होना अवश्यंभावी रहता है। तभी वह अंश संयोग में आए किसी परमाणु में समा जाता है। इसका प्रमाण यही है कि एक परमाणु अपने स्वभाव गति में हो, दूसरी प्रजाति का अर्थात् स्वभाव गति से भिन्न, संख्यात्मक अंशों से गठित परमाणु आवेशित हो; ऐसी स्थिति में आवेशित परमाणुओं में से कुछ संख्यात्मक अंश बहिर्गत होना चाहते है और आवेशित अवस्था में किसी अवधि में कुछ अंश उस परमाणु से बहिर्गत होता भी है। उस स्थिति में यह देखने को मिलता है कि जो परमाणु स्वभाव गति प्रतिष्ठा में स्थित रहा वह परमाणु बहिर्गत अंशों को अपने गठन में आत्मसात करता है अर्थात् अपनाता है। फलस्वरुप वह स्वयं समृद्ध होता है। अस्तित्व सहज रूप में, उक्त विधि से, भौतिक वस्तुओं का क्रियाकलाप बुनियादी तौर पर अध्ययनगम्य होता है।

संपूर्ण वस्तुएँ सत्ता में ही संपृक्त है एवं बल संपन्न हैं। इस कारण प्रत्येक अंश में, अंश के अंशों में भी व्यवस्था के रूप में व्यक्त होने का मूल बीज समाया हुआ है। इसकी साक्षी ऊर्जा संपन्नता ही है। सत्ता में संपृक्तता ही निरंतर मूल ऊर्जा स्रोत का आधार हैं। सत्तामयता संपूर्ण प्रकृति को नित्य प्राप्त है । सत्ता इस रूप में व्यापक ऐश्वर्य को सहअस्तित्व में ही वर्तमान सहज रूप में अभिव्यक्त किया है। इसीलिए संपूर्ण अस्तित्व निरंतर व्यक्त है।

मानव परंपरा में व्यक्त और अव्यक्त की चर्चाएँ रही हैं। जबकि अस्तित्व सहज रूप में संपूर्ण अस्तित्व व्यक्त रूप में देखने को मिलता है । सत्तामयता ही परम सूक्ष्म अस्तित्व कहा जा सकता है। मानव को अपनी समझदारी को व्यक्त करने के लिए भाषा का प्रयोग करना भी एक आवश्यकता है। जीवावस्था एवं

स्वेदज में भी ध्वनियों के आधार पर पुरानी पीढ़ी के कार्यकलापों को पहचानते एवं संपन्न करते हुए देखने को मिला।

भाषा और मानव भाषा:

भाषा और मानव भाषा में जो महत्ताएँ है, उन तत्वों को यहाँ समझ लेना प्रासंगिक होगा। इसके मूल में मानव को एक जाति के रूप में पहचानना एक अनिवार्यता है- क्योंकि संघर्ष युग से समाधान की ओर संक्रमित होने के लिए मानव को एक जाति के रूप में पहचानना बहुत आवश्यक है। इसमें अर्थात् मानव को एक जाति के रूप में पहचानने में जो कठिनाइयाँ गुजरीं, उसे मानव के विभिन्न इतिहासों में स्पष्ट किया गया है। पुन: इस बात को ध्यान में लाना आवश्यक है कि किसी नस्ल, रंग, जाति, संप्रदाय, वर्ग अथवा धर्म कहलाने वाले मत-मतान्तर अथवा मतभेदों से भरे हुए धर्म, पंथ, भाषा या देश के आधार पर संपूर्ण मानव को एक जाति के रूप में एक इकाई के रूप में पहचाना नहीं जा सका। मानव की एक जाति के रूप में, एक इकाई के रूप में पहचानने के लिए मूल तत्व सार्वभौम व्यवस्था ही है। जिस व्यवस्था का सूत्र मानवत्व ही है।

मानवत्व सहित मानव स्वयं व्यवस्था है; यही सर्वतोमुखी समाधान, सुख, परम सौंदर्य और मानव धर्म हैं। इस प्रकार मानव धर्म के आधार पर ही एक इकाई के रूप में मानव को पहचाना जा सकता है। इस प्रकार समाधान युग में संक्रमित होने के लिए मानव को एक इकाई के रूप में पहचानना अनिवार्य स्थिति है अथवा परम आवश्यकता हैं। इसी के साथ मानव भाषा को पहचानना भी आवश्यकता के रूप में अथवा अनिवार्यता के रूप में आई। बोलने का तरीका, ध्वनि, उच्चारण, मानव सहज कर्म स्वतंत्रता और कल्पनाशीलता के चलते अनेक प्रकार से अयस्त हो सका है। मानव भाषा का अर्थ एक ही होता है अथवा सभी भाषाओं का अर्थ एक ही होता है। यह भाषा अस्तित्व में किसी वस्तु, कार्य, देश, काल, प्रक्रिया, परिणाम, स्थिति, गति का निर्देशित व इंगित होना हैं। अर्थात् भाषा का अर्थ अस्तित्व सहज वर्तमान ही होता है। जैसे कुत्ता, बिल्ली, घोड़ा, गधा, बैल, बाघ, भालू, धरती, पानी, आकाश, तारागण, सौर व्यूह, मानव आदि जितने भी नाम लेते है ये अभी तक भी सभी भाषाओं में इनके लिए प्रयुक्त ध्वनि गति तरंग और उसको प्रस्तुत करने की अंग अवयवों का उपयोग और तरीका- ये सब मिलकर भाषा का स्वरुप होता हैं। जैसे- हिन्दी, अंग्रेजी, उर्दू आदि भाषाओं के नाम हैं। इन भाषाओं से इंगित होने वाली वस्तुएँ अस्तित्व में है, अस्तित्व से है, अस्तित्व के लिए हैं। इस आधार पर पानी के लिए कोई भाषा बोली जाये उसका अर्थ वस्तु के रूप में पानी ही है। प्रत्येक वस्तु के लिए कोई भाषा अपने तरीके से प्रस्तुत हो उस अर्थ में मिलने वाली वस्तु अस्तित्व में ही है। इस प्रकार मानव किसी भी प्रकार से भाषा का प्रयोग करें उसमें अर्थ रुपी

वस्तु अस्तित्व में होना प्रमाणित होता है। इस प्रकार कोई भी भाषा हो या कितनी भी भाषाएँ हों उसका आशय या अर्थ अस्तित्व में किसी निश्चित वस्तु को निर्देशित करना ही है।

"**वाद :** संपूर्ण अस्तित्व ही व्यक्त समझ में आने से है या अव्यक्त समझ में नहीं आने से है।" इस विवाद में मानव फँसा रहा। अस्तित्व समझ में नहीं आया है, क्योंकि अभी तक प्रचलित दोनों वादों (भौतिकवाद, अध्यात्मवाद) अस्तित्व में से किसी एक भाग को सर्वस्व मान कर अथवा वस्तु मानकर सारी कल्पनाओं को फैला दिया। ऐसी फैलाई हुई कल्पनाएँ खासी मोटी वांङ्गमय बनकर मानव के सम्मुख रखी हुई हैं। ऐसे मोटे वांङ्गमय से निपटना अर्थात् मूल रूप में परिशीलन करना हर व्यक्ति के बलबूते में नहीं है। इसलिए सर्वाधिक व्यक्ति किसी एक वाद के पीछे चल देते हैं। इस विधि से प्रत्येक व्यक्ति के आगे एक वांङ्गमय या एक मानव ही रह जाता है।

इससे और भी एक निश्चयात्मक समीक्षा समझ में आती है कि वांङ्गमय की राशियाँ दो ही प्रजाति में है। एक प्रजाति के मूल में रहस्य ही रहस्य है जिसकी थाह पाना किसी के लिए संभव हुआ ही नहीं। दूसरी प्रजाति के मूल में अनिश्चयता और अस्थिरता जुड़ी है। हर व्यक्ति इस बात को समझ सकता है कि अनिश्चयता, अस्थिरता और रहस्य की लंबाई चौड़ाई को मापना किसी के लिए भी संभव नहीं हैं। इसलिए ये दोनों वाद मानव मानस के लिए "यही सत्य है"- ऐसा अंगुलि न्यास कर सकें अथवा इंगित करा सकें ऐसा कोई ध्रुव वस्तु हाथ नहीं लगा।

अस्तित्व :- सत्य में पूर्णतया इंगित होने, तृप्त होने, गतिशील होने और नित्य निश्चित होने के रूप में हम प्रत्येक मानव को अस्तित्व में, से, के लिए देख सकते हैं। अस्तित्व न घटता है, न बढ़ता है इसलिए अस्तित्व स्थिर है यह दिखाई पड़ता हैं। अस्तित्व नित्य वर्तमान है, इसीलिए, अस्तित्व निरंतर स्थिर है यह दिखाई पड़ता हैं। अस्तित्व स्वयं किसी के लिए बाधा नहीं है और अस्तित्व पर किसी की बाधा अथवा हस्तक्षेप भी नहीं हैं। अस्तित्व निरंतर सामरस्य है, समाधान है, इसीलिए अस्तित्व ही परम सत्य है।

सत्ता :- अस्तित्व में सत्ता व्यापक रूप में हर किसी को दिखती हैं। दिखने का मतलब समझ में आने से है। अस्तु, प्रत्येक मानव में, से, के लिए सत्ता व्यापक रूप में विद्यमान है। यह दिखता है। जैसे एक दूसरे के बीच में जो कुछ भी शून्य दिखाई पड़ता है वह मूलत: सत्ता ही है। भौतिक -रासायनिक वस्तुएँ और जीवन जैसी वस्तु (वास्तविकता) सत्ता में संपृक्त है। इसीलिए प्रत्येक एक सत्ता में घिरा और डूबा हुआ दिखाई पड़ता है ऐसा दिखने के आधार पर ही एक दूसरे की दूरी की कल्पना मानव करता है और दिखाई पड़ता है। जैसे सूर्य से धरती की दूरी दिखती हैं। यह धरती तथा ऐसे ही प्रत्येक धरती सत्ता में डूबा, घिरा

और भीगा हुआ है। डूबा, घिरा दिखना स्वयं एक दूसरे के बीच में जो वस्तु है- इसी को देखना हुआ, यही सत्ता है।

भ्रम :- रासायनिक, भौतिक वस्तुएँ ठोस, तरल और विरल रुपों में विद्यमान हैं। विरल अवस्था में भी प्रत्येक अणु अथवा सम्मिलित एक से अधिक अणु "एक" के रूप में ख्यात हैं। इसी भांति परमाणु में निहित अंशों में, उन अंशों को यदि विखण्डित किया जाये तो प्रत्येक खंड "एक" ही कहलाएगा। यह क्रिया व्यवहार रूप में तो होती नहीं तथापि मानव की कल्पना सहज वैभव को गणित के रूप में पहचाना गया है। गणित विधि से मूलत: मानव की कल्पनाशीलता विधि से, विखंडन की परिकल्पना है। इस विधि से भी, परमाणु में निहित एक अंश को, अनेकानेक खंडों में विभक्त करने के पश्चात भी प्रत्येक खंड "एक" ही कहलाता है। इस प्रकार किसी का तिरोभाव नहीं हो सकता। इस सत्य के खिलाफ मानव की कल्पनाशीलता प्रादुर्भाव और तिरोभाव के चक्कर में पड़कर अथवा भ्रम में ग्रसित होकर परेशान ही हुई है। अस्तित्व में कोई ऐसी चीज नहीं है, जो पैदा होती हो अथवा जो है वह मिट जाता हो; यह दोनों क्रियाएँ अस्तित्व में नहीं हैं। इसी भ्रमपूर्ण कल्पनावश मानव परेशान रहा हैं। इससे यह भी समझ में आता है कि "जो था, वही होता है; जैसे अस्तित्व में पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था और ज्ञानावस्था थी"। इसकी गवाही इस धरती पर स्पष्ट हैं। इसका दृष्टा मानव ही हैं। इस ज्वलंत उदाहरण से "जो था वही होता है, और जो था नहीं वह होता नहीं।"

इस मुद्दे पर बुद्धिजीवी अपने विवेक का प्रयोग कर सकते है । इस धरती के पहले किस धरती पर ये चारों अवस्थायें कहाँ थी, यह पूछ सकते हैं। इसमें दो दोष ऐसा आता है - देश और काल। अस्तित्व सहज वैभव में अर्थात् अस्तित्व सहज नित्य वर्तमान रुपी वैभव में देश और काल हस्तक्षेप नहीं कर पाते।

भ्रमित मानस :- वर्तमान की अक्षुण्णता को अथवा निरंतरता को किसी और विधि से प्रयोग करना संभव नहीं हैं। जो कुछ भी विधियाँ है, वे सब अस्तित्व सहज है। उन सबकी निरंतरता है। किसी भी एक और विधि को देश, काल में सीमित नहीं किया जा सकता। जब कभी भी कोई बात सीमित होती है, वह निषेध ही है। अद्भुत बात यह है कि अस्तित्व में निषेध नहीं है। निषेध का स्थान नहीं है, निषेध का गति नहीं है, निषेध का स्थिति नहीं है। निषेध शब्द आप हमारे सम्मुख आते रहा है यह मानवकृत ही है। उसी क्रम में यहाँ मानव उपयोग किया गया है। अब यह प्रश्न होता है कि निषेध शब्द है क्या? इसका सहज उत्तर यही है कि "यह भ्रमित मानस का प्रकाशन है।" यह भ्रमित कल्पना का प्रकाशन है और भ्रमित इच्छाओं का प्रकाशन हैं। इन सभी प्रकार से भ्रमित प्रकाशन का आधार केवल मानव ही हैं।

अब यह भी प्रश्न हो सकता है कि मानव भ्रमित होता क्यों है? भ्रम में फंसता क्यों है? इसका उत्तर अस्तित्व सहज रूप में देखा गया है कि मानव एक ऐसी वस्तु (वास्तविकता) है, जिसमें मनुष्येत्तर प्रकृति से भिन्न मौलिक वर्चस्व संपन्नता सहज उत्सव जैसा- विधि एवं निषेध से नियंत्रित होना है। इनमें से प्रथम - कर्म स्वतंत्रता है। दूसरा - कल्पनाशीलता है। तीसरा - कर्म करते समय में स्वतंत्र, फल भोगते समय में परतंत्र हैं। चौथा - अपनी परिभाषा में मनाकार को साकार करने वाला मन:स्वस्थता का आशावादी एवं प्रमाणित करने वाला है। ये सब मौलिकताएँ प्रत्येक मानव में निरीक्षण, परीक्षण पूर्वक देखना सहज है। इन्हीं सब ऐश्वर्यों के चलते जागृति पूर्वक मानव ही अस्तित्व में दृष्टा है- यह मौलिकता भी मानव की झोली में रखी हुई है। ये सब रहते हुए भ्रमित होने का मूल तत्व यहीं है, सशक्त तत्व यही है -

1. अभी तक बनी हुई व्यक्तिवादी, समुदायवादी परंपराएँ है।
2. नैसर्गिकता है।
3. वातावरण है।

संपूर्ण अस्तित्व में प्रत्येक एक व्यापक में स्थित अनंत सहज वातावरण ही है। "नैसर्गिकता" धरती, हवा, पानी और हरियाली एवं जीवों के रूप में देखने को मिलती है । प्रत्येक मानव को संस्कार परंपरा से ही मिलते हैं। यह सब नित्य प्रमाण ही हैं। इन्हीं के आधार पर केवल मानव की देन रुपी शिक्षा-संस्कार से ही मानव का भ्रमित होना देखा जा रहा है। इस मोड़ पर बुद्धिजीवी कहलाने वाले यह भी पूछ सकते है कि भ्रम-निर्भ्रम की बात छेड़ने वाला आदमी भ्रमित नहीं है? इस बात को पहचाना कैसे जाये? क्योंकि पहले जिस वातावरण, नैसर्गिकता और परंपरा की बात कही गई है उसी में से किसी परंपरा में यह आदमी भी है। इस प्रकार से प्रश्न होना मानव की कल्पनाशीलता सहज वैभव है।

भ्रम-निर्भ्रम :- इस प्रश्न का उत्तर अस्तित्व में दृष्टा (जागृत व्यक्ति) व्यक्ति दे सकता है। इसीलिए इस व्यक्ति ने भ्रम-निर्भ्रम की बात उठाई है। सहज रूप में अस्तित्व में पढ़ लिया है, देख लिया है, समझ लिया है। यहाँ यह स्मरण रखने योग्य है कि भौतिक-रासायनिक वस्तुओं को जब अवस्था के रूप में अध्ययन करने के लिए - "समाधानात्मक भौतिकवाद" संकल्पित हो गया, तब यह विश्वास करने के लायक है कि जो-जो बातें कही गई है वे अध्ययन के लायक हैं। इनके लिए किन्हीं पूर्व ग्रंथों का उद्धरण नहीं हैं। इसलिए इन बातों का अध्ययन करके जो भी इसे समझना चाहे, इसे समझा जा सकता है तथा इन बातों पर विश्वास किया जा सकता है। इस आधार पर यह जो कुछ भी प्रस्तुत है, वह मूलत: "अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिन्तन" है। यह बात पहले भी कही जा चुकी है। इसको पढ़ने वाला और अध्ययन करने वाला मानव ही होगा और हर मानव अस्तित्व में ही वर्तमान हैं। इन सहज तथ्यों को स्वीकारना पर्याप्त है। भ्रम-निर्भ्रम

मानव में, मानव से, मानव के लिए जागृति क्रम से स्पष्ट होता है। जो था, वही वर्तमान है। इन दोनों बातों के लिए पुष्टि प्रस्तुत की जा रही है। इस सहज तथ्य में मानव ही देखने समझने योग्य है। अस्तित्व स्वयं वर्तमान है और अस्तित्व में मानव अविभाज्य रूप में वर्तमान है। यही ध्रुव बिन्दु है, जहाँ निर्णय कर सकते है कि जो भी है, वही होता है। यही उत्तर पाने की स्थिति हैं। मानव के सम्मुख मानव सहित चारों अवस्थाओं में प्रकृति सत्ता में दिखती हैं। इन चारों अवस्थाओं की प्रकृति, इस धरती में दिखती हैं। यह धरती स्वयं एक सौरव्यूह के अंगभूत कार्यरत दिखाई पड़ती है। यह सौरव्यूह अनंत सौरव्यूहों के अंगभूत रूप में कार्यरत दिखाई पड़ता है। दिखने से तात्पर्य समझने से ही हैं। समझने की क्षमता प्रत्येक मानव में जीवन सहज रूप में समाई हुई हैं।

जीवन तात्विक रूप में गठनपूर्ण परमाणु है। यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है। जीवन में ही आशा, विचार, इच्छा और संकल्प तथा प्रामाणिकता रुपी अक्षय शक्तियाँ कार्य करती हुई, प्रत्येक मानव में दिखाई पड़ती है जिसका अध्ययन किया जा सकता है। इसी प्रकार मन, वृत्ति, चित्त, बुद्धि, आत्मा रुपी अक्षय बल प्रत्येक मानव में क्रियारत है। इसका विश्लेषण भी पहले स्पष्ट किया जा चुका है। स्मरण रखने योग्य तथ्य यह है कि जीवन सहज शक्ति और बल अविभाज्य रूप में कार्यरत रहते हैं। इसके अध्ययन के लिए वस्तु मानव है और अध्ययन संभव है। इसी विधि से प्रत्येक मनुष्य द्वारा स्वयं को अध्ययन करना भी संभव हो गया। इसके लिए जीवन विद्या कार्यक्रम योजना और ज्ञान प्रमाणित होने को आगे प्रस्तुत किया गया है। ऐसा अक्षय बल, अक्षय शक्ति संपन्न जीवन ही जागृति पूर्वक दृष्टापद में वैभवित होने और प्रमाणित होने का कार्य सहज ही कर पाता है; जब से मानव परंपरा जागृत हो जाये तभी से।

परंपरा जागृत होने के क्रम में ही विकल्पात्मक दर्शन, विकल्पात्मक विचारधारा और विकल्पात्मक शास्त्रों को अर्पित करने के क्रम में ही यह "समाधानात्मक भौतिकवाद" एक प्रबंध है। इस प्रबंध में अस्तित्व सहज अध्ययन प्रस्तुत करना हमारी प्रतिबद्धता है। अस्तित्व निरंतर व्यक्त रूप है। इसका प्रमाण वर्तमान है। अस्तित्व स्वयं समाधान रूप है। मानव की भ्रमित बुद्धिवश संपूर्ण समस्याएँ मानव के लिए, समुदाय कल्पनावश मानव से निर्मित हैं। इस बीच नैसर्गिकता के साथ जो कुछ भी अपराध, अत्याचार मानव ने किया है, उसके कुछ परिणाम मानव को भयभीत करने के रूप में घटनाएँ देखने सुनने को मिल रही हैं। जैसे- प्रदूषण, ऋतु असंतुलन, भूमि के वातावरण में असंतुलन आदि। मानव के साथ मानव समुदाय चेतना के आधार पर विकसित, अविकसित के आधार पर जो कुछ भी द्रोह, विद्रोह और शोषण हुआ है, उससे युद्ध का प्रभाव और भावी महायुद्ध की संभावना ने मानव को आकुल-व्याकुल कर दिया हैं। आज मानव के पास समाधान की कोई दिशा न होने से मानव के प्रताड़ित, शोषित होने को स्वीकारने की विवशता में

मानव आ गया है। पर इसका निराकरण एक विधि से है- वह है "समाधान विधि"। अस्तित्व स्वयं समाधान है, इसीलिए अस्तित्व सहज विधि से ही सर्वमानव के समाधानित होने का सूत्र और संभावना समीचीन हैं। इसकी आवश्यकता को अधिकांश लोग अनुभव कर रहे हैं।

पूरकता विधि से समाधान :-

अस्तित्व में समाधान, दर्शनक्रम में किसी एक की भी ख्याति समाप्त नहीं हो सकती, चाहे मानव कितना भी समस्यात्मक प्रयत्न कर ले। अर्थात् कोई न कोई मानव संतान ही सर्वशुभ समाधान के लिए प्रयत्नशील रहता ही है। इससे यह ज्ञान, विवेक और प्रक्रिया सुलभ होती है कि एक दूसरे को मिटाने की आवश्यकता नहीं। सभी अवस्थाओं का अपना-अपना उपयोग, सदुपयोग, प्रयोजन अस्तित्व सहज विधि से ही अनुबंधित है। यही पूरकता विधि है। मानव में यह पूरकता विधि संबंधों को पहचानने के आधार पर या संबंधों को निर्वाह करने के प्रमाणों के आधार पर सार्थक होती है । प्रत्येक मानव में यह अध्ययनगम्य होता है कि जहाँ-जहाँ हम संबंधों को पहचान पाते है, वहाँ-वहाँ मूल्यों का निर्वाह होना पाया जाता है। इस तथ्य के आधार पर अस्तित्व में परस्पर संबंध एक मौलिक अनुबंध है। ये भी अनुबंध पूर्णता और उसकी निरंतरता के लिए अनुबंधित हैं। पदार्थावस्था से प्राणावस्था, प्राणावस्था से जीवावस्था, जीवावस्था से ज्ञानावस्था अनुबंधित है ही इसका प्रमाण इन सब का वर्तमान ही है। इसी आधार पर ज्ञानावस्था से जीवावस्था, जीवावस्था से प्राणावस्था, प्राणावस्था से पदार्थावस्था की परस्परता में अनुबंध है। इनमें से मानव के अतिरिक्त सभी अवस्थाओं ने अपने अनुबंध को पूरकता विधि से प्रमाणित किया है। क्योंकि पदार्थावस्था के अनंतर प्राणावस्था, पदार्थावस्था प्राणावस्था के अनंतर जीवावस्था, पदार्थावस्था प्राणावस्था जीवावस्था के अनंतर ज्ञानावस्था का प्रार्दुभाव, प्रकाशन इस धरती पर हुआ है। इस धरती पर मानव की समझ में यह भी आता है कि जीवावस्था, प्राणावस्था और पदार्थावस्था परस्पर पूरक हैं। वे सब मानव के लिए पूरक है हीं; पर बीसवीं शताब्दी के अंत तक मानव ने जो कुछ किया है, उससे मानव का अन्य तीनों अवस्थाओं की प्रकृति के साथ पूरक होने के स्थान पर विरोधी होना व विद्रोही होना प्रमाणित हुआ है। इसका प्रमाण प्रबुद्ध विकसित कहलाने वाले लोगों की ही आवाज है कि:-

1. प्रदूषण बढ़ गया जबकि प्रदूषण का कारक तत्व केवल मानव हैं।
2. धरती पर वातावरण असंतुलित हो गया है, बिगड़ रहा है।
3. समुद्र में पानी का सतह बढ़ने लगा है।
4. वन संपदा उजड़ गया है।
5. ऋतु असंतुलित हो रहे है।

6. जनसंख्या बढ़ रहा है।

ये सब कहने वाले विकसित देश है, विकासशील देश है। अविकसित देश इन देशों के निष्कर्षों को मान ही रहे है।

विकसित-अविकसित :- इस वर्तमान में विकसित देश, विकासशील देश और अविकसित देशों का वर्गीकरण भी एक विडम्बनात्मक एवं हास्यास्पद तरीके से हुआ है इनमें:-

1. विकसित देश उन्हीं देशों को कहते है जो सर्वाधिक समर शक्तियों से संपन्न है।
2. विकसित देश उन्हीं को कहते है जिस देश में सर्वाधिक लोग सर्वाधिक आहार-विहार सुविधाओं को भोगते है और संग्रह करते है।
3. विकसित देश उन्हीं को कहते है जहाँ अधिक लोग भोग, अतिभोग, बहुभोग की ओर गतिशील है।
4. विकसित देश उन्हीं को कहते है जिस देश की पूंजी अनेकानेक देशों में व्यापार कार्यों में लगी रहती है और व्यापार पर एकाधिकार पाने का प्रयास जारी रहता है।
5. विकसित देश उन्हीं को कहते है जिस देश में निवास करने वाले लोग तकनीकी और विद्वता का भी व्यापार करते है।

कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि जो देश अपने लाभोन्मादी व्यापार नीति, सामरिक शक्ति संपन्न राजनीति, सर्वाधिक संग्रहवादी नीति में सफल हो गये है, साथ ही उनकी कोटि में और कोई पहुँच नहीं पा रहे है, उन्हीं को आज विकसित देश कहते है।

ऊपर कही नीतियों और स्वरुप के आधार पर ही विकासशील और अविकसित देश, विकसित देश को अपना आदर्श स्वीकारने के लिए बाध्य हुए है। प्रधान रूप में सभी देशों के लिए युद्ध और व्यापार भी आदर्श होकर रह गए। जबकि युद्ध, शोषण, लाभोन्माद, भोगोन्माद, कामोन्माद - ये प्रवृत्तियाँ चाहे राज्य की प्रवृत्ति हो, चाहे किसी व्यक्ति, परिवार, समुदाय की प्रवृत्ति क्यों न हो, ये समाज सरंचना और उसके वैभव को बनाये रखने के लिए सहायक नहीं हो पाए। उक्त पाँचों प्रकार की प्रवृत्तियों में से प्रत्येक प्रवृत्ति शंकाकारक है, यथा व्यापार में शंका सदा लगा रहता है। यह व्यापार के चंगुल में रहने वालों को भी पता हैं। लाभोन्माद, कामोन्माद, भोगोन्माद ये आवेश से ही शुरु होते हैं। आवेश सदा पीड़ादायक होते हैं। चाहे सम्मोहनात्मक आवेश (काम, लोभ, मोह) हो या विरोधात्मक (क्रोध, मद, मत्सर), इन दोनों ही स्थितियों में पीड़ा को देख सकते है।

युद्ध सदा ही शंका, कुशंका, अविश्वास, साम, दाम, दण्ड भेद से अनुप्राणित रहा है। इसमें छल-कपट का प्रयोग होता ही है, दभ-पाखंड फैलाना पड़ता है। ये सब विश्वासघात के द्योतक है। विश्वासघात, वध, विध्वंस

से किसी व्यवस्था की स्थापना अभी तक इस धरती पर नहीं हो पाई। दो बड़े विश्व युद्ध इस धरती पर हुए, तीसरे महायुद्ध के लिए तैयारी कर ही चुके है, इस तमाम अतीत को देखने के बाद यही समीक्षा होती है कि शोषण, वध, विध्वंस, विश्वासघात, द्रोह, विद्रोह से कोई सार्वभौम व्यवस्था स्थापित नहीं हो सकती। जबकि अस्तित्व में केवल व्यवस्था ही वर्तमान है। मानव ही अपने भ्रमवश अर्थात् अतिव्याप्ति, अनाव्याप्ति, अव्याप्ति दोषों को अपनी कल्पनाशीलता, कर्मस्वतंत्रता वश मोल लिया है। इसी को वरदान मानते हुए विकास की बात की जाती है। भ्रम और विकास का कहीं दूर दूर तक तालमेल नहीं है। परस्पर पूरकता-उपयोगिता विधि पूर्वक विकास सहज गति सार्वभौम है।

सहअस्तित्व सहज रूप में विकास परमाणु में होने वाली प्रक्रिया है। इसी क्रम में गठन पूर्णता होती हैं। ऐसा गठनपूर्ण परमाणु चैतन्य पद में संक्रमित होता है यही जीवन का स्वरुप है। इसमें पहला आशाबन्धन अर्थात् आशा में भ्रम, दूसरा विचार बंधन अर्थात् विचारों में भ्रम तीसरा इच्छाबंधन अर्थात् इच्छाओं में भ्रम पाया जाता है। इन तीनों प्रकार से भ्रमित मानव भ्रम मुक्ति अर्थात् जागृति सुलभता पर्यन्त अव्यवस्था के चक्कर में पीड़ित रहेगा ही। परंपरा स्वयं भ्रमित है। मानव जाति को डूबाने का कार्य लाभोन्मादी अर्थ चिंतन, कामोन्मादी मनोविज्ञान, भोगोन्मादी समाज शास्त्र ने किया है। इसी के पक्ष में संपूर्ण प्रचार तंत्र कार्य करने को मिल रहा हैं। इससे छूटने के लिए ही विकल्प है-आवर्तनशील अर्थचिंतन, व्यवहारवादी समाजशास्त्र और मानव संचेतनावादी मनोविज्ञान। रासायनिक-भौतिक वस्तुओं एवं उनके क्रियाकलापों को जब मानव व्यवस्था के रूप में देख पाता है तभी आवर्तनशील अर्थचिंतन सहज रूप में समझ में आता है। आवर्तनशीलता का मूल तत्व रासायनिक वैभव की पूरकता, भौतिक वस्तुओं के लिए और भौतिक वस्तुओं की पूरकता, रासायनिक वैभव के लिए अर्पित है ही; इसमें प्रधान तत्व मानव द्वारा इसे समझ लेना ही है।

मानव जो कुछ भी सोचता है उसके मूल में स्वयं समाधानित होने और समृद्ध होने का सूत्र सहज ही विद्यमान रहता है। मानव अस्तित्व सहज प्राकृतिक विधियों को यथावत् समझें यही अध्ययन और अनुसंधान का तात्पर्य है। मानव आदि काल से ही शुभ चाहता है, पर अपने ही विभिन्न आयामों में भटकते रहा है। आदि काल से मानव ने अपनी समझदारी को जितना विकसित किया है वह सब स्वयं की महिमा को अनदेखी करते हुए वस्तुओं का चयन ह्रास विधि से कर पाया जबकि अध्ययन यथा स्थिति में यथावत् हो पाता है।

अस्तित्व सहज वैभव पदार्थ, प्राण, जीवों के रूप में दिखाई पड़ रहा है। ये सब मानव की किसी योजना के बिना ही धरती पर संपन्न हो चुका है। अध्ययन का मूल बिंदु है- यथास्थिति से, संपूर्ण पद्धति के साथ

मानव के साथ तालमेल, संबंध और कर्त्तव्यों को पहचानना। अध्ययन जब कभी मानव कर पाता है, यथार्थ विधि से ही, मानव सहज जागृति को अध्ययन कर पाता है। अभी मुख्य मुद्दा यह है कि जो कुछ भी अस्तित्व है वह अंतर्विरोध बाह्य विरोधों से प्रताड़ित रहता है या अंत: संगीत बाह्य संगीत संपन्न है। इन्हीं तथ्यों पर ध्यान देना विवेक और विज्ञान सम्मत विधि से परीक्षण करना और तथ्यों को स्वीकार करना -यही अध्ययन का सार रूप है। ऐसी अध्ययन सहज अवधारणाएँ स्वयं संस्कार यथा सहअस्तित्व सहज नियम से ही जानी जाती है।

रासायनिक-भौतिक वस्तुओं की यर्थाथता को स्वीकारने के उपरान्त यही देखा गया कि ये दोनों स्थितियाँ एक-दूसरे के लिए पूरक विधि से काम कर रही हैं। रासायनिक-भौतिक वस्तुओं का रचना-विरचना होना स्वाभाविक अर्थ हैं। इन कार्यकलापों को देखने पर पता चलता है कि रचना-विरचना एक दूसरे के लिए पूरक है। मूलत: वस्तुओं में समाहित मूल तत्वों का तिरोभाव नहीं होता अर्थात् न तो वस्तुओं को समाप्त होना है और न ही नया पैदा होना है।

पदार्थ की परिभाषा ही है- पदभेद से अर्थभेद को व्यक्त करना। जैसे- प्राणकोषाएँ खेतों में अनाज के रूप में, जंगलों में प्राणकोषाएँ पेड़-पौधों के रूप में है। जलचर, नभचर, भूचर जीवों की शरीर रचनाएँ भी प्राणकोषाओं से होना स्पष्ट है। मूल में यह ज्ञान आवश्यक है कि प्राणकोषाएँ अपने में मूलत: एक ही प्रजाति की है। विविध रचना के आकार से प्राणकोषाएँ अपने वैभव को व्यक्त करती हैं। जैसे-एक कोषीय रचना क्रम में कोषाएँ अपनी प्रजाति के दूसरे कोषा को रासायनिक वैभव के संयोग से निर्माण करना देखने को मिलता है। एक कोषिय रचना का मतलब, कोषा में जो सूत्र बना रहता है, उसी के अनुरुप, उसी प्रजाति की कोषा को निर्मित करता है। ऐसी रचनाएँ आरंभिक काल में अर्थात् जब किसी धरती पर प्राण संचार, रासायनिक वैभव, प्राणकोषाओं की अभिव्यक्ति और प्राणकोषाओं से रचित रचना आरंभ होता है, तब से इन प्रक्रियाओं का स्थापित रहना पाया जाता है।

उक्त तथ्य को चौथे व पाँचवें अध्याय में स्पष्ट किया गया है।

1. अस्तित्व में विकास होता है।
2. विकसित गठनपूर्ण परमाणु जीवन पद में संक्रमित रहता है।
3. प्रत्येक गठनपूर्ण परमाणु (तृप्त परमाणु) चैतन्य पद में संक्रमित होता है।
4. प्रत्येक चैतन्य इकाई अर्थात् "जीवन" भार बंधन व अणु बंधन से मुक्त रहता है।

5. प्रत्येक जीवन, जागृत होने के क्रम में आशा बंधन, विचार बंधन, इच्छा बंधन से पीड़ित रहता है। ऐसा पीड़ित होना ही भ्रम है। इसके विपरीत जागृति होना मानव में न्याय अर्थात् संबधों का पहचान, मूल्यों का निर्वाह, मूल्यांकन क्रियाओं को परंपराओं में प्रमाणित करना जागृति है।
6. सर्वतोमुखी समाधान अर्थात् स्वयं व्यवस्था होना एवं समग्र व्यवस्था में भागीदारी को निर्वाह करने का कार्यकलाप के रूप में प्रमाणित करना जागृति है।
7. मानव का अस्तित्व में अनुभूत होने के प्रमाणों को प्रमाणित करना और स्वानुशासन रूप में जीने की कला को प्रमाणित करना परम जागृति हैं। इस प्रकार मानव परंपरा जागृति में, से, के लिए है- यह स्पष्ट है।

मानव में जीवन सहज रूप में ही नैसर्गिकता व वातावरण संबंधी वस्तुओं के प्रति जागृत होने की बाध्यता बना ही रहा। इस आशय को ज्ञात करने की इच्छा को व्यक्त किया है। बन्धन मुक्त इच्छा विधि से ही यह प्रमाणित होना संभव है, क्योंकि मानव को वातावरण और नैसर्गिकता समान रूप से प्राप्त है। जहाँ तक अस्तित्व सहज वातावरण है अर्थात् अस्तित्व नित्य वर्तमान के रूप में अक्षुण्ण है यह सबके लिए समान संप्राप्ति हैं। संप्राप्ति का अर्थ है पूर्णता के लिए प्राप्ति। जहाँ तक मानव कृत वातावरण का सवाल है इसे विभिन्न रुपों में विभिन्न देशों में देखा गया है। जिसको विविध रुपों में मानव इतिहास में स्पष्ट किया गया है। यह विविधताक्रम तब तक रहेगा जब तक अस्तित्व सहज संप्राप्ति के अनुरुप मानव पंरपरा जागृत न हो जाये। मानव परंपरा में जागृति का प्रयास न्याय, समाधान और प्रामाणिकता है। जिसका साक्ष्य मानव परंपरा में अखण्ड समाज व सार्वभौम व्यवस्था के रूप में व्यक्त होना ही है।

मानव जागृत होकर ही सुखी, समृद्ध तथा सुन्दरतम रूप में दिखाई पड़ता है । प्रत्येक मानव सुखी, समाधानित, समृद्ध और सुन्दर रहना ही चाहता है। परंपरा की अजागृति के कारण ही अथवा जागृति पूर्ण न होने के फलस्वरुप ही मानव कुंठा और अभाव से ग्रसित रहता है। यह मानव परंपरा सहज जागृति क्रम में पाये जाने वाले मानव की स्थिति हैं। मानव व्यक्ति के रूप में सदा शुभ चाहता है- यह प्रत्येक व्यक्ति में सर्वेक्षण पूर्वक समझ में आता है। व्यक्ति व्यक्ति में शुभ के रूप में जीने की कला और विचार शैली के संबंध में मतभेद बना रहता है। यही मानव में अंतर्विरोध है अथवा अपेक्षा के खिलाफ बाह्य विरोध हैं। यह मानव सहज यथार्थ नहीं है अपितु परंपरा का भ्रम है। परंपरा प्रचार और शिक्षा के रूप में सर्वाधिक प्रभावशील होती है अथवा प्रत्येक मानव को परंपरा में प्रभावित करने के उक्त दो तरीके समर्थ दिखाई पड़ते हैं। इन दोनों का यथार्थ पर आधारित रहना आवश्यक है। उन्माद, भ्रम, सुविधा, भोग- जैसे सम्मोहन

के लिए ही सभी शिक्षा देते है और प्रचार करते आए है । इसी के साथ रहस्य और आस्था भी बनी रही हैं। इसलिए मानव के लिए आशित सुख, समृद्धि, समाधान और सुन्दरता संभव नहीं हो पाई ।

समाधान और व्यवस्था अविभाज्य है। समाधान का धारक-वाहकता प्रत्येक मानव में आवश्यकता के रूप में देखने को मिलता है । व्यवस्था समग्रता के साथ ही प्रमाणित होता है। समाधान जागृति का द्योतक है। हर व्यक्ति जागृत होना चाहता है। जागृति का मार्ग प्रशस्त होना ही इसका एकमात्र उपाय है। परंपरा में जागृति का तात्पर्य - शिक्षा-संस्कार, व्यवस्था, संविधान में जागृत मानव का लक्ष्य, स्वरुप, कार्य और प्रयोजन स्पष्ट हो जाने से है। संस्कारों का मतलब स्वीकृति से ही है, अवधारणा से ही हैं। अस्तित्व में जागृत मानव के उद्देश्य से अवधारणा को देखा गया वह है-

1. जीवन ज्ञान
2. अस्तित्व दर्शन ज्ञान
3. मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान

ये ही स्वीकारने के लिए वस्तुएँ हैं। मानव परंपरा में जागृति पूर्णता की वस्तु भी इतनी ही हैं। इन्हीं तीन बिंदुओं में इंगित परम सत्य वस्तु को स्वीकारने योग्य परंपरा ही मानव संस्कार पंरपरा हैं। उक्त तीनों बिंदुओं में इंगित वस्तु की उपयोगिता विधि, सदुपयोगिता विधि, प्रयोजनशील होने की विधि, अध्ययन की अर्थात् शिक्षा की मूल वस्तुएँ है। मानव परंपरा भी अस्तित्व में अविभाज्य वर्तमान हैं। प्रत्येक मानव जीवन और शरीर के संयुक्त साकार रूप में हैं। मानव स्वयं को शरीर मानने के आधार पर इन्द्रिय सन्निकर्ष (इंद्रियों द्वारा भोग इच्छायें) ही जीवन कार्य में केन्द्र बिन्दु बन जाते हैं। फलस्वरुप अव्यवस्था, समस्या, दरिद्रता, दुष्टता ये सब हाथ लगता है। जबकि शरीर का धारक-वाहक भी जीवन ही है । यही प्रक्रिया है। जब तक शरीर और जीवन का सहज ज्ञान नहीं हुआ है तब तक मानव भ्रमित रहता है । इसी आधार पर जीवन जागृत होने की आवश्यकता और प्रेरणा अस्तित्व सहज रूप में है। दूसरी विधि से-

1. मानव अस्तित्व में है।
2. मानव अस्तित्व में अविभाज्य है।
3. मानव जागृतिपूर्वक ही जानता है, मानता है, पहचानता है, निर्वाह करता है। यही जीवन सहज जागृति प्रक्रिया है।
4. जागृति प्रक्रिया ही प्रत्येक मानव के प्रमाणित होने का वैभव है।

अस्तित्व में रासायनिक-भौतिक क्रियाकलापों को सहअस्तित्व सहज विधि से जानना, मानना, पहचानना, निर्वाह करना, जागृति का प्रमाण है। सहअस्तित्व स्वयं व्यवस्था है या कह सकते है कि सहअस्तित्व के रूप में व्यवस्था नित्य वर्तमान है। वर्तमान ही मानव में, से, के लिए अध्ययन की संपूर्ण वस्तु हैं। इस प्रकार से अस्तित्व ही सहअस्तित्व है। सहअस्तित्व में विकासक्रम, विकास, जीवन, जीवन जागृति, रासायनिक-भौतिक रचना एवं विरचनाएँ अध्ययन के लिए संपूर्ण आयाम है। जबकि अस्तित्व समग्र ही अध्ययन के लिए, संस्कार के लिए, व्यवस्था के लिए संपूर्ण संप्राप्ति है। यह सदा ही मानव में, से, के लिए समीचीन रहता ही है। जितना भी परेशानी, व्यतिरेक और समस्याओं को मानव ने झेला है वह सब शिक्षागद्दी, राजगद्दी और धर्मगद्दी की करामात है। आज की स्थिति में शिक्षागद्दी प्रधान है। शिक्षा के धारक-वाहक के रूप में सभी दिग्गज, बुद्धिजीवी, नेता, साहित्यकार सम्मान पाना चाह रहे है जबकि यह हो नहीं पा रहा है।

जब मैं जागृति पूर्वक अस्तित्व सहज अध्ययन के लिए प्रस्तुत हुआ तब यह पता लगा कि अस्तित्व समग्र ही अध्ययन की वस्तु है, तभी यह भी पता लगा कि मानव भी अस्तित्व में अविभाज्य है। "मानव जीवन और शरीर का संयुक्त साकार रूप है" - इसे पहले स्पष्ट किया जा चुका है। इसी क्रम में यह भी देखने को मिला कि जीवन ही सहअस्तित्व में जागृति पूर्वक दृष्टा पद प्रतिष्ठा पाता हैं। यही जीवन तृप्ति का आधार बिंदु है और यही जीवन जागृति परंपरा रूप में प्रमाणित होना-रहना सहज जागृति को प्रमाणित करने का अधिकार है। इस क्रम में मानव ही जागृति पूर्वक दृष्टा पद में है- यह ख्यात होता है। ख्यात होने का तात्पर्य है कि इंगित तथ्य सभी को स्वीकार हो चुका है। इसका लोक व्यापीकरण हो सकता है और प्रत्येक व्यक्ति इसे स्वीकारने के लिए बाध्य है। इस बाध्यता का तात्पर्य आवश्यकता, विचार, इच्छा, कल्पना के रूप में सहमति से है। जागृति सहज आवश्यकता के संदर्भ में परीक्षण किया जा सकता है। बच्चे, बूढ़े, ज्ञानी, अज्ञानी, गरीब, अमीर सबसे इस बात की परीक्षा की जा सकती है कि जागृति एक आवश्यक तत्व है या नहीं। सबका निष्कर्ष यही होगा कि जागृति आवश्यक है। इस प्रकार मानव में जागृति की आवश्यकता ख्यात होना प्रमाणित है।

जागृति का परिणाम जानना, मानना, पहचानना और निर्वाह करना ही है। यह जागृति प्रत्येक व्यक्ति में प्रमाणित हो सकता है। यह तभी संभव है जब परंपरा जो जागृति का कारक, धारक एवं स्रोत है, स्वयं जागृत रहे। अभी तक परंपरा ही भ्रमित रहा। इसका परिणाम है कि अखण्ड समाज और उसकी निरंतरता प्राप्त नहीं हुई और सार्वभौम व्यवस्था प्राप्त नहीं हुआ। इसका साक्ष्य यही है कि अभी तक अखण्ड समाज का स्वरुप नहीं बन पाया और न ही सार्वभौम व्यवस्था का।

सार्वभौम व्यवस्था को पाने के क्रम में रासायनिक व भौतिक क्रियाकलापों का विधिवत् अध्ययन करना ही होगा। विधिवत् अध्ययन का तात्पर्य है- जो साक्ष्य और वैभव अस्तित्व सहज रूप में ही वर्तमान है उसको वैसे ही जानना, मानना, पहचानना और निर्वाह करना। ऐसा करने पर पता चलता है कि रासायनिक रचनाएँ, चैतन्य प्रकृति के लिए पूरक है और विरचनाएँ जड़ प्रकृति के लिए पूरक है। भौतिक वस्तुओं का मूल रूप और व्यवस्था का प्रमाण विकास को व्यक्त करने वाला वस्तु परमाणु है। प्रत्येक परमाणु अपने में व्यवस्था होने का प्रमाण है। अणु और अणु रचित पिण्डों के रूप में वस्तुएँ है, इस तथ्य को स्पष्ट किया जा चुका है। **अतएव व्यवस्था और विकास को पहचानने का आधार परमाणु है न कि रचना।**

जिस रचना में जो वस्तु समाहित है उससे वह रचना अधिक नहीं होता। दूसरी विधि से जो जिस वस्तु से बना रहता है, उस रचना की संपूर्ण मौलिकता उस वस्तु के समान होती है। इसको समझने के क्रम में एक लोहे का परमाणु, अनंत परमाणु, एक लोहे का पिण्ड, अनेक पिण्ड ऐसा देखने को मिलता है। लोहे के एक अणु में जितने भी परमाणु समाहित रहते है, उसका मूल्य मूलत: एक परमाणु में लोहत्व समान ही होता हैं। इस आधार पर किसी भी एक प्रजाति के परमाणु से रचित रचनाएँ, आकार, आयतन, घन रूप में बढ़ते-घटते अवश्य हैं। इसके आधार पर अर्थात् मानव शरीर के आधार पर नाप-तौल के आधार पर जिसको हम मात्रा कहते है उस विधि से घटने-बढ़ने मात्र से उन उन वस्तुओं का गुण, स्वभाव जो "त्व" के रूप में प्रमाणित रहती है वह न तो घटती है और न ही बढ़ती है। यह इस बात का साक्ष्य है कि विकास क्रम में हर बिन्दु अपने में विकास क्रम में निश्चित है, क्योंकि लोहत्व, स्वर्णत्व, मणित्व ये सब अपनी अपनी प्रजात्यात्मक परमाणुओं से रचित रचना के रूप में स्पष्ट है। यह सब विकास क्रम में निश्चयता का द्योतक है। इसी आधार पर सहअस्तित्व में प्रत्येक एक अपने त्व सहित व्यवस्था है और समग्र व्यवस्था में भागीदार है। इस सत्य को ख्यात करता है।

इसी क्रम में रासायनिक वस्तुएँ अपने 'त्व' सहित व्यवस्था है और समग्र व्यवस्था में भागीदार है। प्राणकोषाओं से ही संपूर्ण वनस्पतियाँ रचित हुआ करती हैं। इन्हीं प्राणकोषाओं से ही जलचर, नभचर, भूचर जीवों का भी शरीर रचित रहता है। इनमें से प्राणावस्था की सभी रचनाएँ (अर्थात् पेड़-पौधे) ऋतु संतुलन के आधार पर वैभवित रहता है और जीव तथा मानव के आहार आदि के रूप में पूरक होता है। प्राणावस्था की विरचना पदार्थावस्था के लिए पूरक है- यह स्पष्ट हुआ एवं प्रमाणित हुआ है। ये सब उर्वरक के रूप में परिवर्तित होकर धरती की उर्वरा शक्ति को बढ़ा देते हैं। इस प्रकार भौतिक-रासायनिक वस्तुएँ सहअस्तित्व के रूप में व्यवस्था को प्रमाणित करता है।

अस्तित्व सहज वर्तमान में मानव जब जागृतिपूर्वक द्दष्टा पद में होता है-ऐसी स्थिति में भौतिक-रासायनिक व चैतन्य जीवन, ये समस्त वस्तुएँ व्यापक असीम अवकाश रुपी सत्ता में संपृक्त और अविभाज्य रूप में होना-रहना स्वीकार होता है- यह समझ में आता है। यही मानव में, से, के लिए जागृत होने के क्रम में मुख्य मुद्दा है। ऐसी अविभाज्यता वर्तमान में अनुभव होना ही निर्भ्रमता का प्रमाण है। इस प्रकार इस अस्तित्व को समझने के उपरान्त प्रत्येक मानव प्रामाणिक होता ही है।

प्रामाणिक होने के लिए सहअस्तित्व रूपी सत्य में अनुभव करना मानव के लिए संभव है। यह सभी को तभी संभव है, जब शिक्षा का मानवीयकरण हो जावे। इन तीनों स्थितियों में मानव के वैभवित होने के लिए जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान और मानवीयता पूर्ण आचरण ज्ञान ही प्रधान तत्व है। इस सत्य सहज जागृति को मानव प्रमाणित करें यह एक आवश्यकता है क्योंकि:-

1. जागृति पूर्वक ही मानव परपंरा सर्वतोमुखी समाधान पूर्वक व्यक्त होता है।
2. जागृतिपूर्ण मानव परंपरा में ही जागृति पूर्ण शिक्षा-संस्कार सर्व सुलभ होता है।
3. जागृति पूर्वक ही मानव परंपरा में न्याय और सुरक्षा सर्व सुलभ होता है।
4. जागृति सहज मानव परंपरा में उत्पादन सुलभता प्रमाणित होता है।
5. जागृतिपूर्ण मानव पंरपरा में ही आवर्तनशील अर्थ प्रणाली श्रम नियोजन, श्रम विनिमय पद्धति से विनिमय सुलभता होता है।
6. जागृति पूर्ण मानव परंपरा में ही परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था दश सोपानीय विधि से सर्वसुलभ हो पाता है। ये सभी मानवों के लिए आशित (अपेक्षित), आकांक्षित और आवश्यकीय उपलब्धियाँ हैं। इसके सफल होने के मूल में मानव परंपरा है। अर्थात् मानवीयतापूर्ण शिक्षा, संस्कार, संविधान और व्यवस्था है। यह मानवीयतापूर्ण अथवा जागृतिपूर्ण पद्धति, प्रणाली और नीति से प्रमाणित होता ही है।

परंपरा में जागृति होना तभी संभव है जब परिवर्तन की बेला में सच्चाईयों के आधार पर गहराई के साथ व्यवहार में, प्रमाणों को प्रमाणित करने की निष्ठा, कम से कम एक व्यक्ति में हो। एक से अधिक व्यक्ति में प्रमाणित करने की निष्ठा होना और भी अच्छा है।

विविध प्रकार से मानव इतिहास का आज हम अवलोकन कर पा रहे है। उसमें दो स्थल ऐसे दिखाई पड़ते है जिन स्थलों में गहराई, गंभीरता एवं व्यवहार प्रमाण का संयोग हो सकता था, लेकिन ऐसा हुआ नहीं।

1. ऐसा स्थल था, जब आदर्शवाद में आदर्शवादी विचार में, आदर्शवादी व्यवस्था में, आदर्शवादी शिक्षा में, संविधान और संस्कार में लोग अर्पित होने के लिए तैयार हो गए। उस क्षण में व्यवहार प्रमाण को अपरिहार्य रूप में स्वीकार सकते थे। जबकि ऐसा नहीं हुआ, फलत: सार्वभौम व्यवस्था नहीं हो पाई।

2. ऐसी संभावना अति निकट हुई जब आदर्शवादी विचार से भौतिकवादी विचार में मानव मानस को मोड़ने का मुहूर्त आया। उस समय में भी भौतिकवादी चिंतन ने व्यवहार प्रमाण की आवश्यकता को अनदेखा कर दिया। अब समाधान युग में संक्रिमत होने का समय आ रहा है। अभी कम से कम हम सब संघर्ष से समाधान युग में संक्रमित होना चाह रहे हैं। इससे यह देखने को मिलना बहुत आवश्यक है कि व्यवहार में "मानवत्व" प्रमाणित होता रहे।

"मानवीयता" व्यवहार में प्रमाणित होने का तात्पर्य यही है कि -

1. हम जीवन ज्ञान में पारंगत रहेंगे। स्वयं के प्रति विश्वास करेंगे श्रेष्ठता के प्रति सम्मान करेंगे।
2. अस्तित्व दर्शन में निर्भ्रम रहेंगे।
3. स्वधन, स्वनारी/स्वपुरुष, दयापूर्ण कार्य-व्यवहार करेंगे।
4. तन, मन, धन रुपी अर्थ का सदुपयोग एवं सुरक्षा करेंगे।
5. संबंधों को पहचानेंगे, मूल्यों का निर्वाह करेंगे, मूल्यांकन करेंगे।

यही मानवीयता को व्यवहार में प्रमाणित करने परस्पर तृप्ति और संतुलन का तात्पर्य है।

हर अवस्था की हर इकाई अपने 'त्व' सहित व्यवस्था है और समग्र व्यवस्था में भागीदारी निर्वाह करते हुए दिखाई पड़ता है। इस सूत्र के साथ एक सूत्र और हाथ लगता है- भागीदारी को निर्वाह करना अर्थात् पहचानना और निर्वाह करना है। भौतिक-रासायनिक पद्धति में भी यह वैभव देखने को मिलता है, जैसे –

परमाणु में एक से अधिक अंश एक दूसरे को पहचानते हुए निर्वाह करते है- इसलिए व्यवस्था है। अणु रचित पिण्डों के रूप में संग्रहित रहते है। अथवा विरल रूप में भी रहते हैं। ये सब एक दूसरे की पूरक विधि से कार्य करते है- यह प्रमाणित होता है। इसका साक्ष्य लौह परमाणु से रचित अणु रचित पिण्डों को मानव देखता है। इसी भाँति सोना आदि से भी धातुओं, मणियों, पाषाणों और मिट्टी अपने सहज रूप में एक-एक प्रजाति अपने-अपने में और सभी प्रजातियों के साथ सभी प्रजातियाँ तालमेल बनाए रखती है। इस तरह इस धरती का रूप दिखाई पड़ता है। इसी धरती में रासायनिक सहज वैभव वैभवित हो चुका है अर्थात् रासायनिक द्रव्यों की जो-जो रचनाएँ होनी थी वे सब हो चुकी। "होनी थी" का तात्पर्य यही है कि सहअस्तित्व में सभी रचना कार्य, परिणाम, प्रयोजन स्वीकृत रहता ही है। इसकी गवाही यही है कि-

1. पदार्थावस्था की संपूर्ण रचनाएँ, उसका फल सहअस्तित्व में पूरकता के रूप में स्वीकृत है।
2. इसी भाँति प्राणावस्था, जीवावस्था, ज्ञानावस्था सहज शरीर रचनाएँ उसका प्रयोजन और कार्य सहअस्तित्व में स्वीकृत है ।

सहअस्तित्व में स्वीकृति का सिद्धांत यही है - 'त्व' सहित व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी, यह सहअस्तित्व सहज अभिव्यक्ति है। इसलिए यह व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी होने का कार्य प्रणाली और फल परिणाम पहले से स्वीकृत है। इसका साक्ष्य यही है कि परमाणु को परमाणु का संघटित विघटित कार्य और परिणाम अस्तित्व में पूरकता विधि से स्वीकृति होना पाया जाता है। इसी प्रकार एक झाड़ और पौधा भी अपने बीजानुषंगीय विधि से रचना-विरचना के रूप में ही अपने कार्य और परिणाम को व्यक्त करता है। यह सहअस्तित्व में स्वीकृति है। इस संदर्भ में पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि संपूर्ण वनस्पति रचनाओं का सभी जीवों और मानवों के लिए आहार आदि विधि से पूरक रहना पाया जाता है। वही विरचना की स्थिति में पदार्थावस्था के लिए पूरक होना पाया जाता है।

जीवों में भी यह देखने को मिलता है कि अधिकतर वंशानुषंगीय परंपरा निश्चित कार्य-व्यवहार विहार करता है- यह स्पष्ट हो चुका है। इन सब का शरीर और जीवन के संयुक्त रूप में होना पाया जाता है। शरीर ही अनेक रचनाओं का स्वरुप है। इन रचनाओं में जीव जाति पर्यन्त, प्राणावस्था और पदार्थावस्था के लिए पूरक होना पाया जाता है। सभी वन्य प्राणी जीवित अवस्था में वनस्पतियों के लिए अर्थात् प्राणावस्था के लिए पूरक है यह देखने को मिलता है। जीव जानवरों की श्वसन क्रिया से, मलमूत्र से बहुत सारी वनस्पतियों का रोग दूर होता है। शरीर जब विरचित हो जाता है, तब वह खाद गोबर होता ही है। इस प्रकार तीनों अवस्थाओं की परस्पर पूरकता को मानव देखता है। मानव इन तीनों अवस्थाओं के लिए पूरक है, यह स्वीकारता है। इसकी आवश्यकता को अनुभव करता है तब पूरकता की कसौटी में ठीक उतरता है। मानव अभी तक कसौटी में ठीक उतरा नहीं है।

अभी भी इसकी (मानव का अन्य अवस्थाओं के लिए) पूरक होने की प्रतीक्षा है। इस विधि से जो तथ्य इंगित होता है, वह यह है कि जागृत विधि से मानव भी अन्य प्रकृति अर्थात् जीवावस्था, प्राणावस्था, पदार्थावस्था के लिए और मानव (मानव) के लिए पूरक है। यह अस्तित्व सहज सत्य है, पर परंपराओं को भ्रम रहा एवं स्वयं उसकी अजागृतिवश मानव के लिए पूरक होने के जितने भी अवसर और आवश्यकताएँ है, उतनी पूरकता को मानव प्रणाणित नहीं कर पाया। अब तक कोई कोई लोग मानव कुल के लिए किसी भी अंश में, किन्हीं भी आयामों मे पूरक हुए हो ऐसे लोगों का यहाँ आज भी गीत गाया जाता है ।

मानव के बहुआयामी इतिहास में उन सभी आयामों के लिए पूरक होने के प्रमाण को मानव अपने कुल के लिए समर्पित नहीं कर पाया। इसी कारण अब प्रबुद्ध मानवों का यह दायित्व होता है कि सभी आयामों में जो रिक्त और अपेक्षित भाग है उसकी भरपाई कर देवें। उसमें से प्रथम और प्रमुख आयाम यही देखने को मिला-व्यवस्था और समग्र व्यवस्था मे भागीदारी। मानव जागृतिपूर्वक ही इसकी भरपाई कर पायेगा।

जागृति मानव की सर्वकालीन अपेक्षा और आवश्यकता है। अभी यह इस प्रकार से संभव हो गया कि-

अस्तित्व मूलक मानव केंद्रित दर्शन विधि से मानव ही चिंतनशील एक मात्र इकाई हैं। चिंतन का मूल तत्व अथवा मूल वैभव जीवन सहज रूप में होने वाले जानने, मानने के रूप में और उसके तृप्ति बिंदु के रूप में है। यही मानव में दर्शन ज्ञान का वैभव है। सहअस्तित्व दर्शन ही परम दर्शन है क्योंकि सहअस्तित्व ही परम सत्य है और जीवन विद्या ही परम विद्या हैं। इसका साक्षात्कार करने का उपाय है। मानवीय आचरण ही मानव में, से, के लिए परम आचरण है क्योंकि मानव मानवत्व सहित ही अपने में व्यवस्था है और समग्र व्यवस्था में भागीदारी कर सकता है। इसकी आवश्यकता प्रत्येक व्यक्ति को है।

अस्तित्व सहज सहअस्तित्व में संपूर्ण प्रकृति को भौतिक-रासायनिक एवं चैतन्य रूप में मानव देख, समझ पाता है। चैतन्य रूप में जो जीवन देखने को मिल रहा है, इसे देखने वाला मानव ही है। दिखने वाली चीज मानव के लिए अध्ययनगम्य हो पाती है। जैसे- प्रत्येक मानव में चयन और आस्वादन, विश्लेषण और तुलन, चित्रण और चिंतन, संकल्प और बोध, प्रामाणिकता और अनुभव - ये दस क्रियाएँ जीवन सहज क्रियाएँ हैं। इनके प्रकाशन संप्रेषणा और अभिव्यक्ति क्रम में शरीर को जीवन्त माना जाता है। शरीर का जीवित रहना माना जाता है। इन क्रियाओं का अध्ययन प्रत्येक मानव में निरीक्षण-परीक्षण पूर्वक किया जा सकता है। इन दस क्रियाओं में, से कुछ क्रियाएँ व्यवहार में प्रमाणित रहती है। कुछ क्रियाएँ प्रमाणित नहीं रह पा रही हैं, यही मूलत: जीवन सहज अतृप्ति और समस्या है। फलत: अव्यवस्था ही हाथ लगती है। इसलिए अभी वर्तमान में कितनी क्रियाएँ व्यवहार में प्रमाणित होती है और व्यवहार में कितनी प्रमाणित नहीं हो पा रही है, इसका परिशीलन हम कर सकते हैं। और जितनी क्रियाएँ व्यवहार में प्रमाणित नहीं हो पा रही हैं उसको पहचान सकते हैं। इसके निराकरण के लिए उचित उपायों को प्राप्त कर सकते हैं। क्योंकि प्रत्येक मानव में जीवन सहज कल्पनाशीलता-कर्म स्वतंत्रता नित्य प्रभावी है। इसी आधार पर उपायों को खोजना प्रत्येक मानव में, से, के लिए सहज संभव है। प्रत्येक मानव जागृति पूर्वक जीवन सहज दस क्रियाकलापों को स्वयं में, स्वयं से, स्वयं के लिए पहचान सकता है और परस्परता में प्राप्त मानव को भी अध्ययन कर सकता है। परस्परता में प्राप्त मानव, स्वाभाविक रूप में प्राप्त परस्परता के साथ व्यवहार करता ही है। व्यवहार में

जीवन की वे क्रियाएँ जो जागृत हो चुकी हैं - यही प्रकाशित, संप्रेषित, अभिव्यक्त हो रही है। अन्य क्रियाएँ अर्थात् शेष क्रियाएँ जो जागृत नहीं है वे प्रकाशित नहीं होती।

दस क्रियाएँ जो ऊपर बताई गई है, वे जीवन सहज संपूर्ण क्रियाएँ हैं। ये सभी क्रियाएँ अविभाज्य है। अविभाज्यता का तात्पर्य एक दूसरे से अलग न होने से हैं। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि जीवन अपनी संपूर्णता में वैभव है और जीवन का भाग-विभाग नहीं होता। किसी भी दबाव, कितने भी दबाव और विखण्डन विधियों से जीवन को भाग-विभाग नहीं किया जा सकता, क्योंकि दबाव और भाग-विभाग की जो कुछ भी परिकल्पना है वह मानव में ही सर्वाधिक रूप से प्रकाशित होती दिखाई पड़ती है। इसका तात्पर्य यही हुआ कि मानव जीवन को भाग-विभाग में अर्थात् विखंडन और दबाव से कुछ करना चाह सकता है किन्तु कर नहीं पायेगा क्योंकि कल्पनाशीलता में बहुत सारी ऐसी चीजों की कल्पना की जा सकती हैं। इसको मानव देखता है पानी बहता है, इसलिए मिट्टी भी बहेगी, पत्थर भी बहेगा ऐसी कल्पना कर सकते है जबकि ऐसा होता नहीं। इससे यह भी स्पष्ट हुआ कि उदाहरणों के आधार पर और अधिक स्पष्ट रूप में जिसकी यथार्थता को अध्ययन करना है, उससे भिन्न वस्तु का उदाहरण देकर उस वस्तु का अध्ययन करना संभव नहीं है। जिसको हम उदाहरण से अध्ययन करना चाहते है जैसे ऊपर एक उदाहरण और अध्ययन की बात बताई गई। इसमें पत्थर को, मिट्टी को उन-उनके आचरण के अनुसार अध्ययन करना होगा न कि पानी के आचरण के अनुसार। इस प्रकार हमें यह भी समझ में आता है कि अध्ययन का आधार उनका आचरण ही है।

उक्त तथ्य को ध्यान में रखते हुए हम देखें कि भ्रम में मानव ने अध्ययन का जो तरीका अत्याधुनिक माना है, वह कितना बेतुका है। वह तरीका है- मानव को अध्ययन करना है तो मानव को काटकर देखो, एक झाड़ का अध्ययन करना है तो झाड़ को काटकर देखो; एक अणु का अध्ययन करना है तो अणु को काटो; एक परमाणु का अध्ययन करना है तो एक परमाणु को काटो। इस अध्ययन विधि में खण्ड-विखण्ड अथवा क्षत-विक्षत करने के लिए दबाव विधि को अधिक कारगर माना गया है- जैसे "चुम्बकीय बल का दबाव डालने से परमाणु में आवेश पैदा होना"- फलस्वरुप सभी अंशों का अलग-अलग हो जाना पाया जाता है। परमाणु ही सबसे अधिक सूक्ष्म है, इस कारण परमाणु में ही मूल व्यवस्था समाहित है, इस कारण दबाव विधि से ही आवेश और विखण्डन पाया गया। इसमें मूलत: "शक्ति किसकी लगी और क्या लगी"- यह खोजने पर उत्तर मिलता है कि "विदेशी शक्ति अर्थात् परमाणु से भिन्न चुम्बकीय विद्युत शक्ति व बल लगा"- इसकी संप्रेषणा हुई। इसीलिए परमाणु में जो विकार पैदा होना था, वह हुआ। इसी से यह पता

चलता है कि अत्याधुनिक अध्ययन विधि में किसी वस्तु को विकृत बनाये बिना अध्ययन नहीं होता-यह माना जाता है।

इसके साथ ही एक प्रश्न हम और लगा सकते थे कि "यह शक्ति किसकी थी?" इसका परिशीलन करने पर हम यह पाते है कि मानव की कल्पनाशीलता और कर्म स्वतंत्रता रुपी शक्ति और बल इसमें लगा। इसके सहज संबंध को हम देख सकते हैं। मानव की कर्म स्वतंत्रता, कल्पनाशीलता वश ही पहचानने-निर्वाह करने का कार्य प्रत्येक मानव से संपादित होता है। कल्पनाशीलता, कर्म स्वतंत्रता के फलस्वरुप ही प्राकृतिक घटना विद्युत को पहचान लिया गया। इसे गति के रूप में देखा गया। इसके मूल में विद्युत का होना मान लिया गया या उसके पहले की घटनाओं से चुम्बकीय तत्वों को पहचान चुके थे। फलस्वरुप चुम्बकीय क्रियाकलापों में मानव में अध्ययन परंपरा बनी। इस अध्ययन परंपरा में मानव की कल्पनाशीलता, कर्म स्वतंत्रता को प्रयोग करने से ही यह चुम्बकीय विद्युत घटनाक्रम समझ में आता हैं। इस संबध को जोड़े बिना ही आज अध्ययन संपन्न कराते हैं। सच यही है कि मानव की कल्पनाशीलता, कर्म स्वतंत्रता के संयोग से ही घटनाओं को पहचाना जा सकता है और घटनाओं को घटित किया जा सकता है। इसी क्रम में चुम्बकीय विद्युत घटना को मानव ने पहचाना है और उसको घटित किया है। इस प्रकार आज भी यह प्रमाणित है, पहले भी था और सभी दिन ऐसे ही रहेगा।

वैज्ञानिक इतिहास के अनुसार भी इस बात को स्वीकारा गया है कि किसी निश्चित व्यक्ति, किसी घटना को उसके लिए समुचित उपक्रम (क्रिया प्रक्रिया) सहित घटना की रुपरेखा को विधिवत् अध्ययन गम्य कराया जाता है। इसके बावजूद इस बात को भुलावा देते है कि मानव की ही कल्पनाशीलता, कर्म स्वतंत्रता की यह देन है, वैभव है। इसके कारण में जाने पर पता लगता है कि पहली बार किसी घटना को घटित करने के लिए जो आदमी कारक और प्रेरक हुआ, उसके लिए दूसरे नहीं हो सकते थे। दूसरा, मानव सहज वैभव के अनुसार कोई भी घटना पहचानने में आई और घटना को मानव ने घटित कराया। मानव ने संपूर्ण उपक्रमों को अध्ययनगम्य करा दिया। उस ज्ञान का व्यापार करने के लिए तैयार हो गया। इन्हीं दो कारणों से ऊपर बताई परंपरा, किस तरह गुमराह हो इस तरीके को खोज लिया मानव ने। इस तरीके से आज तकनीकी विज्ञान का व्यापार प्रचलित हुआ। इससे मानव परंपरा क्षतिग्रस्त हुई। इस प्रकार देख सकते हैं कि:-

1. यदि एक मनुष्य अनुसंधानित वस्तु को अध्ययन कर मूल व्यक्ति के सदृश्य नहीं हो सकता है, तो यह स्वयं के प्रति विश्वासघात का आधार हुआ।

2. मनुष्य स्वयं अपने साथ विश्वासघात कर लेता है (वातावरण में, नैसर्गिकता के साथ विश्वासघात करते ही आया है। इसका प्रमाण है, नैसर्गिकता, वातावरण में असंतुलन बढ़ते आया) जैसे मानव - मानव के बीच अविश्वास, द्रोह, विद्रोह गहराना, शोषण प्रवृति, संग्रह रुपी प्रलोभन का बढ़ना, परस्पर समुदायों के बीच शोषण, युद्ध, द्रोह, विद्रोह ही राजनीति का आधार होना- ये सब गवाहियाँ है।

इससे कोई बेहतरीन समाज रचना अभी तक नहीं हो पाई और न ही इस विधि से हो पायेगी। इसका सिद्धांत यही है कि गलतियाँ कितनी ही बार दुहराई जायें उससे कोई सही उत्तर नहीं निकलता। सकारात्मक विधि से हर सही कार्य को कितनी ही बार दुहरायें उसका परिणाम सही और सार्थक समाधान ही निकलेगा। अब इस संसार में मानव से पूछा जाये कि "आप सही चाहते है या गलत?" तो हर व्यक्ति सही के पक्ष में ही सहमति प्रदान करता हैं। साथ ही सही और गलत क्या है? - यह पूछने पर यह उत्तर निकलता है कि सही गलत का संक्रमण बिंदु या सीमा रेखा स्पष्ट नहीं है। यह पूर्ववर्ती दोनों विचारधाराओं के अनुसार प्राप्त तर्क का स्वरुप हैं।

सही और गलत का संक्रमण बिन्दु अथवा सीमा रेखा जागृत मानव को समझ में आता है। जागृत मानव ही विकसित मानव है। जागृति के लिए प्रयत्नशील मानव ही विकासशील मानव हैं। जागृति के लिए प्रयत्नशील मानव को अल्प जागृत व अर्ध जागृत मानव जागृति क्रम कोटि में पहचाना जा सकता है। जागृति का प्रमाण है - अस्तित्व दर्शन अर्थात् सहअस्तित्व के प्रति पूर्ण जागृति अर्थात् :-

1. अस्तित्व कैसा है, इसका संपूर्ण उत्तर जिसके पास हो।
2. जो जीवन ज्ञान अर्थात् चैतन्य स्वरुप के अध्ययन में पारंगत हो और जिसका मानवीय आचरण वर्तमान में प्रमाणित हो, यही जागृत व्यक्ति का स्वरुप है।

इसका मतलब यही हुआ कि जो जीवन को भले प्रकार से जानता मानता हो; अस्तित्व को भले प्रकार से जानता मानता हो और मानवीयतापूर्ण आचरण अर्थात् स्वधन, स्वनारी, स्वपुरुष और दयापूर्ण कार्य-व्यवहार करता हो; तन, मन, धन रुपी अर्थ का सदुपयोग एवं सुरक्षा करता हो, संबंधों को पहचानता हो, मूल्यों का निर्वाह करता हो- यही मूल्य, चरित्र, नैतिकतापूर्ण मानवीय आचरण है।

इस प्रकार जागृत मानव का स्वरुप, कार्य और प्रमाण स्पष्ट हो जाता है। यह मानव कुल में अध्ययनगम्य होना और व्यवहारिक होना सहज है। जागृत मानव परंपरा का आधार भी इन्हीं तीन तथ्यों का मानव परंपरा में होने मात्र से है। जीवन ज्ञान और मानवीयता पूर्ण आचरण ज्ञान के रूप में मानवीयता प्रमाणित होती है। सहअस्तित्व दर्शन ज्ञान से वर्तमान रूप में विद्वत्ता प्रमाणित होती है। जीवन ज्ञान ही जीवन विद्या है।

अस्तित्व ही विद्वत्ता की संपूर्ण वस्तु है। मानवीयता ही संपूर्ण आचरण हैं। अखण्ड समाज ही विद्वत्तापूर्ण मानवत्व का वैभव है। सार्वभौम व्यवस्था ही अस्तित्व में जागृत मानव के अविभाज्य वर्तमान होने का प्रमाण है। मानव में स्वानुशासन ही जागृति पूर्णता का प्रमाण है। इस प्रकार अच्छाईयों में प्रमाणित, समर्थित मानव में धीरता, वीरता, उदारता, दया, कृपा, करुणा सहज मानवीय स्वभावों से अनुप्राणित, अभिप्रेरित और जीता-जागता स्थिति मिलता है। सही, न्याय, समाधान, अभ्युदय संपन्न श्रेष्ठतम मानव परिवार, मानव समाज, मानव व्यवस्था का सहज वैभव है। यही विकसित परिवार अर्थात् जागृत परिवार, जागृत समाज अथवा जागृत मानव अखण्ड समाज के अर्थ में सार्थक हो पाता है।

यह समाधानात्मक भौतिकवाद की सार्थकता और उद्देश्य है।

जागृति के आधार पर ही मानव संबंध, मूल्य और मूल्यांकन विधि से न्याय को प्रमाणित करता है। यह जागृति का प्रमाण है। सहअस्तित्व में संबध सहज वर्तमान है, इसको पहचान लेना जागृति है। संबंध को पहचानने का प्रमाण ही है मूल्यों का निर्वाह करना। इससे यह सूत्र स्पष्ट हो जाता है कि मूल्यों का निर्वाह करना जीवन सहज हैं। संबंधों को पहचानना मानव सहज है। शरीर और जीवन के संयुक्त रूप में मानव हैं। मानव सहज रूप में जो-जो पहचान पाता है उसी में जीवन शक्तियाँ और बल अभिव्यक्त होते हैं। इसका प्रमाण मानव इतिहास रुपी विभिन्न आयामों में इसके कार्यकलापों को स्मरण में लाने पर स्वयं स्पष्ट होता है। जैसे-जैसे आदि काल से मानव जिस वस्तु को पहचान कर पाता था उसी में मानव शक्तियाँ अर्थात् आशा, विचार, इच्छा रुपी शक्तियाँ लगता ही रहा है। इसे किसी भी आयाम के साथ विचार कर देखें और वर्तमान में किसी भी एक पहचान के साथ अपना परीक्षण कर देखें। इस धरती के प्रत्येक मानव को देखें तब हम यही पाते है कि जो संबंधों को जैसा पहचान लिए है उसी में उसकी शक्तियाँ बहती हुई दिखाई देती है।

जैसे एक व्यक्ति अपने बच्चे को पहचान लिया उस स्थिति में ममता व वात्सल्य मूल्य अपने आप बहता है। उसी प्रकार जैसे स्वयं के बच्चे को पहचाने और ममता वात्सल्य बहा, वैसे ही किसी भी बच्चे को पहचानने की स्थिति में वैसा ही ममता और वात्सल्य का बहना देखने को मिलता है। एक मित्र का एक मित्र के साथ संबंध पूर्णतया पहचानने के उपरान्त पहचान तथा निर्वाह हो पाता है। वैसे ही प्रत्येक मित्र के साथ पहचान तथा निर्वाह हो पाना स्वाभाविक है। ऐसे ही गहराई से देखें तो प्रत्येक व्यक्ति अपने सम्मुख मित्रता सहित मुलाकातें होने की कामना करता ही है। प्रत्येक व्यक्ति से हर व्यक्ति विश्वास की अपेक्षा रखता है, न कि अविश्वास की। इसका प्रमाण यही है कि अनजान देश, अनजान व्यक्ति, अनजान भाषा आदि की विपरीतता होते हुए भी एक दूसरे से मिलने के लिए जब कोई व्यक्ति मानसिकता बनाता है, तब सामने वाला व्यक्ति

विश्वास निर्वाह करने में ही अधिक भरोसा करता है। इसी क्रम में हर संस्था में भागीदारी करने वालों की परस्परता में विश्वास निर्वाह होने की इच्छा बनी रहती है। हर समुदाय, हर देश की परस्परता में भी विश्वास निर्वाह की निश्चित रूप रेखा के साथ निर्वाह करने की स्थिति में परस्पर मित्र राष्ट्र, मित्र समुदाय कहलाते हैं। अर्थात् परस्पर निश्चित अपेक्षाएँ निर्वाह होने की स्थिति में यह परस्पर मित्रता कहलाती हैं। इसका निश्चित न्याय बिन्दु या सार्वभौम न्याय बिन्दु मानवीयता और पांडित्य के साथ ही प्रमाणित हो पाता है।

अस्तित्व सहज मानव में समग्र अस्तित्व के प्रति विश्वास, वर्तमान के प्रति विश्वास, स्वयं के प्रति विश्वास होना, संबंधों को पहचानना, मूल्यों का निर्वाह करना, मूल्यांकन करना बन जाता है। यह जागृत मानव परंपरा में ही सर्व सुलभ सर्वसाध्य हो पाता है। समुदाय परंपराओं में यह संभव नहीं हो पाता। इसका प्रमाण आज तक का बीता हुआ इतिहास है।

विश्वास मूलत: वर्तमान में निष्ठा ही है। निष्ठा के फल में समाधान होने की स्थिति में उसकी (निष्ठा की) निरंतरता होने के लिए प्रयास बना रहता है । वर्तमान में समाधान व्यवस्था का ही प्रमाण है। ऐसा सर्वतोमुखी समाधान, सार्वभौम व्यवस्था व अखण्ड समाज परंपरा में प्रमाणित होता है। सर्वतोमुखी समाधान क्रम में प्रत्येक मानव व्यवस्था में भागीदारी के रूप में प्रमाणित हो पाता है। यही प्रत्येक मानव में समाधान का प्रमाण है।

रासायनिक-भौतिक वस्तुएँ और जीव संसार स्वयं में व्यवस्था संपन्न है। रासायनिक-भौतिक वस्तुएँ पूरकता, उदात्तीकरण विधि से अथवा नियम से व्यवस्थित रहने का प्रमाण नित्य प्रस्तुत करती है। जिसमें दृष्ट रूप में मानव का कोई योगदान नहीं है क्योंकि जिस किसी भी धरती में मानव होगा, उसके अवतरण के पहले ही रासायनिक-भौतिक वैभव और जीव कोटि का कार्यकलाप विद्यमान रहा हैं। उक्त तीनों परंपराओं में व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी स्पष्ट हो चुकी है। व्यवस्था का तात्पर्य है वर्तमान में वैभव होना, परंपरा के रूप में अक्षुण्ण होना। मृत (मिट्टी), पाषाण, मणि, धातु, वनस्पति, जीव- ये वर्तमान में अपने वंशानुषंगीय बीजानुषंगीय और परिणामानुषंगीयता से वैभवित रहते है, परंपरा के रूप में अक्षुण्ण रहते हैं।

मानव अभी तक विभिन्न आयामों के इतिहास सहित घटना क्रम में व्यक्त है। इतिहास में मानव जैसा जीते रहा और वर्तमान में जी रहा है, इसे देखने पर पता चलता है कि सार्वभौम व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी के प्रमाण को मानव प्रमाणित नहीं कर पाया है। फलस्वरुप अखण्ड समाज के स्वरुप का सार्थक होना अपेक्षा के ही रूप में रह गया। इसका मतलब यही निकला कि मानव जाति अपने ढंग से जैसे भी जीती आई और वर्तमान में जैसी है उसके अनुसार मानवत्व को न तो पहचाना गया है, न ही उसे व्यवस्था का रूप दिया गया है, न ही इसे अखण्ड समाज का आधार माना गया है। न मानने का प्रमाण है शिक्षा में

मानवीयता का अभाव, संस्कार परंपरा में मानवत्व तथा मानवीयता का अभाव, संविधान में मानव मूल्यों और मूल्यांकन का अभाव, व्यवस्था में मानवत्व मानवीयता संबंध और इसके निर्वाहों का अभाव।

राज्य का अर्थ संस्कार और व्यवस्था सहज वैभव है। धर्म का अर्थ सर्वतोमुखी समाधान पूर्ण ज्ञान ही संस्कार है, शिक्षा बनाम विद्वत्ता है। मानव का संपूर्ण आधार मानवीयता है यह सहअस्तित्व में अनुभव प्रमाण सहज विद्वत्ता ही है। प्रमाण भी मानवीयता और विद्वत्ता ही है। शिक्षा भी मानवीयता और विद्वत्ता हैं। संविधान भी मानवीयता और विद्वत्ता है। व्यवस्था भी मानवीयता और विद्वत्ता है। इस प्रकार मानवीयतापूर्ण परंपरा नित्य समीचीन रहते हुए नस्ल, रंग, रहस्य और वस्तु विभिन्न भाषा, पंथ, संप्रदाय अहमतावश अर्थात् अतिव्याप्ति, अनाव्याप्ति, अव्याप्ति, दोषवश विद्वान और ज्ञानी कहलाने वाले राज, धर्म, विज्ञान, स्वास्थ्य, कला और साहित्य शास्त्रियों ने मानव परंपरा के स्थान पर भ्रमित परंपरा की अनुशंसा कर डाली, फलस्वरुप संपूर्ण प्रचारतंत्र ही भ्रम के वशीभूत हो गया। इसीलिए बेहतरीन समाज की परिकल्पना ही उभर न पायी। बेहतरीन समाज का तात्पर्य अखण्ड समाज ही है। इसी भ्रमवश, मानव का वैभव प्रमाणित न हो पाया। जो कुछ भी मानव का वर्तमान कहा जावे वह केवल वंशवृद्धि है अर्थात् जनसंख्या वृद्धि ही वर्तमान रह गया है।

मानवीयता अपने स्वरुप में जीवन ज्ञान सहित मानवीयतापूर्ण आचरण ही है। विद्वत्ता का स्वरुप अस्तित्व दर्शन ही है। अस्तित्व को समझना ही अर्थात् जानना, मानना, उसकी तृप्ति बिन्दु का अनुभव करना ही दर्शन है। मानव में पहले बताई हुई दस क्रियाओं के अविभाज्य वैभव को जीवन ज्ञान कहा है। इसे स्वयं में पहचानना, जानना, मानना और उसकी तृप्ति बिंदु का अनुभव करना तथा न्याय, धर्म बनाम सर्वतोमुखी समाधान सत्य बनाम अनुभव और प्रामाणिकता पूर्ण विधि से अभिव्यक्त, संप्रेषित और प्रकाशित होना जीवन ज्ञान का तात्पर्य है।

जीवन सहज कार्यकलापों में, से बोध और अनुभव हैं। तृप्ति क्रम में सहअस्तित्व सहज पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था एवं ज्ञानावस्था ये सभी अवस्थाएँ सत्ता में संपृक्त जड़-चैतन्य प्रकृति के रूप में नित्य विद्यमान, नित्य वर्तमान है। इस सहज सत्य को जानना, मानना और तृप्ति बिंदु का अनुभव करना, उसकी निरंतरता बनी ही रहना, उसकी अभिव्यक्ति, संप्रेषणा को अध्ययन विधि से सार्थक बना देना, साथ ही स्वानुशासन विधि से जीने की कला को प्रमाणित करना ही दर्शन शास्त्र का सार्थक रूप हैं।

सत्य बोध और अनुभव के लिए दर्शक को ज्ञान दृष्टि द्वारा ही दृश्य समझ में आता है। समझ में आने के मूल में जानना, मानना प्रक्रिया है। जानने, मानने का संयुक्त स्वरुप ही अनुभव बोध हैं। इसकी तृप्ति और अक्षुण्णता ही बोध सम्पन्न परंपरा है। दृष्टा पद का प्रयोग बोध और अनुभव के रूप में ही हो पाता हैं।

इसको देखा, समझा और अनुभव किया गया है। बोध और अनुभव, सत्य सहज रूप में ही हो पाता है। परम सत्य सहअस्तित्व ही है। अस्तित्व समग्र शाश्वत वर्तमान है। अस्तित्व में इस धरती में दिखने वाली चारों अवस्थाएँ हैं। इसी का प्रमाण है कि इस धरती पर ये चारों अवस्थाएँ स्वयं प्रमाणित हैं। अस्तित्व में होना ही कभी भी, कहीं भी प्रमाणित होना है।

जैसे अभी हम देख रहे है, समझ रहे है चन्द्रमा पर कोई जीव -जन्तु, वनस्पति नहीं है। कालान्तर में वहाँ ये सब होने की संभावना बनी है। सूर्य को मानव ज्ञान के अनुसार सर्वाधिक तपे हुए बिंब के रूप में पहचाना जाता है। मानव की कल्पना में यह भी आता है कि कालान्तर में यह ठंडा हो सकता है- ऐसा भी सोच सकते हैं। ऐसी स्थिति में इस धरती की स्थिति, गति क्या होगी, इस संदर्भ में कल्पनाओं को दौड़ाया जाता है। सूर्य यदि ठंडा हो गया तो उसके पहले तरल, ठोस रूप में परिवर्तित होगा यह अवश्यंभावी है। तब चन्द्रमा जैसी धरती हो गई, यह माना जा सकता है। अभी चन्द्रमा में जैसा हम सोचते है, आशा रखते है, कि भविष्य में रस, उपरस, रासायनिक वैभव वहाँ साकार हो सकता है। उसी प्रकार सूर्य में भी ऐसा हो सकता है यह सोचा जा सकता है। मानव की कल्पनाशीलता सीमित नहीं है, यह कितनी भी हो सकती है। मानव सहज कल्पनाशीलता अक्षय है जबकि अस्तित्व स्वयं में व्यापक और अखण्ड है । शब्दों से यथार्थ को व्यक्त करते हैं। इस गवाही से पता लगता है कि मानव सहज कल्पना देश कालों का दृष्टा हो जाता है। भले ही वह कल्पना दृश्यों का दृष्टा न हो।

इस तरह प्रकारान्तर से यह हर व्यक्ति में (दृष्टा होना और कल्पनाशील होना) प्रमाणित होता ही है। अस्तित्व अनंत और व्यापक है। देशकाल से मुक्त हैं। इसी आधार पर इसमें देश कालातीत महिमा का होना अवश्यंभावी रहता है। यह दृष्टा पद मानव में सहज सार्थक होता है। अस्तित्व में जागृत मानव ही दृष्टा पद में है। दृष्टा, दृश्य, दर्शन अविभाज्य है, क्योंकि अस्तित्व में चारों अवस्थाएँ सत्ता में अविभाज्य है। जागृत मानव का अस्तित्व में अविभाज्य प्रमाणित होना ही दृष्टा पद का प्रमाण है। इस तथ्य को ध्यान में लाने पर बहुआयामी कार्य सहित मानव की समीक्षा उनके कार्यों के आधार पर स्पष्ट हो जाती है।

अस्तित्व नित्य वर्तमान है, जागृत मानव दृष्टा पद में है; यह परम सत्य है, इस पर आधारित एक नजरिया है। इस नजरिए से विगत को, इतिहास के ढंग से देखने पर पता चलता है कि सभी परंपराएँ अपने-अपने समुदाय अथवा व्यक्ति के लिए अनेकानेक छल, बल, समोहन, प्रलोभन करती रही और इससे परेशानियाँ बढ़ाता रहा। इसका मूल कारण इतना ही है कि भ्रमित मानव समुदाय परंपरा में अपने ढंग से भ्रमित रहकर भ्रमित परंपरा बनाने के लिए जीवन की शक्तियों को लगाते रहे। आदिकाल से ही मानव जीवन और शरीर का संयुक्त साकार रूप है, जीव चेतनावश भय प्रलोभन रूप में जीवन शक्तियाँ पहले भी काम

करती रही है, अभी भी काम कर रही हैं। इस आधार पर वर्तमान में भ्रम-निर्भ्रम संबंधी परीक्षण करने जाते है तब पता चलता है कि :-

1. मानव सर्वप्रथम कल्पनाओं को भ्रमवश सत्य मानता रहा है।
2. भ्रमित विचारों के आधार पर सत्य मान लेता है।
3. भ्रमित इच्छाओं के आधार पर सत्य मान लेता है।
4. सत्य बोध के आधार पर सहअस्तित्व समझ में आता है।
5. सहअस्तित्व रूपी परम सत्य में अनुभव के आधार पर सत्य समझता है, प्रमाणित रहता है।

इस चित्रण में महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि मानव में दस क्रियाएँ बताई गई है, जिनमें से पाँच क्रियाएँ बल के रूप में तथा पाँच क्रियाएँ शक्ति के रूप में कार्यरत रहती हैं। जागृत मानव में, से, के लिए बल और शक्ति ही, स्थिति और गति के रूप में प्रमाणित होते हैं। स्थिति और गति अविभाज्य है, इसको स्वयं में ऐसा अनुभव किया जा सकता है, निरीक्षण किया जा सकता है। मनोबल आस्वादन-चयन के रूप में, वृत्ति बल तुलन-विश्लेषण के रूप में, चित्त बल चिन्तन-चित्रण के रूप में, बुद्धि बल बोध व संकल्प के रूप में, आत्मबल अनुभव प्रामाणिकता के रूप में पहचानने में आता है। शक्तियाँ क्रमश: मन शक्ति चयन के रूप में, वृत्ति शक्ति विश्लेषण के रूप में, चित्त शक्ति चित्रण के रूप में, बुद्धि शक्ति संकल्प के रूप में, आत्म शक्ति प्रामाणिकता के रूप में प्रमाणित हो पाता है।

भ्रमित मानव का सामाजिक होने का प्रश्न ही नहीं होता। अमानव ही पशुमानव और राक्षस मानव के रूप में व्याख्यायित होते हैं। राक्षस मानव क्रूरता प्रधान होते है और पशु मानव दीनता प्रधान रहते है, ये दोनों अमानवीय कोटि में आते हैं। इसीलिए अमानवीय परंपरा में अपराधों का पनपना होता ही है।

अस्तु, सार्थक निष्कर्षों को निकालने की आवश्यकता अधिकांश लोग महसूस करते है। निष्कर्ष की ओर कल्पना, विचार, इच्छाओं को दौड़ाने पर परंपराओं की निरर्थकता समझ में आता है। इसके बदले में क्या हो- यह सार बात है। समाधानात्मक भौतिकवाद ने निर्णायक विधियों को पाने के लिए विज्ञान, विवेक और ज्ञान सम्मत तर्क प्रणाली को अपनाया। विज्ञान का तात्पर्य कालवादी, क्रियावादी, निर्णयवादी ज्ञान से हैं। विवेक का तात्पर्य जीवन का अमरत्व अर्थात् जीवन ज्ञान संपन्नता, शरीर का नश्वरत्व और व्यवहार के नियम अर्थात् :-

1. बौद्धिक नियम
2. सामाजिक नियम
3. प्राकृतिक नियम से है।

बौद्धिक नियम का तात्पर्य :-

1. असंग्रह अर्थात् आवर्तनशील अर्थ व्यवस्था में भागीदारी।
2. स्नेह अर्थात् संबंधों को पहचानने में, मूल्यों को निर्वाह करने में विश्वास।
3. जीवन विद्या में पारंगत रहना, पांरगत होने में विश्वास, प्रतिभा और व्यक्तित्व में सामरस्यता सहज विश्वास। व्यवहार में सामाजिक, व्यवसाय में स्वावलंबी होने में विश्वास।
4. सरलता अर्थात् संबंधों को पहचानने में विश्वास मूल्यों को निर्वाह करने में विश्वास और मूल्यांकन करने में विश्वास।
5. अभय अर्थात् स्वयं मानवत्व सहित व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी होने में विश्वास है।

सामाजिक नियम :-

1. स्वधन अर्थात् प्रतिफल, पारितोष और पुरस्कार रूप में प्राप्त धन से है।
2. स्वनारी और स्व पुरुष-विवाह पूर्वक प्राप्त दापत्य संबंध।
3. दया पूर्ण कार्य-व्यवहार अर्थात् अविकसित के विकास में सहायक होने का संपूर्ण कार्य है।

प्राकृतिक नियम चार सूत्रों से संबंद्ध है :-

1. पूरकता, उपयोगिता, नियम, नियंत्रण, संतुलन
2. उदात्तीकरण, संरक्षण
3. विकासक्रम, विकास, जागृतिक्रम, जागृति
4. त्व सहित व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी

प्राकृतिक नियम :- अपने स्वरुप में, प्राकृतिक संपदा के साथ, मानव का अपने को नैसर्गिक संबंध के रूप में पहचान और पहचानने में विश्वास है, क्योंकि मानव के लिए मानवेत्तर प्रकृति नैसर्गिक है और मानवेत्तर प्रकृति के लिए मानव नैसर्गिक है। इसमें पूरकता विधि को निर्वाह करना प्राकृतिक नियम है।

1. **संतुलन** :- प्राकृतिक संपदा को ऋतु संतुलन के अर्थ में संरक्षित करना व करने में विश्वास; असंतुलन की स्थिति में, संतुलित बनाने में विश्वास। प्राकृतिक संपदा को उसकी अभिवृद्धि के अनुपात में संतुलन को ध्यान में रखते हुए उपयोग, सदुपयोग करने में विश्वास।
2. **संरक्षण** :- धरती, जलवायु, वन, खनिज को संरक्षित करने में विश्वास।
3. **मूल्यांकन** :- प्राकृतिक ऐश्वर्य को उपयोगिता के आधार पर मूल्यांकन करने में विश्वास।

उक्त तीनों नियमों (बौद्धिक, सामाजिक, प्राकृतिक नियम) में इंगित व्यावहारिक प्रमाणों के आधार पर मानव, मानवीय समाज रचना में अर्थात् अखण्ड समाज रचना कार्य में सफल होता है।

इस धरती पर भौतिक क्रियाकलाप, रासायनिक क्रियाकलापों के लिए; रासायनिक क्रियाकलाप, भौतिक क्रियाकलापों के लिए पूरक है, यह स्पष्ट है। उदात्तीकरण सिद्धांत का प्रमाण वर्तमान में ही देखने को मिलता है कि विभिन्न दो प्रजाति के दो भौतिक ध्रुव जैसे एक जलने वाला - एक जलाने वाला यौगिक विधि से पानी में इस धरती पर अम्ल में, क्षार में एक से अधिक भौतिक तत्व मिलकर तरंगयात होते हैं। इनका संगीत विधि से वर्तमान रहना देखने को मिलता हैं। यही उदात्तीकरण का प्रमाण हैं। ऐसा रासायनिक वैभव क्रम में अनेक प्रकार के रस वैभव ठोस, तरल और विरल रूप में भी फैला दिखता है। जैसे, पानी ठोस रूप में बर्फ, तरल रूप में पानी दिखता ही है और वाष्प रूप में अर्थात् विरल रूप में भाप रहता है। इसी प्रकार से संपूर्ण रस और मिश्रित रस होना भी पाया जाता है। अस्तित्व में यह उदात्तीक्रम अपने आप में आनुपातिक होता हैं। इसका तात्पर्य यह है कि, इस धरती पर सभी रसायन द्रव्य का होना, प्रत्येक प्रजाति का रसायन द्रव्य कितने अनुपात में तैयार होना है, इस पूरक विधि क्रम में स्पष्ट हुआ। पूरक विधि की मूल वस्तु भौतिक वस्तु ही हैं। भौतिक वस्तुओं का मूल रूप परमाणु ही है।

अस्तित्व में संपूर्ण रचनाएँ चाहे कोई धरती संपूर्ण रचनाओं की रचना से समृद्ध हो या असमृद्ध हों, यही देखने को मिलता है कि भौतिक-रासायनिक रचना क्रम में ही धरती अपने-अपने वातावरण सहित व्यक्त होते दिखाई पड़ती हैं। इन सबमें पूरकता विधि से सभी प्रजाति के परमाणु तैयार हो जाते हैं। भौतिक रचना की मूल समृद्धि विभिन्न प्रजाति के परमाणु हैं। इनके तैयार हो जाने से परमाणुओं की प्रजातियाँ परमाणु में निहित संख्यात्मक अंशों के आधार पर स्पष्ट होती है, और वर्तमान में प्रमाणित है। जैसे- इस धरती में जितने भी प्रकार के परमाणु परंपरा के रूप में स्थापित हो चुके है, वे सब परस्परता में नैसिर्गक है। ऐसा होने के फलस्वरुप विभिन्न प्रजाति के परमाणु अणु की स्थिति में, अणु रचित पिण्डों की स्थिति में भी परस्पर प्रभावित करने व रहने की प्रक्रिया अनुस्यूत रूप में निष्पन्न होते ही रहता है।

विभिन्न परमाणु और अणुओं का परस्परता में प्रतिबिम्बित रहना तथा प्रभावों से प्रभावित होना प्रमाणित है। ये सभी प्रकार के प्रभाव उष्मा और गति के रूप में प्रमाणित हो जाते है, क्योंकि यह धरती स्वयं उष्मा और गति के रूप में ही स्पष्ट है। इस धरती ने अपने में जो वातावरण बनाया है अर्थात् इस धरती की सहज भौतिक-रासायनिक वस्तुएँ, विरल रूप में भी इसी धरती के सभी ओर फैली दिखाई पड़ती है। इस फैले हुए व्यवस्था क्रम से यह तथ्य उजागर होता है कि ब्रह्माण्डीय अथवा अनन्त सौरव्यूह की उष्मा, प्रसारण किरण-विकिरण सहज संयोग में, यह धरती भी प्रमाणित है। इस धरती के वातावरण ने अपने में सक्षमता

को स्थापित किया है। इस धरती के वातावरण से प्रवेशित होकर, इस धरती तक अर्थात् ठोस भाग तक पहुँचने तक उष्मा किरण-विकिरण को यह धरती उपयोग विधि स्वरुप दे देती है। जैसे- यह धरती उष्मा को क्रम से किरणों और रश्मि क्रम में, पूरकता विधि से, अपने में पच जाने की स्थिति को बनाये रखती है, ताकि इस धरती का स्वास्थ्य सदा बना रह सके। इस प्रकार धरती का "संरक्षण वलय" ही इस धरती का वातावरण है। यही इस धरती का प्रभाव क्षेत्र भी है। प्रत्येक एक अपने वातावरण सहित संपूर्ण है। संपूर्णता का तात्पर्य, पूर्णता के अर्थ में भागीदारी है। अस्तित्व में परमाणु में गठनपूर्णता, क्रियापूर्णता और आचरणपूर्णता ही संपूर्णता का प्रयोजन है। यही मूल सिद्धांत पूरकता को निरंतर प्रमाणित करता है। ऐसा पूरकता क्रम प्रवर्तन सहअस्तित्व सहज प्रभाव विधि से प्रकाशित है।

सहअस्तित्व संपूर्ण वस्तुओं, अनंत वस्तुओं की परस्परता में संपन्न होने वाले क्रियाकलापों का वैभव है इसका मूल रूप सत्ता में संपृक्त भौतिक-रासायनिक और चैतन्य रूपी जीवन प्रकृति की संयुक्त अभिव्यक्ति हैं। इन अभिव्यक्तियों का संयुक्त रूप, व्यापक सत्ता में अनंत प्रकृति का वर्तमान होना रहना है, जो स्पष्ट होता है। इसी आधार पर अर्थात् वर्तमान के आधार पर सहअस्तित्व प्रमाणित है। सहअस्तित्व वश ही अथवा सहअस्तित्व ही "पूरकता", "उदात्तीकरण", "त्व सहित व्यवस्था", के रूप में वर्तमान है। इसको जानना, मानना, पहचानना, निर्वाह करना मानव में, से, के लिए समाधान है।

पूरकता का स्वरुप कई प्रकार से देखा जा सकता है। परमाणुओं में विविध संख्यात्मक स्थिति है ही, ऐसी विविधता के मूल में दो अंशों के परमाणुओं का अनुपात और सैकड़ों अंशों से संपन्न परमाणुओं का अनुपात स्वयं इस धरती पर प्रमाणित हैं। सहअस्तित्व सहज फलन ही अनुपातीयता का प्रमाण हैं। इस प्रकार परमाणु प्रजाति उन-उन का अनुपात सहज रूप में उसकी परमावधि का प्रमाण ही है- उदात्तीकरण प्रक्रिया। जब किसी धरती में सभी प्रकार के परमाणु तैयार हो जाते है अथवा किसी एक धरती में कितने प्रकार के परमाणुओं की आवश्यकता रहती है, इसका निर्धारण भूखे परमाणु व अजीर्ण की कतार में स्प्ष्ट हो जाता है। जब तक भूखे रहते है, तब तक अंशों की संख्या में घट-बढ़ होती रहती है और अजीर्ण की परमावधि तक परमाणु अपनी भूख मिटाने के क्रम में कार्य कर देता है। अजीर्ण के आरंभ और परमावधि के बीच अंशों का क्षरण होना पाया जाता है। क्षरण होते रहता है। इसी प्रक्रिया में और नई संख्यात्मक (नई का तात्पर्य जो बने रहते है, उससे भिन्न संख्यात्मक) परमाणु के गठन होने की एक संभावना बनी रहती है, और भूखे परमाणु में क्षरणित परमाणु अंशों के समा जाने की एक संभावना बनी रहती है। इसी क्रम में उदात्तीकरण बिंदु पर्यन्त आवश्यकीय परमाणुओं की प्रजातियाँ स्थापित हो जाती हैं। किसी भी धरती में भौतिक वस्तुओं के समृद्ध होने के उपरान्त ही भौतिक वस्तुएँ रासायनिक क्रियाकलाप में तत्पर

होते हैं। तब तक ठोस वस्तु का भी अपना स्वरुप संपन्न हो जाता है। फलस्वरुप रासायनिक द्रव्यों का वैभव ठोस, तरल, विरल प्रक्रिया से वैभवित हो जाता है। रासायनिक वस्तु का ठोस रचना क्रम में कोषाओं की रचना और प्राणसूत्र का स्वरुप रचना ही रासायनिक वैभव के मूल में एक ऐतिहासिक कार्य हैं। उसी बिंदु से रासायनिक उर्मि व वैभव का इतिहास आरंभ होता है। आरंभ होने का मतलब उन-उन धरती में आरंभ होने से अथवा स्थापित होने से है। अस्तित्व में ये सभी क्रियाएँ शाश्वत रूप में वर्तमान रहता ही है।

रासायनिक-भौतिक संयुक्त वैभव क्रम में संपूर्ण रचनाएँ साकार हो जाता है और साकार है। इन्हीं रचनाओं में जीव और मानव शरीर रूप में भी स्थापित रहता है, स्थापित होता है। यह विश्लेषण अस्तित्व सहज अभिव्यक्ति हैं। वर्तमान में अस्तित्व ही दृष्ट रूप मानव में, से, के लिए दर्शन की संपूर्ण वस्तु हैं। दृष्टा सहज प्रकृति अपने में चैतन्य इकाई के स्वरुप में वर्तमान है। चैतन्य रुपी जागृत जीवन ही दृष्टापद में बोध और अनुभव पूर्वक, अस्तित्व दर्शन और जीवन ज्ञान को व्यक्त, संप्रेषित और प्रकाशित कर पाता है।

जीवन जागृति के प्रमाणों को प्रस्तुत करने के क्रम में जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन की एक आवश्यकता निर्मित हो जाता है। यह आवश्यकता और अनिवार्यता सहअस्तित्व सूत्र में समाहित रहता है, सहअस्तित्व हृदयंगम होता है। हृदयंगम होने का तात्पर्य बोध अवधारणा के रूप में जीवन आश्वस्त होने से हैं। उसकी अभिव्यक्ति अर्थात् उन अवधारणाओं की अभिव्यक्ति सहज प्रक्रिया में विश्वास होना ही अध्ययन है।

ऐसा विश्वास जीवन में तभी हो पाता है, जब मानव व्यवस्था में जीता हो और समग्र व्यवस्था में भागीदारी की प्रक्रिया प्रकट रहता है । अन्यथा भ्रमित रहना पाया जाता है। अव्यवस्था के रूप में उसका व्यक्त होना उस भ्रम का परिणाम हैं। अव्यवस्था मानव जाति की पीड़ा का ही स्वरुप है, क्योंकि अव्यवस्था की समझ बराबर पीड़ा है। मानव जब कभी भी पीड़ित होता है, उसका अध्ययन करने पर पता लगता है कि अव्यवस्था की समझवश ही वह पीड़ित हुआ रहता है । व्यवस्था की अपेक्षा में ही अव्यवस्था की समझ और पीड़ा प्रक्रिया बद्ध रहता है।

इसका व्यवहारिक रूप-एक आदमी को ज्वर होने की स्थिति अव्यवस्था है, हाथ पैर टूटने की स्थिति अव्यवस्था हैं। वाद विवाद होने की स्थिति अव्यवस्था है फलस्वरुप पीड़ा है। वाद विवाद मानव में तभी प्रभावशील होता है जब दोनों पक्ष गलत हों अथवा एक पक्ष अवश्य गलत हो। इस स्थिति में वाद विवाद हो पाता है। दोनों पक्ष यदि सही हों, उस स्थिति में वाद विवाद होने की घटना नहीं हो पाती। इसके स्थान पर परस्पर विश्वास, समाधान के प्रति एकजुट निष्ठा का होना पाया जाता है। कुछ आयामों में इसके प्रमाण स्थापित हो चुके हैं। इस क्रम में यह भी पता लगता है कि वाद विवाद के मूल में कम से कम एक पक्ष में गलती रहती ही है। गलती का मूल रूप भ्रम ही है। भ्रम का कार्यरुप अधिमूल्यन, अवमूल्यन और किसी

एक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु समझना ही है। इसके उदाहरण स्वरुप सांप और रस्सी को देखा जा सकता है । सांप को रस्सी समझने या रस्सी को सांप समझने से इससे होने वाली परेशानी स्वयं सिद्ध है। लोहा को सोना समझना और सोना को लोहा समझना यह अधिमूल्यन और अवमूल्यन की परेशानी हैं। इस प्रकार इन तीनों स्थितियों में मानव गलती करता ही है। स्वयं परेशान रहता है, फलस्वरुप वातावरण एवं नैसर्गिकता में परेशानी पैदा करता है। क्योंकि जिसके पास जो रहता है उसका बंटन करता है। इस प्रकार देखने पर यह भी तथ्य समझ में आता है कि मानव को दो ही स्थिति में देखा जा सकता है- वह है भ्रम और निर्भ्रम स्थिति। भ्रमित मानव ही अव्यवस्था के रूप में प्रकाशित हो पाता है।

अव्यवस्था तीन उन्मादों के रूप में व्याख्यायित होती हैं। मानव में सम्मोहनात्मक उन्माद लाभोन्माद, कामोन्माद तथा भोगोन्माद के रूप में सर्वेक्षित होता है। विरोधात्मक उन्माद द्रोह, विद्रोह और युद्ध के रूप में सर्वेक्षित है। इन्हीं छ: प्रकार के उन्मादों का स्वरुप दिखाई पड़ता है। इसके प्रभाव में कर्त्ता सहित सभी अव्यवस्था के रूप में दिखाई पड़ते है। अव्यवस्था मूलत: भ्रम है। ऐसे सर्वेक्षण को संपन्न करना तभी संभव है, जब मानव निर्भ्रम हो और व्यवस्था का स्वरुप तथा अधिकार कम से कम एक मानव के पास हो। मानव इतिहास के अनुसार इस घटना की तीव्र प्रतीक्षा रही। इस बात को इस प्रकार से समझाया जा सकता है कि उन्मादित होते हुए भी मानव ही, इन उन्मादों के परिणाम स्वरुप जो अव्यवस्थाएँ हुई, उसकी समझ के बराबर में पीड़ित भी होते आया। भले ही यह सबमें न हुआ हो अधिकांश लोगों में अव्यवस्था की पीड़ा है। इस सर्वेक्षण के साथ यह भी देखने को मिलता है कि इन उन्मादों के लिए हमारी कला, शिक्षा और शासन रुपी व्यवस्था तंत्र सहायक हो गया है। विकल्प के लिए कोई कल्पना भी नहीं रही है इसलिए विवशता पूर्वक इसे झेलने के अलावा दूसरा रास्ता दिखता नहीं। इसी स्थिति में कराहते हुए अधिकांश व्यक्ति इस धरती पर पाये जाते हैं।

पूर्ववर्ती विचारों के अनुसार उक्त उन्मादों के विपरीत कोई चीज है तो वह है भक्ति और विरक्तिवादी निबंध। ये पावन ग्रंथ माने गये और इनका प्रचार करें। इसकी अंतिम परिणति के रूप में मंदिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, गिरिजाघरों के प्रति अथवा पूजा स्थलों के प्रति आस्था केन्द्रीभूत हुई। आस्था के आधार पर बहुत सारे विशिष्ट लोगों को, महापुरुषों को, सामान्य जनों ने अपने आस्था सुमन अर्पित किए। आज भी इस बात को परीक्षण कर देखें, उन्मादों की तुलना में आस्थाएँ राहत सी प्रतीत होती है। इस बात को परीक्षण कर देखा गया है। इसके बावजूद भक्ति और विरक्ति का शिक्षा, व्यवस्था, संविधान और संस्कारों में सार्वभौम होना संभव नहीं हुआ।

इसके साथ यह भी देखने को मिला कि विज्ञान शिक्षा अवश्य ही सार्वभौम रूप में शिक्षा क्रम में उतर आया पर यह यंत्र प्रमाण में अटक गया। यह विज्ञान शिक्षा, शिक्षा क्रम में वैभवित होते हुए भी व्यवहार में सार्थक नहीं हो पाया, जैसे- संस्कार, व्यवस्था, संविधानों में और मानव सहज आचरण में सहायक या प्रमाणित नहीं हो पाया। इसमें यही तर्क कर सकते है कि शरीर शास्त्रियों के अनुसार मानव को इससे सहायता मिली है। शरीर और स्वास्थ्य संबंधी बातें मानव से ही आरंभित रहीं। इसमें यही अत्याधुनिक तकनीकी, यंत्र और तंत्र सहित किये गये प्रयासों से मानव की औसत आयु बढ़ना प्रमुख मुद्दा नहीं है। इसके उत्तर में, अव्यवस्था में प्रभावित होता हुआ मानव दिखता है। अव्यवस्था का प्रधान प्रभाव तीन उन्माद समोहनात्मक और तीन उन्माद विरोधात्मक पाया जाता है जिसका जिक्र ऊपर कर चुके है।

विकल्प के स्वरुप में अर्थात् अव्यवस्था के विकल्प में, व्यवस्था ही है। अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिन्तन व्यवस्था- सार्वभौम व्यवस्था, अस्तित्व सहज व्यवस्था, सहअस्तित्व सहज व्यवस्था, रासायनिक-भौतिक रचना सहज व्यवस्था, विकास सहज व्यवस्था, जीवन सहज व्यवस्था और जीवन जागृति सहज व्यवस्था को स्पष्ट करता है। इसको अध्ययनगम्य कराना ही सहअस्तित्ववाद का उद्देश्य है। "सहअस्तित्ववाद" में "समाधानात्मक भौतिकवाद" एक प्रबंध है।

कुल मिलाकर व्यवस्था सूत्रों का सम्मिलित नाम है- समाधान। इसी नाम का वैभव रूप मानव में भी प्रमाणित होता है। इसका स्वरुप पूर्णता के प्रति संपूर्ण अवधारणा है। अवधारणा स्वयं दर्शन और ज्ञान ही है। दर्शन, प्रमाणीकरण में ही ज्ञान सम्मत आचरण हैं। आचरण का वैभव व्यवस्था है। व्यवस्था सहज वैभव ही परंपरा है। परंपरा सहज वैभव स्वयं पूर्णता और उसकी निरंतरता है।

भौतिक और रासायनिक क्रियाकलापों द्वारा सहअस्तित्व सहज रूप में ही व्यवस्था और समाधान को प्रकाशित करना स्पष्ट हुआ हैं। संपूर्ण वस्तुएँ ही अपना अविभाज्यतावश सहअस्तित्व रूप में स्पष्ट है जैसे अनन्त परमाणु, अनंत अणु, अनंत रचना और अनंत जीवन व्यापक सत्ता में संपृक्त हैं। अत: क्रियाशील है, "त्व सहित व्यवस्था" के रूप में सहअस्तित्व सहज वैभवित है। इस क्रम में मानव के अतिरिक्त संपूर्ण प्रकृति ही सहअस्तित्व में "त्व सहित व्यवस्था" के रूप में व्याख्यायित है। मानव संस्कारानुषंगी व्यवस्था है। इसके फलस्वरुप प्रत्येक मानव को समझदारी के साथ जीने का हक बनता है। परंतु साथ-साथ व्यवस्था को समझने की जिमेदारी भी है। समझदारी का स्रोत परंपरा ही है। इस क्रम में लाभोन्मादी, भोगोन्मादी, कामोन्मादी अध्ययन प्रबंधों और उपक्रमों के स्थान पर विकल्प के रूप में "कामोन्मादी मनोविज्ञान" का विकल्प "मानव संचेतनावादी मनोविज्ञान" भोगोन्मादी समाज चेतना अथवा "भोगोन्मादी समाज शास्त्र" के स्थान पर "व्यवहारवादी समाजशास्त्र" विकल्प है। इसी प्रकार "लाभोन्मादी अर्थशास्त्र"

के स्थान पर "आवर्तनशील अर्थ व्यवस्था" का विकल्प के रूप में प्रतिष्ठित होना स्वाभाविक रहा है, क्योंकि उन्मादों से होने वाली पीड़ाओं से अथवा उन्मादों से होने वाली अव्यवस्थाओं की पीड़ा से अधिकांश मानव पीड़ित हो चुके हैं। भ्रम से बेहोशी की ओर जो घनीभूत होंगे, वे ही इस पीड़ा को नहीं समझ पाएँगे, ऐसे लोग भी कम ही होंगे।

अस्तु, इन प्रबंधों को शिक्षा में अपना लेने से शिक्षा का मानवीकरण संभव हो सकेगा। ऐसे आवर्तनशील अर्थचिंतन, व्यवहारवादी समाजशास्त्र और मानव संचेतनावादी मनोविज्ञान सहज ऐश्वर्य से संपन्न होने के लिए समाधानात्मक भौतिकवाद, व्यवहारात्मक जनवाद और अनुभवात्मक अध्यात्मवाद की आवश्यकता, अनिवार्यता है ही, जो पहले स्पष्ट की जा चुकी हैं। ये सब उपलब्ध हो गए हैं। इन छ: प्रबंधों को पाने के लिए अस्तित्व दर्शन, जीवन ज्ञान और मानवीयता पूर्ण आचरण के प्रतिपादन सहज रूप में, मध्यस्थ दर्शन प्रतिपादित हुआ है। जो स्वयं "मानव व्यवहार दर्शन", "मानव कर्म दर्शन", "मानव अभ्यास दर्शन" और "मानव अनुभव दर्शन" की अभिव्यक्ति हैं। इस दर्शन के आधार पर वाद और शास्त्र निर्गमित हुआ। इसे मानव परंपरा में अर्पित करने का संकल्प स्वयं प्रेरित है। इस अनुसंधान के मूल में, अव्यवस्था की समझ में जो पीड़ाएँ थीं, उन्हें दूर करना ही प्रधान कारण रहा है।

व्यवस्था सहअस्तित्व सहज अभिव्यक्ति हैं। यह अस्तित्व सहज रूप में हैं। अस्तित्व सदा ही सहअस्तित्व के रूप में वर्तमान है। सहअस्तित्व ही व्यवस्था के रूप में व्याख्यायित और व्यक्त है। व्यवस्था और उसकी अक्षुण्णता के प्रति मानव भ्रमित रहा, अत: मानव का पीड़ित रहना अवश्यंभावी रहा। इसीलिए अव्यवस्था की समझ मानव को आदि काल से ही पीड़ा के रूप में रही है। मानव व्यवस्था की आशा आकांक्षा के आधार पर ही परिवर्तनों को स्वीकारते आया हैं। मानव का विभिन्न इतिहास इस बात को उजागर करता है। अभी इस समय में अथवा इस संघर्ष युग में मानव ने अपने आप में सुविधा भोग के लिए द्रोह, विद्रोह, शोषण और युद्ध को निश्चित औजार मान लिया है।

आज की स्थिति में सुविधा की परिभाषा यही दिखाई पड़ रही है। मानव जाति जिसको सुविधा मान रही है उसका मूल ध्रुव संग्रह है। संग्रह पर ही सुविधा और भोग टिका हुआ है। यह पूर्णतया शहरी जिंदगी में इसी प्रकार दिखाई पड़ता है। शहर में अच्छी सड़कें, अच्छा घर, अच्छी गाड़ी, अच्छी दवाई, अच्छे खिलौने और घर के अंदर जितने भी आधुनिक, अत्याधुनिक गृहशोभा और उपयोगी मानी गई चीजें, जैसे-फ्रिज, कूलर, वातानुकूलन, मिक्सी, ग्राइन्डर और छत को सजाने के लिए सभी इंतजामात, चमकता हुआ बाथरुम, बेडरुम, ड्रांइग रुम और किचन, इन्हीं प्राप्त सुविधाओं को प्रमाणित करने की स्थली माना गया है। साथ ही घर में मनोरंजन के लिए टीवी, वीसीआर, रेडियो, फोटोग्राफिक कैमरे, टेप रिकार्डर माने गये हैं।

सुविधाजनक खुशहाली की अभिव्यक्ति कैमरा, वीडियो कैमरा, बड़े-बड़े एलबम हैं। इनको उपलब्धि माना जाता है। इन सब सुविधाओं को आदर्श मानकर प्राप्त कर लिया गया है।

जो लोग सरकारी सेवा में अर्पित रहते है, उनके अनुसार हम सेवा कुछ भी करें, जैसे भी करें, अगर सेवा नियंत्रण कानून के प्रति कार्यों में वफादार रह सकें, तो किसी भी कार्य का परिणाम, उसकी जिम्मेदारी, किसी शासकीय अधिकारी एवं कर्मचारी पर न हो- यही मुख्य रूप से सुविधाजनक नौकरी की प्रवृत्ति कार्य करती दिखाई पड़ती है। व्यसनों के चंगुल में जो नहीं है, उन लोगों का आहार अल्पाहार जैसा ही है। जो पर- पुरुष, पर-नारी, नशाखोरी, जुआखोरी और विविध प्रकार के कृत्यों में लिप्त रहते है, उन लोगों के आहार कर्म को देखने पर पता लगता है कि ये कुछ ज्यादा खाते है। पहले वाले आहार में रहने वाले सादगी में रहना मानते हैं। उससे भी अधिक सादगी में रहने वालों को भी देखा गया है। कम से कम घर को चमकाएँ रखें, कम से कम खाएँ और सामान्य रूप में कपड़ा पहनें, टी.वी. रहते हुए उचित कार्यक्रम, जिन्हें वे पावनग्रंथ रचित मानते है, ऐसे कार्यक्रम को देखते हैं। इनमें से कोई सुविधावादी सरकारी सेवा में भागीदारी निर्वाह करते हुए दिखाई पड़ते हैं। ऐसे में सर्वाधिक समानता जैसी कोई चीज है, जैसा कुछ ऊपर चित्रण किया गया है, उनका वर्गीकरण करने पर यह स्पष्ट बात दिखती है-

1. सुविधावादी व्यक्ति जो वस्तुओं, व्यसनों में लिप्त है।
2. सुविधावादी व्यक्ति जो सुविधा में लिप्त है, व्यसनों में लिप्त नहीं है।
3. सुविधावादी व्यक्ति संग्रह में लिप्त है।
4. सुविधावादी व्यक्ति वस्तु और व्यसनों में अलिप्त रहने के रूप में दिखाई पड़ते हैं।

आज की स्थिति में व्यसन स्थलों को आकर्षक, सम्मोहकता विधि से, लोगों को व्यसनी बनाने के उद्देश्य से अर्थात् कामोन्माद, भोगोन्माद को जगाने के लिए, तीव्र बनाने के लिए सभी प्रकार के साधन और उपलब्धियाँ लोगों के सम्मुख करवा चुके हैं। आज की स्थिति में व्यसन व्यापार सर्वोपरि लाभोन्मादी व्यापार माना जाता है। कई देश इसको संवैधानिक मान चुके हैं। कुछ देशों का संविधान इसकी संवैधता को स्वीकारने की सोच रहे हैं। यह आज की स्थिति हैं। व्यसन भी आज के मानव के लिए एक आदर्श सा बन चुका है। इस प्रकार सुविधावादी शहरी जीवन में व्यसनों की स्थापना को देखा गया हैं। इस विधि से अर्थात् सुविधावादी विधि से कोई भी ऐसा स्थान नहीं मिला है जहाँ व्यवस्था में भागीदारी होने का स्थिति रूप दिखाई पड़े।

सुविधा के लिए संपूर्ण स्रोत यह धरती हैं। धरती से प्राप्त पदार्थों को सुविधा योग्य बनाना, उसकी तकनीकी प्रक्रिया के लिए प्रौद्योगिकी अभ्यास इस धरती पर स्थापित हो चुका है। बहुत अधिक तादाद में आज धरती की वस्तुओं को सुविधा योग्य वस्तुओं में परिवर्तित करना है, ऐसी सभी वस्तुएँ सभी मानवों को मिले, ऐसा

सोचने पर आज की स्थिति में जितनी सुविधाजनक वस्तुएँ है, ये सभी वस्तुएँ आज जितनी संख्या में इस धरती पर मानव है, सबको उतनी तादाद में बनी वस्तुएँ नहीं मिल सकती।

इसके दो प्रधान कारण है-

1. इस धरती पर उतनी वस्तुएँ नहीं है, जिससे हर व्यक्ति को या हर परिवार को उसकी कल्पना के अनुसार सुविधा मिल सकें। इन कल्पना के अनुकूल वस्तुओं को बनाने के लिए आज जितनी प्रौद्योगिकी है, उससे कम से कम अरबों गुना अधिक आवश्यकता बनती है। ऐसी अरबों गुना प्रौद्योगिकी के लिए धरती से स्रोत पूरा होना संभव नहीं। इसके लिए यह धरती छोटी पड़ेगी। इससे होने वाले प्रदूषण को भी धरती अपने में समाने की स्थिति में नहीं रहेगी। इसीलिए इस पर पुनर्विचार करना आवश्यक है।

2. सुविधा, संग्रह, भोगवाद व्यवस्था का सूत्र व्याख्या और प्रयोजन का आधार नहीं बन सकता। उक्त दो बिंदुओं में केवल सुविधा की राशि और व्यवस्था की झलक अथवा व्यवस्था की कसौटी मात्र से ही निष्कर्ष निकलता है। इसके अलावा मानव ने धरती के साथ जो अत्याचार किया है, उसके लिए अपराध कार्यों में पारंगत बनाने का धंधा बना रखा है, उसके निराकरण का, उसके समाधान के लिए भी कोई न कोई उपाय चाहिए।

उपाय के रूप में "समाधानात्मक भौतिकवाद" प्रस्तुत है। इस दशक के कार्य रूप के अनुसार सुविधावादी वस्तुएँ जो भोगने के लिए आवश्यक मान ली गई है, उसके लिए जितनी वस्तुओं को धरती से निकालकर उपयोग कर रहे है, उससे भी अधिक वस्तुओं को युद्ध सामग्रियों के रूप में परिणत कर रहे हैं। किसी देश में इस समय जन सुविधा के लिए वस्तुएँ की तादाद कम है, इससे अधिक युद्ध सामग्री के लिए उपयोग करते होंगे। इन स्थितियों पर नजर डालें तब यह पता चलता है कि धरती में स्थित वन, खनिज, साधन अथवा द्रव्य कितने दिन तक पूरा पाते हैं। इन सबसे यह निष्कर्ष हम निकाल सकते है कि दो-एक पीढ़ी तक ही धरती में ये सब द्रव्य पूरे पायेंगे। इससे हमें ज्ञात होता है कि भविष्य की पीढ़ियों के साथ हम कितना अपराध कर रहे है? खिलवाड़ कर रहे है या मदद कर रहे है? इस बात का भी आंकलन आवश्यक है। "नैसर्गिकता के साथ हम क्या करें?" नैसर्गिकता का संतुलन इस धरती के लिए ऋतुमान के रूप में प्राप्त हैं। इसको हर मानव देख पा रहा है। अस्तु, मानव की स्वयं व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी आवश्यक है। इस धरती में ऋतु संतुलन को ध्यान में रखते हुए मानव के लिए जीने की कला, विचार शैली और अनुभव बल को विकसित करना अनिवार्य स्थिति बन चुका है। इसका आधार है "सहअस्तित्ववाद प्रमाणित करना।" सहअस्तित्ववादी विचारों के आधार पर ही अनुभव बल को मानव व्यवहार में प्रमाणित

कर सकता है । साथ ही व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी को प्रत्येक मानव व्यवहार में प्रमाणित कर सकता है। तथा समाधान, समृद्धि, अभय और सहअस्तित्व को वर्तमान में प्रमाणित कर सकता है। यही मानव कुल का आशय और अपेक्षा भी रहा है।

अध्याय - 7

संचेतना, चेतना और चैतन्य

"समाधानात्मक भौतिकवाद" के विचारों का आधार सहअस्तित्व ही है- यह स्पष्ट किया जा चुका हैं। सहअस्तित्व मूलत: अस्तित्व ही है, सहअस्तित्व ही अपने सूत्र में वर्तमान एवं नित्य प्रभावी है और शाश्वत् व्यवस्था के रूप में सहअस्तित्व है। अस्तित्व नित्य वर्तमान है। यही सहअस्तित्व का नित्य वैभव है- यह स्पष्ट होता है। सहअस्तित्व का स्वरुप है- सत्ता में संपृक्त जड़-चैतन्य प्रकृति, जो स्वयं पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था और ज्ञानावस्था के रूप में इसी धरती में स्थित मानव को मानव में, से, के लिए दिखाई पड़ती है। इसमें से किसी अवस्था को घटाकर या बढ़ाकर सहअस्तित्व सहज संपूर्णता, पूर्णता और उसकी निरंतरता की कल्पना भी संभव नहीं है। दर्शन और ज्ञान ही दृष्टापद का प्रमाण है तथा त्व सहित व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी, दृष्टापद सहित वैभव यह संभावना मानव में समीचीन है। इससे अधिक ज्ञान, दर्शन और आचरण की आवश्यकता निर्मित नहीं हो पाती, इस मुद्दे पर बुद्धिवाद के अनुसार इसे कैसे समझा जाय कि और अवस्थाएँ निर्मित होने की आशा करना क्यों बुरा है, इस प्रकार से कुछ अस्पष्ट प्रश्न किये जा सकते हैं।

अस्पष्ट प्रश्न इसीलिए हो जाते है कि मानव की आशा, आकांक्षा और अभिलाषाओं की अंतिम मंजिल ही है सर्वतोमुखी समाधान और प्रामाणिकता। यही जीवन जागृति का प्रमाण हैं। जीवन की अंतिम अभिलाषा जागृति है। मानव की अंतिम अभिलाषा सर्वतोमुखी समाधान और प्रामाणिकता है। समाधान से जागृति, जागृति से समाधान प्रमाणित होना ही मानव परंपरा की सफलता है। यही सफलता मानव व्यवस्था है और समग्र व्यवस्था में भागीदारी का प्रकाशन सूत्र है। इस सत्यता को अथवा साक्ष्य को स्पष्ट कर देता है प्रामाणिकता, स्वानुशासन सहज अभिव्यक्ति शीर्ष कोटि की जागृति है। यह भ्रम मुक्ति का प्रमाण है। यह निर्भ्रमता का सहज प्रमाण है। इससे अधिक मानव में कल्पनाशीलता की, विचारशीलता की, इच्छाशीलता की गति और अपेक्षा बनती ही नहीं हैं। इसलिए, इसे अंतिम सार्थक परंपरा में निरंतर वैभव होने योग्य वस्तु के रूप में स्वीकारना एक आवश्यकता और अनिवार्यता है, क्योंकि मानव शुभ को स्वीकारता ही है, इसीलिए इसे स्वीकार करने के लिए बाध्य भी हैं।

जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान एवं मानीवयता पूर्ण आचरण ज्ञान ही जागृति और उसके वैभव का स्वरुप है। मानव का सहज शरण मानवत्व ही है। प्रत्येक मानव इस बात को, अपने में ही परीक्षण कर सकता

है कि मानवत्व किस प्रकार से त्राण और प्राण हैं। इस परीक्षण से यह पता लगा है कि मानवत्व (मानव में, से, के लिए व्यवस्था सूत्र) ही जीवन त्राण का स्वरुप हैं। दूसरी भाषा में जागृति सहज जीवन बल का स्वरुप हैं। समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व इस प्रेरणा का स्वरुप हैं। इस ढंग से मानवत्व की प्रेरकता और कारकता अथवा त्राण स्पष्ट होता है। त्राण से ही प्रेरणायें बलवती और फलवती होती हैं। प्रेरणाओं को फलवती होना ही त्राण की तृप्ति है। इस प्रकार त्राण और प्राण, पूरकता विधि से कार्य करते हुए, यह प्रमाण स्वयं में, स्वयं से, स्वयं के लिए प्रमाणित होता है। यही जीवन सहज दसों क्रियाओं में सामरस्यता, समाधान और व्यवस्था का प्रमाण हैं। इस प्रकार सहअस्तित्व में जीवन के समाधान सहज रूप में प्रमाणित होने की संभावना स्पष्ट होती है और इसे प्रमाणित कर देखा गया है।

मानव में समाधान परंपरा प्रामाणिकता पूर्ण परंपरा ही वैभव है। ऐसी सहज परंपरा क्रम में प्रत्येक मानव ऐसी परंपरा में अर्पित होकर, जो एक व्यक्ति ने परम ज्ञान, परम दर्शन एवं परम आचरण किया है, उसे सभी व्यक्ति पा सकते है, आचरण कर सकते हैं। इसी के आधार पर मानव परंपरा में समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व प्रमाणित हैं। सहअस्तित्व को जो एक व्यक्ति प्रमाणित करता है, उसे प्रत्येक व्यक्ति प्रमाणित कर सकता है। जो एक व्यक्ति "परम-त्रय" के आधार पर व्यवहार में सामाजिक, व्यवसाय में स्वावलबन को प्रमाणित करता है, उसे प्रत्येक व्यक्ति प्रमाणित कर सकता है। जो एक व्यक्ति में स्वयं के प्रति विश्वास, श्रेष्ठता के प्रति सम्मान, प्रतिभा और व्यक्तित्व में संतुलन, "परम-त्रय" के आधार पर प्रमाणित करता है, उसे प्रत्येक व्यक्ति प्रमाणित कर सकता है। यही मानव परंपरा का संस्कारानुषंगी गरिमा, महिमा और वैभव हैं।

अभी इस क्रम में अर्थात् उपरोक्त कहे गये क्रम में, अस्तित्व में कुछ और अवस्था जुड़कर अथवा पाँचवीं अवस्था जुड़कर सर्व कल्याण मार्ग प्रशस्त होने की कल्पनाओं को क्यों नहीं किया? इसके उत्तर में इस बात को स्पष्ट किया कि:-

1. प्रत्येक मानव जागृत होना चाहता है।
2. प्रत्येक मानव जागृत होने के लिए "परम-त्रय" विधि को अपना सकता है।
3. प्रत्येक व्यक्ति जागृति और प्रामाणिकता पूर्वक ही व्यवस्था है और व्यवस्था में भागीदारी कर सकता है।
4. प्रत्येक मानव में "परम-त्रय" विधि से जागृति समीचीन है।

इसलिए और कोई आगे अवस्था पैदा होगी, उस समय में अर्थात् कल्पनातीत लंबे समय के बाद सर्वशुभ होने का दिन आवेगा, तब तक अपनी हविश पूरी कर लेवें। इस प्रकार की मनोगतवादी विधि से अपराधों

को अपनाने को, इसे सवैध मानने की हठवादिता को त्याग देना चाहिए। मानवीयता में संक्रमित होना चाहिए और जागृत परंपरा को स्थापित कर लेना चाहिए। जिसमें मानवीयता पूर्ण शिक्षा, मानवीयता पूर्ण संविधान, परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था जिसमें सबकी भागीदारी को पा लेना ही सर्व शुभ स्थिति का, गति का प्रमाण हैं। यह मानव के लिए समीचीन है, इसीलिए मानवीयता में परिवर्तित होने की सहज सहमति सर्वाधिक मानव में प्रस्तुत है ही। अभी तक अव्यवस्था पर आधारित शिक्षा तथा परंपरा से छुटकारा पाने का विकल्प नहीं रहा है, इसीलिए सर्वाधिक मानव छटपटाते आया है। इस तरह जिस विकल्प की तलाश था, वह आ चुका है और किसी अवस्था के इंतजार की आवश्यकता नहीं है।

किसी अवस्था को कम किया जाये, ऐसी कल्पना हो सकती है, पर इससे कम करना भी संभव नहीं हैं। मूलत: अस्तित्व ही चारों अवस्थाओं का स्वरुप है, चारों अवस्थाएँ इस धरती पर साकार हो चुकी है। इसमें संपूर्ण दृश्य , दृष्टा और दृष्टि की संभावना अर्थात् दृष्टि की क्रियाशीलता सभी संभावित हो गई हैं। इतना ही नहीं, यह अविभाज्य रूप में समीचीन हो गया है।

इसमें से किसी एक को अलग करने की कल्पना, यदि-

1. पदार्थावस्था को अलग करें तो यह धरती ही नहीं दिखेगी।
2. प्राणावस्था को अलग करने की कल्पना करें तो वन, वन्य- प्राणी और मानव नहीं दिखेंगे।
3. जीवों को अलग करने की कल्पना करें, उस स्थिति में अनेक प्रकार के रोग और उपद्रव होंगे, वनस्पतियों को नष्ट करने वाले, मानव को रोगी बनाने वाले तत्व निर्मित हो जावेंगे।
4. मानव को अलग करने की कल्पना देखें, तब अस्तित्व में दृष्टा पद का वैभव इस धरती पर दिखेगा नहीं।

सर्वमंगल, सर्वशुभ और समग्र अभिव्यक्ति का संयोग ही अथवा सज जाना ही समग्र घटना है । ऐसी घटना संपन्न इस धरती में "मानव ही अनुभवपूर्वक दृष्टा है।" दृष्टा पद को समृद्ध कर पाना ही जागृति है। जागृतिपूर्वक ही मानव परंपरा व्यवस्था है और यह व्यवस्था के रूप में वैभवित हो पाता है। इसीलिए मानव परंपरा को जागृत होने की आवश्यकता है, न कि किसी अवस्था को घटाने की। किसी अवस्था को घटाने पर सर्वशुभ की कल्पना नहीं हो पाती, इसलिए मानव का सहज वैभव, जागृति में ही है। मानव परंपरा के जागृत होने के लिए आवश्यकीय प्रेरणा, समीचीन हो चुकी हैं। उसमें से एक भाग यह "समाधानात्मक भौतिकवाद" है।

जागृति पूर्वक ही मानव, चेतना (ईश्वर), संचेतना, चैतन्य वस्तुओं को पहचान पाता है तथा जानता है, मानता है और उसके तत्व बिंदु को प्रमाणित करता है। मूलत: चेतना में संचेतना, चैतन्य, भौतिक-रासायनिक

वस्तुएँ अविभाज्य वर्तमान हैं। अविभाज्यता का मूल तत्व चेतना (सत्ता) में संपूर्ण प्रकृति का निरंतर होना ही हैं। सत्तामयता ही चेतना के नाम से ख्यात है। चेतना को परमात्मा, ईश्वर, बह्म, ज्ञान, व्यापक, सत्य आदि नामों से भी इंगित करना चाहते रहे हैं। ब्रह्म को अव्यक्त बताने के लिए किया गया अथवा चेतना को अव्यक्त समझाने के लिए किया गया सारा प्रयास और वांङ्मय, चेतना और ब्रह्मवादी परंपराओं में भ्रम को निर्मित किया। जबकि हर परस्परता के मध्य सत्ता ही देखने को मिला। यह सत्ता अस्तित्व सहज रूप में वैसे ही रहा आया है, जैसा यह वर्तमान में है। वर्तमान में सत्ता को देखने पर पता चलता है कि यह सर्वत्र, सर्वदा, विद्यमान है, पारदर्शी और पारगामी है। इसी वस्तु को ब्रह्म, चेतना आदि नाम दे सकते हैं। वर्तमान में हम इन्हीं नामों से सत्तामयता को स्मरण पूर्वक इंगित कराएँगे।

सत्तामयता अथवा सत्ता में ही चैतन्य इकाई (जीवन) और जड़ प्रकृति समाई हुई है अर्थात् संपृक्त हैं। इस मुद्दे को पहले भी स्पष्ट कर चुके हैं। सत्ता में जड़-चैतन्य प्रकृति भीगा, डूबा व घिरा हुआ दिखाई पड़ता है। भीगा हुआ से सत्ता का पारगामी होना प्रमाणित है। यही प्रमाण, वस्तु में ऊर्जा संपन्नता और बल संपन्नता के रूप में प्रमाणित है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु का बल संपन्न रहना, मानव को समझ में आता है। सत्ता अथवा चेतना का तात्पर्य साम्य ऊर्जा है, प्रत्येक वस्तु घिरा हुआ, डूबा हुआ, भीगा हुआ है। यह स्थिति-गति प्रत्येक व्यक्ति को दिखाई पड़ता है। इस प्रकार चेतना और ब्रह्म नाम से भी इस वस्तु (वास्तविकता) को इंगित कराया है। इस प्रकार चेतना और ब्रह्म, जिसको हम अव्यक्त मानते रहे है, यह अव्यक्त नहीं है, नित्य व्यक्त है और नित्य वर्तमान हैं। ऐसी चेतना अथवा ब्रह्म व्यापक है। पहले भी व्यापक नाम दिया गया था। व्यापकता के अर्थ में जैसा भी समझे हों, जो भी समझे हों, अभी वर्तमान में इस प्रकार समझ सकते है कि सत्तामयता कितना फैला हुआ है इसका कोई मापदंड मानव सहज कल्पनाशीलता, कर्म स्वतंत्रता के योग फल में तैयार नहीं हो पाता है। अभी तक नहीं हो पाया है। इसलिए इसको व्यापक नाम दे दिया गया अथवा इसका नामकरण किए व्यापक। सत्ता में ही अनन्त इकाईयाँ समाई हुई है। जितनी भी संख्या में मानव देखें, सभी सत्ता में डूबे एवं घिरे हुए दिखाई पड़ते है। ऐसी दिखने वाली इकाईयों को कितनी भी गिनें, पर और भी गिनने के लिए शेष रहता ही है। इसीलिए इकाईयों को “अनंत” नाम दिया गया है।

यह भी इससे स्पष्ट हुआ है कि मानव ही नापने, तौलने और गिनने का कार्य करता है। यह मानव को दृष्टा पद में होने का सामान्य लक्षण है। आवश्यकता और आवश्यकता की कल्पना से अधिक नापना, तौलना संभव नहीं है। इससे यह भी समझ में आता है कि मानव सहज आवश्यकताएँ सीमित हैं। संभावना अधिक है। इस तथ्य को सामने रखकर देखें। “आवश्यकताएँ अनंत है, साधन सीमित है”- ऐसा जो वर्तमान

अर्थशास्त्र में पढ़ाया जा रहा है- यह कहाँ तक सत्य है, कहाँ तक ये सच्चाई है, वह भी समझ में आवेगा। अस्तु, अस्तित्व नित्य वर्तमान है। सत्ता में संपृक्त प्रकृति में से चैतन्य प्रकृति ही जीवन है। जीवन में ही संचेतना प्रमाणित होती है। संचेतना का प्रमाण मानव में जानने, मानने, पहचानने, निर्वाह करने के रूप में है। यह प्रकारान्तर से हर व्यक्ति में प्रमाणित है। जीवन चैतन्य पद का वैभव है। संचेतना, यह जागृत जीवन सहज अभिव्यक्ति है। इसकी सार्थकता, पूर्णता के अर्थ में- जानने, मानने, पहचानने, निर्वाह करने के रूप में प्रमाणित होती है। अस्तु, परार्थ व परमार्थिक विधि से क्रियापूर्णता (मानवीयता तथा देव मानवीयता) एवं आचरण पूर्णता पूर्वक जागृति पूर्णता को प्रमाणित करना, जागृत मानव परंपरा में, से, के लिए सहज संभव और आवश्यक है।

अध्याय - 8

समाज, धर्म (व्यवस्था) और राज्य

विगत का विश्लेषण व वर्तमान की समीक्षा :-

धर्म :- जब से इस धरती पर आदर्शवादी विचार प्रभावी रहा है, तब से इतिहास के अनुसार राज्य एक कार्यक्रम रहा है। धर्म का आधार आदर्शवाद रहा, पावन ग्रंथ (ईश्वर वाणियाँ) आधार रहे। ये वाणियाँ सर्वाधिक ईश्वर कृपा, कल्याण, मोक्ष संबंधी आश्वासन के आधार पर आस्था का स्रोत रहीं। इस मुद्दे पर भी आस्था निर्मित हुई कि पावन ग्रंथों के वचनों में पापियों का नाश करने के लिए ईश्वर ही स्वयं दृढ़ संकल्पित हैं। पुण्यशीलों का उद्धार करना उनका एक महत्वपूर्ण कार्य बताया गया। यह बात लोगों को पसंद आई, लोगों ने मान भी लीं। उल्लेखनीय बात यह रही कि विविध पावन ग्रंथों में पुण्य के लिए जो उपदेश दिए गए, वह विविध रूप हो गये। पुण्य के लिए जो कुछ भी विविध रुपों में कहे गये क्रियाकलाप है, जिसकी पुष्टि प्राचीन पावन ग्रंथों में होना पाया जाता है, उसी को आज तक हम धर्म मानते आए हैं। मानव पुण्यशील बनने के विविध तरीकों के आधार पर वाद-विवाद किया करते हैं। अंततोगत्वा कटुता, दुष्टता के कटघरे में आ जाते हैं। यही, इतिहास के अनुसार और इस वर्तमान के अनुसार, पाए जाने वाले वाद-विवाद का प्रधान आधार रहा। इससे भी बड़ी बात यह रही है कि, "अपने पराए की दीवारें" बनने का महत्वपूर्ण कच्चा माल, इन्हीं पुण्यार्जन की विविधता में रहा, जिसको आज तक हम लोग संस्कार मानते आए हैं।

सभी धर्म परंपराओं में निश्चित चिन्ह जैसे:-

1. चमड़े के रंग के आधार पर अथवा बाल के आधार पर।
2. अन्य वस्तुएँ, चाहे औषधि वस्तु हो या वनस्पति वस्तु हो, वह अपने ही मूल आकार में हो और कोई लकड़ी, धातु, पत्थर, कपड़े-इनका निश्चित आकार बनाकर (मूर्तियाँ वगैरह) हमने पहन लिए।
3. किसी एक धर्म परंपरा में रहने वाले, जिस आहार पद्धति को स्वीकारते है, दूसरा उसको निषेध मानते हैं।
4. इन्हीं के आधार पर, पावन स्थली कहलाने वाले स्वरुप, मिट्टी, पत्थर, ईंट, धातुओं से निर्मित हुई स्थली को बताते हैं।

विभिन्न धर्म कहलाने वाले, अपने-अपने मान्य, पावन स्थलियों में, अपने-अपने ढंग से प्रार्थनाएँ करते हैं। इन सभी प्रार्थनाओं का पावन स्वरुप यही है कि रहस्यमय ईश्वर की कृपा हो, सबका कल्याण हो, पापियों

एवं दुष्टों का नाश हो। प्रार्थना करने वाले स्वयं के उद्धार की चाहत प्रस्तुत करते हैं। इन बातों में यह भी विचित्रता देखने को मिलती है कि जो जिस धर्म की पावन स्थली है, उस स्थान में दूसरे धर्म वाले आदमी के पहुँचने पर, वह स्थल ही अपवित्र हो गया ऐसा माना जाता है। इनमें उल्लेखनीय बात यह है कि क्रमांक (1) में बताए गए आधार पर चमड़े, बाल के जो चिन्ह बनते है, वह केवल पुरुषों तक ही देखने को मिलता है। इसी के साथ कपड़े को विविध तरीके से, धर्म चिन्ह के आधार पर, बनी हुई बनावटों को भी, पुरुषों में देखने को मिलता है। नारियों में विशेषकर धातु-पत्थर, वनस्पतियों, वस्तुओं से बनी हुई चीजें जो पावन ग्रंथों द्वारा स्वीकार्य रहता है, उसको पहन लेते है (जैसे माला आदि)। ये धर्मग्रंथ बताते है कि इसी को पहनना है या उसको नहीं पहनना है। नारियाँ, धार्मिक ग्रंथों की अनुमति व रुढ़ियों के अनुरुप कपड़े पहनती दिखाई पड़ती हैं। पचास वर्ष पहले निश्चित धर्म समुदाय का पहनावा अलग दिखता था, अब पहनने वालों के मन की पसंदगी के आधार पर पहनावा दिखाई पड़ता है। पहनने-ओढ़ने में कट्टरता कुछ लोगों में है भी। क्रमशः यह कट्टरता अब लचीली होने की संभावना दिखाई पड़ती है।

अभी तक के इतिहास और मानव परंपराओं में हुए परिर्वतन सहित आज की स्थिति को संयुक्त रूप में देखने पर पता चलता है कि किसी रुढ़ि का पालन (रुढ़ि का तात्पर्य संज्ञानशीलता अर्थात् जानना, मानना, पहचानना, ये तीनों चीजें न हो, केवल मान लिया हो। यही रुढ़ियाँ तर्क संगत न होने के आधार पर ही अंतर्विरोध और बाह्य विरोध का कारण होती है) शब्द, साहित्य, कला और आहार-विहारों में की गई अभिव्यक्ति पूजा, पाठ, प्रार्थना के तरीके, किसी वस्तु या पद के प्रति प्रतिबद्धताएँ, तभी परिवर्तित होते हुए देखने को मिला जब :-

1. रुढ़ियों (सामुदायिक, धर्म व राज्य संविधान) के आधार पर आचरण जिसने किया है, उसे अंतर्विरोध हो जाए।
2. समुदायगत रुढ़ियाँ पीढ़ी से पीढ़ी बड़ी आस्था से संपन्न की जाती है और इन्हें शोक संवेदनाओं के क्षणों में भी व्यक्त किया जाता है। जिसमें स्वीकृतियाँ रहती है ऐसी रुढ़ियों के प्रति उसी समुदाय में अंतर्विरोध हो जाए।
3. किसी अधिकार के प्रति किसी की प्रतिबद्धता (जैसे शासन सत्ता में बैठे हुए शीर्ष व्यक्ति से प्रदत्त अधिकार और अधिकारी सहित, अधिकार प्रयोग, अधिकार वितरण) में यदि अंतर्विरोध हो जाए।
4. किसी वस्तु के प्रति एक से अधिक व्यक्तियों के बीच स्वत्व की प्रतिबद्धता हो।

ऐसी स्थितियों में अंतर्विरोध होने पर प्रतिबद्धताएँ, मान्यताएँ, रुढ़ियाँ विकेन्द्रित होकर परिवर्तन के लिए अनुकूल परिस्थिति बनती हैं। हम परिर्वतन के आधार पर बिन्दुओं को पहचानने के लिए तत्पर होते हैं। आवश्यकता को स्वीकार करते है तब यह पता लगता है कि -

1. सत्ता परिवर्तन, हस्तांतरण, विकेन्द्रीकरण- इन प्रकारों से सोचा गया।
2. धर्म परितर्वन इसमें दो प्रकार की अपेक्षा मानव मानस में रही।

वह (एक) धर्म में जो रुढ़ियाँ है उनसे बाज आकर दूसरी धर्म रुढियों को स्वीकारना।

(दो) जो तर्क की कसौटि में आते नहीं, उन तमाम रुढ़ियों का तर्क संगत होने के क्रम में अथवा उनकी निरर्थकता, मानव मानस में स्पष्ट हो जाये।

इस प्रकार की तमन्ना लेकर बहुत से यति, सती, संत, तपस्वी, महापुरुष, प्रचारक, धर्म प्रचारक, सत्य प्रचारक, प्रचार साहित्य के रूप में प्रयत्न करते रहे, अथक प्रयास करते रहे। यहाँ उल्लेखनीय बात यही है कि जहाँ-जहाँ इसके अंतर्विरोध हुए, रुढ़ियों में थोड़ी ढिलाई दिखी, तब इन प्रचारों की भलमनसाहत सफल हुआ मान लेते हैं। जब एक निश्चित धर्म समुदाय में अंतर्विरोध के फलस्वरुप रुढ़ियों में ढिलाई हुई थी, वही समुदाय जब बाह्य अर्थात् उससे भिन्न समुदायों के सम्मुख विरोधों से घिरते है तब उन समुदायों अथवा उस समुदाय में रुढ़ि की मंशा और दृढ़ हो जाती है।

राज्य में भी इस बात को ऐसा परखा जा सकता है कि जब जब देशवासियों में अंतर्विरोध होता है तब तब देश में भी अनेक भूखंड अथवा अनेक देश बनने की इच्छा व्यक्त होती है। वहीं जब बाह्य विरोध होता है अर्थात् बाह्य देशों से आक्रमण की स्थिति बनती है, तब देश की अखण्डता अथवा सीमा सुरक्षा के प्रति लोग प्रतिबद्ध हो जाते है। इस प्रकार की घटनाओं को इस धरती पर मानव कई बार दुहरा चुका है । अब सत्ता परिवर्तन, सत्ता विकेन्द्रीकरण और सत्ता हस्तांतरित होने वाली बात, हर धर्मगद्दी व राजगद्दी में बारंबार सत्ता हस्तान्तरण के साथ परिवर्तन और परिवर्तन के साथ विकेन्द्रीकरण, विकेन्द्रीकरण के साथ हस्तांतरण होता ही रहा है।

इतिहास के अनुसार इस घटना के स्वरुप को, विभिन्न रुपों में देखा गया है-

1. सत्ता में बैठे हुए आदमी को बल पूर्वक हटा दिया गया और दूसरा बैठ गया। इसमें विश्वासघात के विविध विन्यासों को देखा गया। जनमानस के न चाहते हुए- छल, कपट, विश्वासघात पूर्वक हटा दिया गया और दूसरा बैठ गया।

2. विश्वासघात के ही स्वरुप में दंभ, पाखंड पूर्वक जन-मन चाहे आश्वासनों के आधार पर गद्दी में बैठे हुए आदमी को हटा दिया है।
3. वंशानुगत अधिकार के अंतर्गत गद्दी पर बैठ गया। ऐसा सर्वाधिक घटनाओं में गद्दी पर बैठा हुआ आदमी मरने लगा है, मरने की तैयारी में है अथवा मर गया है। ऐसी स्थिति में वंशानुगत विधि से, गद्दी में बैठने की घटनाओं को देखा गया।
4. गद्दी पर बैठा हुआ आदमी स्व प्रसनन्ता से दूसरे व्यक्ति को बैठाया।

इतिहास के अनुसार ऐसे, विविध घटना क्रम स्मरण करने के लिए उपलब्ध हैं। इन्हीं चार विधियों से सत्ता को हस्तांतरित होते हुए देखा गया है और सत्ता हस्तांतरित हुई है । सत्ता प्राप्त व्यक्ति जो गद्दी में बैठा रहता है, उसका मूल रूप, मूल महिमा मूलत: विकरालता और सर्वाधिक सुविधा, यही रहते आया। शक्ति केन्द्रित शासन करने को सर्वाधिकार अथवा एकाधिकार से चली आई है।

शक्ति केन्द्रित शासन का तात्पर्य यही माना गया है कि संविधान लिखित या मौखिक, इन दोनों विधियों से पालन होना राज्य का तात्पर्य है, अर्थात् वैभव का तात्पर्य है। राज्य सत्ता का तात्पर्य यही है कि पालन न होने की स्थिति में उसे डंडा, बंदूक, तोप, प्रेक्षपण-विक्षेपण वध-विध्वंसात्मक कार्य करने का अधिकार हो। ऐसा मौलिक अधिकार गद्दी में बैठे हुए आदमी के पास होना या आदमी में होना मान लिया जाता है। इन्हीं से आबंटित पद अथवा नाम के रूप में होना परंपरा में देखा गया। उनके लिए प्रदत्त, सत्ता सहज अधिकार का तात्पर्य भी यही हैं। लोक जीवन, लोक कार्य, लोक व्यवहार अपनी जिम्मेदारी से होना है। अभी तक कोई शक्ति केन्द्रित शासन ऐसा देखने को नहीं मिला, जिसमें मानव का अध्ययन संपन्न शिक्षा और व्यवस्था में संरक्षण विधि को लोकगम्य कराने में कोई मार्गदर्शन किया हो। इसका कोई प्रमाण इतिहास में तथा वर्तमान में देखने और समझने को नहीं मिला।

शक्ति केन्द्रित शासन और विकेंद्रीकरण की बात बारबार सुनने में आई। एकाधिकारवादी राजगद्दी के समय भी इस प्रकार की बातें आईं एक से अधिक व्यक्तियों के साथ मिलकर निर्णय लेने पर सत्ता सहज अधिकारों का आबंटन मौखिक, लिखित रूप में हुआ। डराने, धमकाने, मारपीट करने के अधिकारों को आबंटित करने की प्रथा चली। ऐसे सभी काम आम आदमी के साथ ही करना था और आज तक इसे करते आए। वर्तमान में भी यही कर रहा है। कहीं बड़ी तादाद से ऐसे कर्मो को करना है, जैसे सीमा सुरक्षा और युद्ध की तैयारियाँ। यही आज तक देखा गया है। इसे सत्ता विकेन्द्रीकरण का रूप भी मान लिया गया है।

इसके बाद गणतांत्रिक तरीके से जनादेश जैसी अद्भुत शक्ति के साथ गद्दी में बैठने की प्रथा आरंभ हुई। पहले से ही सत्ता का स्वरुप छोटे-बड़े सभी देशों के साथ यह बना हुआ है। इन जन प्रतिनिधियों के आदेशों को पालन करने के लिए संविधान सहज अनुमति बनी रहती हैं। जहाँ-जहाँ गणतांत्रिक प्रणाली प्रभावशील हुई है, वहाँ-वहाँ लिखित संविधान का होना पाया गया है। गणतांत्रिक शासन विधान में जनमानस का ख्याल रखा जाता है। ऐसे प्रचारों का खास तौर पर ख्याल रखते हुए इसे प्रचारित किया जाता है।

मुद्रा :- गणतांत्रिकता के लिए सांस्कृतिक आधार, आर्थिक आधार, राजनैतिक आधार मुद्रा को माना गया है। राजनैतिक लक्ष्य सत्ता हस्तांतरित करना है। सांस्कृतिक आधार की पहचान पहनावा (कैसा कपड़ा पहनते है) श्रृंगार, नृत्य, शादी ब्याह के तरीके को माना गया। इसकी विविधताओं को वैध मान लिया गया है। जैसे, सर्वाधिक आय, कम आय अथवा सर्वाधिक संग्रह (पूंजी) पैसा, कम से कम पूंजी पैसा। पूंजी का स्वरुप मुद्रा है। मुद्रा का मूल रूप एक कागज है । कागज का मूल रूप बाँस लकड़ी ही हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ है कि बाँस लकड़ी के ऊपर मानव कुछ लिखता है, उसका नाम मुद्रा है। मुझे लिखने वाले का दिल दरिया जैसा दिखता है। किसी कागज के टुकड़े पर सौ, किसी पर एक, किसी पर लाख, करोड़ लिखा हुआ देखने को मिलता है। मानव के आवश्यकीय वस्तु के रूप में वह मुद्रा दिखती नहीं है। यह मान लिया जाता है मुद्रा से वस्तु मिलेगी।

इस मान्यता में यह स्पष्ट हुआ है कि वस्तु का प्रतीक मुद्रा है। स्मरणीय सूत्र यह है कि "प्रतीक प्राप्ति नहीं होती और प्राप्तियाँ प्रतीक नहीं होती।" इसका तात्पर्य यही हुआ कि हर प्रतीक कैसा भी, कितना भी बदल सकता है। जैसा पहले भी कह चुके है कि कागज के टुकड़े पर "एक" भी लिखा जा सकता है और उस पर एक अरब भी। इसका ध्रुवीकरण करने के लिए प्रत्येक देश ने विदेशों के साथ एक आवश्यकता को अनुभव किया। उसे किसी प्रकार की धातु वस्तु (जैसा सोना) मान ली गई है। इस विधि में जिनके पास ज्यादा वस्तु है, वह वस्तु (अर्थात् सोना) पत्र मुद्रा को ध्रुवीकृत करता है, अधिक वस्तु (सोना, चांदी) के आधार पर तैयार की गई पत्र मुद्रा की संख्या कम दिखती है वह अधिक मूल्यवान दिखता है। वहीं जिस देश में वस्तु (सोना, चांदी) कम हो गई है अथवा जहाँ सोना जैसी वस्तुएँ कम होती जाएगी, ऐसी मुद्रा कोष से प्रस्तावित पत्र मुद्रा की संख्या बढ़ते ही आया और बढ़ता ही रहेगा।

इस प्रकार जिस देश में मुद्रा कोष की आधार वस्तु (सोना) जैसे-जैसे घटती गई, उसी अनुपात में दूसरे देश का आधार मुद्रा कोष की आधार वस्तु बढ़ गई है। उतने अनुपात में घाटा कोष वाले देशों से वह वस्तुओं को खरीदता है। उसी अनुपात और अवधि से अधिक कोष वाले देश बेचते हैं। इस प्रकार मुद्रा कोष अर्थात् प्रतीक मुद्रा के आधार पर जिन वस्तुओं को कोष मान लिया गया है वह जिनके पास अधिक

हो चुका है (जैसे सोना) वह बढ़ते ही जाना है और जिनके पास कोष कम है वह घट चुका है उनका कोष कम होते ही जाना है। फलस्वरुप प्रतीक मुद्राओं पर संख्या क्रम बढ़ते ही जाना है। फलस्वरुप देश में वस्तुओं का मूल्य बढ़ते ही जाना और विदेश के लिए वस्तुओं का मूल्य घटते ही जाना है। इस प्रकार प्रतीक मुद्रा और आधार मुद्रा कोष विधि में बिंधा गया हुआ माया जाल है।

इससे स्पष्ट समीक्षा होती है कि अधिक कोष वाले देश को अधिक अमीर होते जाना है, क्योंकि जैसा मानना है कि धन से धन पैदा होता है, जबकि वैसा होता नहीं। इस क्रम में जो कुछ होता है वह शोषण है। अधिक कोष वाले देश के लिए, सभी कम कोष वाले देश, उनके कोष को बढ़ाने में सहमति पूर्वक लग गए हैं। यही प्रलोभन की महिमा है, दूसरी ओर वही कोष प्रकारान्तर से विश्व बैंक कहलाने वाले स्थल के ऋण के रूप में उन्हीं देशों को सर्वाधिक आबंटित होगा। मजबूत कोष वाले देशों की शर्तों को मानते है, न मानने की स्थिति में विश्व बैंक अथवा विश्व कोष से उन लोगों को ऋण नहीं मिल सकता, जब तक उनकी शर्तों को ये पूरा नहीं करते हैं। इस प्रकार, उसी के साथ भय का स्वरुप, अपने आप विश्व के सम्मुख प्रस्तुत हो चुका।

उल्लेखनीय बात यह है कि कुछ गणतांत्रिक देश आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक समानता के अधिकार की घोषणा करते है अथवा आश्वासन देते हैं। दूसरी और संवैधानिक रूप में सभी संस्कृतियों की रक्षा करनी हैं। फलस्वरुप सांस्कृतिक समानता खटाई में चली जाती है। आर्थिक विषमता को दूर करने की परिकल्पना संविधानों में है। जिन देशों में, जिनके पास अधिक पैसा है, उसके दुगने के लिए वह प्रत्यनशील है। जिस दिन वह पैसा दुगुना होता है, उसी क्षण से उसके दुगने के लिए प्रयास करता है। आज की स्थिति में मान लो एक व्यक्ति के पास एक करोड़ है, दूसरे के पास एक रुपया है। एक रुपये वाला अपने एक रुपये को दुगुना करने चलता हैं। उससें भी समय लगता है। उसी प्रकार एक करोड़ रुपये वाला अपने धन को दुगुना करने जाता है, उसमें भी समय लगता है। करोड़ रुपये वाला आदमी रुपया दूगुना करने में सफल होता है, कुछ असफल होता है। एक वाला भी ऐसे ही सफल अथवा असफल होता है। समय के बारे में भी ऐसा ही सोचा जा सकता है और देखा जा सकता है। एक रुपये वाले आदमी दो रुपया कर लेता है। मान लो कि इसमें उसे दो माह लगा। उसी भाँति एक करोड़ वाला दो करोड़ जल्दी बना लेगा। उनको भी एक महीने लगा। जल्दी वाले क्रम को रखते हुए इन दोनों के समीप बिन्दु क्या है। देखा जा सकता है- इस प्रश्न का उत्तर सामान्य मानव के लिए अगम्य हो गया है और गणित भी व्यर्थ चला गया है। इसी भाँति अमीर देश, गरीब देशों के साथ भी है। इसमें सार्थकता क्या है? यह पूछा जाये। गरीब देशों में सार्थकता केवल उस देश की गद्दी में बैठा हुआ कुछ लोगों के हाथों में, गरीबों के अनुसार अनगिनत गणित के

अनुसार अरबों रुपयों को देखा जा सकता है। अमीर देशों का क्या फायदा है, अमीर देशों का फायदा यह है कि सभी देशों की सारी वस्तुओं को सस्ते में लाकर अपने देशवासियों को आवश्यकतानुसार उपलब्ध करावेंगे। अपने देश की सारी वस्तुओं को, वन खनिजों को बचाए रखेंगे। सभी देशों के वन खनिज समाप्त होने के पश्चात् आवश्यकता के अनुसार अपने देश का उपयोग करेंगे। इस प्रकार की सूझ-बूझ स्पष्ट होती है।

इस प्रकार "गरीब देश अमीर देश हो जाये और गरीब आदमी अमीर हो जाये" यह बात केवल एक प्रलोभनात्मक भाषा शब्द है। देश और मानवों में लालच ही पैदा किया जा सकता है। लालच सदा ही फँसने अटकने और दरिद्र होने का रास्ता बनाता है। अस्तु, विश्व अर्थ चिंतन का जीता जागता प्रमाण दिन प्रतिदिन अटकना ही है, इसे सुलझना नहीं है। इसका कारण एक ही है- वह है पत्रमुद्रा अथवा प्रतीक मुद्रा। यही भय और प्रलोभन की महिमा है।

समाधान :- राज्य के साथ समाज और धर्म अविभाज्य वर्तमान है। धर्म के साथ समाज और राज्य अविभाज्य वर्तमान है। समाज के साथ राज्य और धर्म अविभाज्य वर्तमान है । मानव धर्म का मूल रूप में सर्वतोमुखी समाधान है, इसके लिए मानव परंपरा में परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था प्रस्तावित है। जिसका फलन समाधान, समृद्धि, अभय और सहअस्तित्व सहज प्रमाण है। राज्य, समाज और धर्म अलग अलग नहीं हो पाते। भाषा के रूप में कई तरीके से बात कर सकते है पर होता है वही जो अस्तित्व में है। अस्तित्व में मानव का होना, पहले स्पष्ट हो चुका है। मानव का स्वरुप स्वायत्त रूप में, परिवार के रूप में, ग्राम व विश्व परिवार के रूप में पहचान सकते हैं। मूलत: मानव की पहचान अर्थात् व्यक्ति की पहचान पहले कर लें अथवा विश्व मानव को पहले पहचान लें।

इनकी पहचान से यह पता चलता है कि सर्वप्रथम एक समझदार मानव को पहचानना अति अनिवार्य है। यह भी समझ में आता है कि प्रत्येक मानव आकार के रूप में विविध है। मानव को पहचानने का आधार क्या होगा? यह प्रश्न स्वाभाविक रूप में विचारशील व्यक्तियों में उपजता ही है। इसका उत्तर खोजने पर पता चलता है कि हर वस्तु की पहचान उस-उस के आचरण पर ही निर्भर हैं। आचरणों को योग, संयोग, वियोग के आधारों पर पहचाना जाता है। एक दूसरे का मिलन, योग हैं। पूर्णता के अर्थ में सार्थक योग, संयोग हैं। वियोग वह है कि योग और संयोग पहले से थी उससे छूट गए। इस प्रकार वियोगात्मक आचरण के आधार पर कोई समाज रचना नहीं होती है। अब संयोग और योग की बात आता है। अभी तक जो कुछ भी आदमी, परिवार और समुदाय के रूप में दिख रहा है, ये सब योग के रूप में ही दिख रहा है, संयोग के रूप में नहीं। योग से कम स्थिति में अर्थात् वियोग की स्थिति में मानव स्पष्ट नहीं हो पाता है।

कम से कम योग के आधार पर ही आचरणों को पहचानना संभव हो पाता हैं। इन्हीं आधारभूत तथ्यों के आधार पर परीक्षण संभव हो पाता है। मूलत: मानवीयतापूर्ण आचरण में सार्वभौम रूप स्पष्ट है।

मानवीय आचरण, उसकी सार्वभौमिकता के कार्य रूप को, सार्वभौम व्यवस्था के आधार पर ही देख पाना संभव हो पाता है, यही मुख्य मुद्दे की बात है। अभी तक यह मुद्दा अनुसंधान के गर्त में रहा है, अब इसके मानव सुलभ होने की संभावना बन चुकी है। ऐसी सार्वभौम व्यवस्था को अनुसंधान के उपरान्त ही सार्वभौम आचरण के परीक्षण के लिए, आपका ध्यान आकर्षित किया जा रहा है। सार्वभौम व्यवस्था को ऐसा समझा गया है कि मानव को परिवार मानव, ग्राम परिवार मानव, विश्व परिवार मानव के रूप में पहचाना जा सकता है। प्रधान बात यही है कि, परिवार में ही मानव की पहचान व प्रमाण होता है। परिवार कम से कम दो, या दो से अधिक व्यक्तियों के होते हैं। मूलत: विश्व परिवार ही अखण्ड समाज के रूप में ख्यात होता है । विश्व परिवार व्यवस्था ही परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था के रूप में प्रमाणित हो पाता है। अतएव मानव को परिवार में पहचानने के पहले मानव की परिभाषा आवश्यक हो जाती है, जिसके आधार पर ही अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था व्याख्यायित होती हैं।

मानव की परिभाषा, मानव के यथास्थिति अध्ययन से ही प्रमाणित होती है जैसे- "मनाकार को साकार करने वाला, मन: स्वस्थता (सुख) का आशावादी एवं प्रमाणित करने वाला मानव है।" हर मानव परिभाषा सहज व्याख्या के रूप में प्रमाणित होने के लिए स्वायत्त और मानवीयतापूर्ण आचरण संपन्न होना है। इस प्रकार से मनाकार को साकार करने को, प्रमाणों को सामान्य आकांक्षा अर्थात् आवास, आहार एवं अलंकार संबंधी वस्तुओं और उपकरणों, तथा महत्वाकांक्षा अर्थात् दूरदर्शन, दूरश्रवण, दूरगमन संबंधी वस्तुओं और उपकरणों को साकार करने के रूप में देखा गया है। मन: स्वस्थता अर्थात् समाधानापेक्षा एवं प्रमाणित करने वाला का आशावादी होना, सहज होते हुए भी, परंपरा में प्रमाण के रूप में स्पष्ट नहीं हो पाया है। यद्यपि हर व्यक्ति सुख, शांति, संतोष और आनंद की अपेक्षा रखता ही है। यही मन: स्वस्थता का आशावादी होने का गवाही है।

मन: स्वस्थता मानव सहज जागृति का तृप्ति बिंदु हैं। मानव जब तक न्याय, धर्म, सत्य सहज दृष्टियों को प्रयोग करता नहीं है तब तक जागृति का प्रमाण सत्यापित कर नहीं पाता। जागृति से वंचित होने का मूल कारण अभी तक भ्रमित परंपराएँ और उस पर बनी हुई आस्थाएँ है।

"न्याय, धर्म, सत्य दृष्टियों का प्रयोग हर व्यक्ति कर सकता है।" यही जागृत परंपरा है। भ्रमित समुदाय परंपरा हर व्यक्ति को किसी न किसी सीमा में फँसा देती है। परिणामत: संकीर्णता में ग्रसित होना पाया जाता है। न्याय, धर्म, सत्य दृष्टियों का सहज ही विशाल, विशालतम होना पाया जाता है। जैसे, हर व्यक्ति,

हर व्यक्ति के साथ अपने संबंधों को पहचान सकता है, उनमें निहित मूल्यों का निर्वाह कर सकता है, मूल्यांकन कर सकता है। प्रत्येक मानव में यही विशालता की संभावना और गति के लिए परंपरादायी है। अपने-पराए की दीवार और परिचित-अपरिचित की दीवार बनाए रहता है। इन्हीं कारणों वश मानव परंपरा में समझदारी नहीं होने से न्याय सहज विशाल दृष्टि का प्रयोग नहीं कर पाता।

आगन्तुक व्यक्तियों के साथ अपने ही अंदाज में निश्चय हुए आयु के साथ संबोधन करना, देखा जा सकता है। जिसके साथ जैसा संबोधन हुआ रहता है उनके साथ उसी तरीके के मूल्यों का निर्वाह करते हुए देखने को मिलता है। इसमें किसी भी आयु वर्ग के मानव हो, इस मुद्दे पर ऐसा परीक्षण कर सकते हैं। आगन्तुक व्यक्तियों के आयु वर्ग के अनुसार, सहज संबोधन के रूप में किसी न किसी संबध के साथ किया जाये उनमें से कोई नकारने वाले भी मिलते है और सकारने वाले भी मिलते हैं। इन दोनों परीक्षणों को ध्यान में रखते हुए सोचा जाय तो इनमें कुछ और ज्ञानार्जन होने लगता है। किसी भी बच्चे से, चाहे वह छोटा हो या बड़ा, हम मिलते है। शिशु, कौमार्य सहज सौन्दर्य उनमें रहता ही है, साथ ही समान आयु वर्ग के आदमी रहे हों, दादाजी, मामाजी, चाचाजी और भाई कहने योग्य हों, ऐसे संबोधन के प्रभाव में व्यक्ति पर अपना-पराया का प्रभाव, ऐसे बच्चों के बीच में बाधा नहीं डालता, निष्प्रभावी हो जाता है।

दूसरी जो स्थिति बताई गई उसमें परस्पर आगन्तुकता युवा, प्रौढ़ और वृद्ध की हो सकती हैं। ऐसी स्थिति में यह देखने को मिलता है कि अपने-पराए के आधार पर ही संबोधन की स्वागत कराने के बीच में अवरोध पैदा कर देता है इसलिए कुछ लोग स्वागत कर पाते है, कुछ लोग आंशिक रूप में स्वागत करते है, तो कुछ लोग बिल्कुल भी स्वागत नहीं करते। इन तीनों स्थितियों को इस प्रकार परंपरा के भ्रमवश, परंपरा से आई हुई मान्यताओं के साथ अपना पराया होता ही है।

जैसे, हिन्दू धर्म, सिख धर्म, मुस्लिम धर्म, ईसाई धर्म, पारसी धर्म, यूनानी धर्म, हरिजन धर्म, आदिवासी धर्म आदि और इसी प्रकार बहुत से धर्मों को गिनाया गया है। बहुत सारे धर्मों के आधार पर समुदाय चेतना देखने को मिलती है। किसी एक समुदाय के आधार पर, मान्यता भले ही रुढ़ि के रूप में क्यों न हो, ऐसा होने के बाद स्वाभाविक रूप में उनके लिए बाकी सभी पराए हो ही जाते हैं। इस प्रकार अपने-पराए का चक्कर सभी व्यक्तियों के साथ प्रकारान्तर से चला है अथवा सर्वाधिक व्यक्तियों के साथ यह चक्कर लगा हुआ है। समाज मानव समाज ही होता है। "मानवत्व" मानव चेतना संपन्न परंपरा ही धर्म और राज्य का आधार होता है। समाज परंपरा में व्यवस्था होती है। समाज अखण्ड होता है। समाज समुदाय नहीं होता है। समुदाय समाज (अखण्ड) नहीं होता। सामुदायिक व्यवस्था सार्वभौम नहीं होते, इसकी गवाही मानव को मिल चुकी है।

अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था का मूल सूत्र एक ही है यह है समाधान। समाधान=सुख। समाधान=व्यवस्था। संबंधों की पहचान, मूल्यों का निर्वाह, मूल्यांकन क्रिया- ये समाधान है। फलस्वरुप सुखी होना पाया जाता है।

स्वयं में व्यवस्था, व्यवस्था में भागीदारी ही समाधान, समाधान ही सुख, शांति, संतोष, आनंद है। मानव धर्म सुख ही है। यह जागृति का द्योतक हैं।

न्याय पूर्वक सुख और शांति, व्यवस्था पूर्वक शांति और संतोष, तथा अनुभव पूर्वक संतोष और आनंद जीवन में प्रमाणित होता है। प्रत्येक मानव इसे अनुभव कर सकता है। ऐसे अखण्ड समाज- परिवार मूलक व्यवस्था, विश्व परिवार में व्यवहार रूप दे सकता है। व्यवस्था कम से कम 100 से 200 परिवारों के बीच में, अर्थात् 1000 से 2000 जनसंख्या के बीच स्वायत्त विधि से सफल हो सकती है। स्वराज्य की परिभाषा ही है-स्वयं का वैभव, स्वयं का स्वरुप मानव, मानव के समान वस्तु जीवन है। जीवन का संबोधन "स्वयं" अथवा "स्व" है। इस प्रकार जीवन का वैभव ही राज्य है। अस्तु, जीवन का वैभव- स्वराज्य।

जीवन वैभव जागृति की अभिव्यक्ति हैं। जागृति का अर्थ सर्वतोमुखी समाधान एवं प्रामाणिकता है। इसका व्यवहार रूप परिवार परंपरा में समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व है। यही एक परिवार से विश्व परिवार तक प्रमाणित होने की वस्तुएँ हैं। इसके क्रियान्वयन क्रम में सर्वमानव के लिए न्याय सुलभता, उत्पादन सुलभता, विनिमय सुलभता लक्ष्य है। इसकी अक्षुण्णता के लिए शिक्षा-संस्कार, स्वास्थ्य-संयम सहज सुलभ रहेगा।

इसको ही ग्राम स्वराज्य व्यवस्था का रूप देने के क्रम में दस सदस्यीय परिवार स्वयं अपने एक परिवार के प्रतिनिधि को, पहचानने की व्यवस्था रहेगी। हर दस (10) परिवार से एक एक सदस्य "परिवार समूह सभा" के लिए निर्वाचन पूर्वक पहचान करेगा। ऐसे दस परिवार समूह सभा अपने में से एक एक व्यक्ति को ग्राम परिवार सभा के लिए निर्वाचन पूर्वक पहचान करेगा। ग्राम सभा में समाहित दस (10) व्यक्तियों में से सभा प्रधान को पहचाने रहेंगे। ग्राम सभा, "स्वराज्य कार्य संचालन" समितियों को, मनोनीत करेगी। ऐसी समितियाँ पाँच होगी-

1. शिक्षा-संस्कार समिति
2. न्याय सुरक्षा समिति
3. स्वास्थ्य संयम समिति
4. उत्पादन कार्य समिति
5. विनिमय कोष समिति

इन सबके अपने-अपने कार्य परिभाषित, व्याख्यायित रहेंगे।

ऊपर कहे स्वराज्य व्यवस्था में सभी समितियाँ सहित ढाँचे का स्वरुप- निम्नलिखित सभी स्तरों में, निर्वाचन कार्य में दस व्यक्तियों के बीच, एक व्यक्ति होगा। ग्राम सभा तक त्रि-स्तरीय समितियाँ होना आवश्यक है। चौथा - ग्राम समूह सभा। पाँचवाँ - क्षेत्र सभा। छठा - मंडल सभा। सातवाँ - मण्डल समूह सभा। आठवाँ - मुख्य राज्य सभा। नवमा - प्रधान राज्य सभा। दसवाँ - विश्व परिवार स्वराज्य सभा। इस विधि से निर्वाचन कार्य में धन या वस्तु लगने की आशंका समाप्त हो जाती है। धन या वस्तु के साथ निर्वाचन कार्य को जोड़ना स्वयं निर्वाचन कार्य की पवित्रता का हनन सिद्ध हुआ हैं। इसका साक्ष्य मानव को मिल चुका हैं।

परिवार मूलक स्वराज्य, समझदारी मूलक स्वायत्त मानव परिवार है। समझदारी की संपूर्णता ही जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन एवम् मानवीयतापूर्ण आचरण है। व्यवस्था के क्रियान्वयन करने के मूल में, प्रत्येक परिवार को जीवन विद्या में पारंगत बनाने की व्यवस्था रहेगी। जीवन विद्या का विस्तृत कार्य, प्रयोजन, संभावना, सुलभता के संबंध में "अस्तित्व में परमाणु का विकास"- अध्याय में स्पष्ट है। "अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिंतन" के रूप में "मध्यस्थ दर्शन, सहअस्तित्ववाद" है। इसमें अस्तित्व दर्शन को विविध प्रकार से स्पष्ट किया गया है।

अध्याय – 9

समाधानात्मक भौतिकवाद के नज़रिए में :

1) मौलिकता की पहचान ही निर्वाह का आधार

मौलिकता स्वयं मूल्य है। सभी वस्तुओं की मौलिकता का अपनी ही स्थिति, गति, पद और अवस्था के आधार पर प्रकाशित, संप्रेषित और अभिव्यक्ति होना पाया जाता है। अस्तित्व धर्म नित्य वर्तमान है, अस्तित्व सहज स्वरुप और स्वभाव सहअस्तित्व हैं। इस प्रकार अस्तित्व सहज मौलिकता समझ में आती है। अस्तित्व में चारों अवस्थाएँ, सत्ता में संपृक्त वर्तमान है। चारों अवस्थाएँ सत्ता में अविभाज्य हैं। इसीलिए अस्तित्व ही संपूर्ण वस्तु का मूल धर्म है। पदार्थावस्था का धर्म ही अस्तित्व, स्वभाव संगठन-विघटन क्रिया हैं। प्राणावस्था में अस्तित्व सहित पुष्टि धर्म; सारक-मारक स्वभाव है। जीवावस्था में अस्तित्व, पुष्टि सहित आशा धर्म है। अस्तित्व, पुष्टि शरीर में देखा जाता है। आशा धर्म को जीवन में ही देखा जाता है। इस प्रकार जीवावस्था में जीवन और शरीर का संयुक्त रूप में प्रकाशित होना स्पष्ट है। जीवावस्था में स्वभाव क्रूर और अक्रूर रूप में हैं। ज्ञानावस्था में अस्तित्व, पुष्टि, आशा सहित सुख धर्म होना पाया जाता है। अस्तित्व, पुष्टि मानव शरीर में दिखता है, सार्थक होता है। जीवन में संस्कार और सुख सार्थक होना आवश्यक है।

स्वभाव जागृति क्रम में अमानवीय, जागृति पूर्वक मानवीय और जागृति पूर्णता के रूप में अतिमानवीय होना पाया जाता है। यह अमानवीयता की स्थिति में दीनता, हीनता, क्रूरता के रूप में दिखता है और जागृत स्थिति में धीरता, वीरता, उदारता के रूप में दिखता है। जागृति पूर्ण स्थिति में दया, कृपा, करुणा के रूप में स्वभाव दिखता है। अमानवीय स्वभाव ही दुखी होना; मानवीय स्वभाव ही सुखी होना और अतिमानवीयता का स्वभाव ही आनंद होना स्पष्ट है। इस प्रकार अस्तित्व में संपूर्ण वस्तुओं का मौलिक तत्व सहज रूप में जान पहचान सकते है, फलतः निर्वाह कर सकते हैं। संपूर्ण पहचान मौलिकता और मूल्यांकन ही है।

ऐसे मूल्य और मूल्यांकन, चाहे व्यवहार में हो, व्यवसाय में हो, विनिमय में हो, चाहे नैसर्गिकता में हो- इस क्रम को अस्तित्व सहज रूप में देखने पर पता चलता है कि पदार्थावस्था में स्वभाव संगठन-विघटन के रूप में कार्यरत है। हर इकाई का विघटित होने के उपरान्त संगठन की संभावनाओं को इस प्रकार देखा जा सकता है कि हर परमाणु-अणुएँ संगठन में भागीदारी निर्वाह करने के प्रयास में ही रहते हैं। फलतः

परमाणु के रूप में सभी अंश प्रतिष्ठा पाते हैं। हर अंश अपने को संगठन प्रतिष्ठा में पाकर ही व्यवस्था में भागीदार होना प्रमाणित कर पाता है। इस प्रकार पदार्थावस्था में हर वस्तु को संगठन के आधार पर ही अथवा एक परमाणु में निहित अंशों की संख्या के आधार पर ही उस परमाणु की प्रजाति, मात्रा और कार्य को पहचान पा रहे है और वह स्वयं व्यक्त होता हुआ दिखाई पड़ता है। अस्तु, पदार्थावस्था में गठन के आधार पर, वह भी संगठन के आधार पर मौलिकताएँ प्रमाणित है।

प्राणावस्था में मौलिकता को रचना विधि के आधार पर सारक-मारक स्वभाव को पहचाना जाता है या वनस्पतियाँ सारक-मारक विधि से अपने स्वभाव को व्यक्त करते रहता है। यह भी प्राण कोषाओं के स्वभाव क्रिया का ही प्रकाशन हैं। कुछ प्राण कोषाएँ कुछ तत्वों को पचाती है और कुछ कोषाएँ अन्य तत्वों को पचा लेता है। इस प्रकार मूलत: प्राण कोषाओं में निहित रस तत्व ही सारक-मारक रूप में प्रकाशित होता है। सारकता का तात्पर्य अधिकतर मानव और जीव शरीर के लिए अनुकूल तत्व हैं। मारकता है- मानव शरीर और जीव शरीरों के लिए प्रतिकूलता जैसे- जिस रासायनिक द्रव्य को हम जहर कहते है, उसे पचाकर रखे हुए वनस्पति होते हैं। उसे जहरीली वनस्पति भी कहते है और ऐसी वनस्पतियों को पहचाना भी गया है। इसी प्रकार खनिज में भी विषों को पहचाना गया है। इसी क्रम में जीवों एवं स्वेदजों में भी विष संचय करने वाले जीवों व स्वेदजों को पहचाना जाता है। जैसे- कुत्ता, साँप, बिच्छू आदि। जबकि ये सब अपने रूप में जीव, स्वेदज, वनस्पति और खनिज कहलाता है। इस प्रकार वे सब मारक वस्तुएँ है। विशेषकर मानव शरीर के लिए अर्थात् शरीर संरक्षण-पोषण के लिए अनुकूल होता हो उसका नाम है सारक, इसके विपरीत (शरीर संरक्षण-पोषण के लिए विपरीत) होता है वे सब मारक है। इसी आधार पर वनस्पतियों में मौलिकता को पहचाना जाता है। वनस्पतियाँ अपने स्वभाव में संपन्न रहती है।

जीवावस्था में स्वभावों को क्रूर-अक्रूर रूप में पहचाना जाता है। क्रूरता "पर-पीड़ा" के रूप में स्पष्ट हुई हैं। जीव जो दूसरे जीवों को पीड़ित करते है अथवा मांसाहार करते है, उन्हें क्रूर जीव कहते हैं। क्रूरता का कुछ जीवों में होना देखा जाता है। कुछ जीवों में कभी क्रूरता और कभी अक्रूरता भी देखने को मिलती है। जीवों में आहार विधि अथवा भयभीत विधि से पर-पीड़ा कृत्य संपन्न होते हुए देखने को मिलता है। कुत्ते-बिल्ली में यही प्रवृत्ति देखने को मिलती है। ऐसे भयभीत विधि से हर जीव कहीं न कहीं पर-पीड़ा करता हुआ देखने को मिलता है। इस प्रकार भयवश पर-पीड़ा स्पष्ट होता है। "आहार के लिए" पर-पीड़ा बाघ, शेर जैसे जीवों में स्पष्ट है।

पदार्थावस्था में प्रस्थापन (परमाणु गठन) और संगठन विधियों को देखने पर पता चलता है कि संपूर्ण वस्तु परंपराओं का स्थापना परिणाम बीज के आधार पर हुई हैं। परिणाम बीज का तात्पर्य यही की परमाणुओं

में समाहित अंशों की संख्या हैं। तात्विक परिणाम यही है। इन परमाणुओं में जो अंशों की संख्याएँ होती है, उसी के आधार पर उसकी परंपरा व मात्रा स्थापित होती है । इसकी पोषण विधि सहअस्तित्व के आधार पर स्पष्ट हुई हैं। इसकी पोषण विधि यथा-दो अंशों से गठित परमाणु होने की बात, दो अंश वाले परमाणु प्रजाति और समृद्ध होने की संतुष्टि स्पष्ट होती है और दो अंशों के परमाणु के होने की संभावना बनी रहती हैं।

ब्रह्माण्डीय क्रियाकलापों के क्रम में उष्मा, किरण, विकिरण को पचाने के क्रम में कई बार कई परमाणुओं में से कुछ अंश बहिर्गत हो जाते है। यह अपने में परमाणु के रूप में गठित हो जाते है अथवा किसी परमाणु में समाविष्ट हो जाते हैं। गठित होने का संभावना सदा बना रहता है। इसलिए दो अंशों का परमाणु गठन का संभावना रहता ही हैं। अस्तित्व में सभी अवस्थाओं में उन-उनकी परंपरा अक्षुण्ण रहती ही हैं। पदार्थावस्था से न्यूनतम अवस्था में कोई धरती होती नहीं है। पदार्थावस्था सहज धरती में ही चारों अवस्थाएँ प्रमाणित हो जाती हैं। हर अवस्था में परंपराएँ अपने अपने सिद्धांत से व्यवस्थित है ही। मानव को ही अभी तक अपनी मौलिक परंपरा को पहचानना शेष है।

पदार्थावस्था में समृद्ध धरती ही प्राणावस्था में उदात्तीकृत होती हैं। फलस्वरुप धरती पर हरियाली आरंभ होती हैं। क्रम से धरती समृद्ध होती हैं। पदार्थावस्था, प्राणावस्था के बीच रासायनिक प्रक्रियाएँ अपने-आप वैभवित रहती हैं। इस वैभव का मूल बिन्दु पदार्थावस्था अपने में समृद्ध होने की अभिव्यक्ति है।

अस्तित्व सहज संपूर्ण अभिव्यक्ति का स्वरुप सत्ता में संपृक्त पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था और ज्ञानावस्था ही हैं। यह इसी गवाही के आधार पर है, इसी प्रमाण के आधार पर है कि धरती पर चारों अवस्थाएँ स्वयंस्फूर्त प्रमाणित हो चुकी हैं। इसी आधार पर यह स्पष्ट है कि प्रत्येक धरती में ये अवस्थाएँ प्रमाणित होने के क्रम में विकास नित्य प्रभावी है। इसमें बनाने का, बनने का, बनाने वाले का कोई संयोग दिखाई नहीं पड़ता। क्योंकि सहअस्तित्व विधि से अस्तित्व स्वयं स्फूर्त है। सत्ता में संपूर्ण प्रकृति का संपृक्त रहना ही अस्तित्व सहज अभिव्यक्ति का क्रम, प्रक्रिया, परिणाम, स्थिति और गति हैं। इन तथ्यों से बनाने-बिगाड़ने जैसी कोई वस्तु हो, ऐसा कुछ नहीं है।

सहअस्तित्व ही स्वयं व्यक्त सहज वस्तु है। इसी क्रम में प्रकृति में विकास व जागृति नित्य संभावना के रूप में समीचीन रहता है। यह इस प्रकार से दिखता है कि पदार्थावस्था जब समृद्ध होती है, तब प्राणावस्था में उदात्तीकृत होना एक कार्य, एक घटना, एक वैभव दिखाई पड़ता हैं। जब प्राणावस्था अपने में समृद्ध हो जाता है, वैसे ही जीवावस्था का उपक्रम, स्वेदज विधि से आरंभ होता है। स्वेदज संसार में पाए जाने वाले कुछ वस्तुओं अथवा जीवों में यह प्रक्रिया देखी गई है कि वह अंडज परंपरा के रूप में परिवर्तित हो

गई। जैसे- बिच्छू स्वाभाविक रूप में स्वेदज निर्मित ही है। यह अंडज प्रणाली को व्यक्त कर देता है इसी प्रकार और भी संभावनाएँ बनी है।

अंडज परंपरा ही क्रम में पिंडज परंपरा में विकसित होकर अथवा समृद्ध होकर जीव शरीर, मानव शरीर रचना संपन्न होता हुआ वर्तमान में देखने को मिल रहा है। पहले से ही जीवन और शरीर के संबंध को समझा दिये हैं। मानव परंपरा में शरीर का पोषण-संरक्षण एक कार्य गति है, जिसके लिए आहार एक अनिवार्य तत्व हैं। जबकि जीवन के लिए समाधान अथवा सर्वतोमुखी समाधान, प्रामाणिकता सहअस्तित्व ही जागृति का प्रमाण है। जीवन जागृति के क्रम में हैं। शरीर पोषण और संरक्षण क्रम को, जीवन ही स्वीकारा रहता है। जीवन ही भ्रमवश पोषण-संरक्षण को अपना संपूर्ण कार्य मान लेता है। शरीर को जीवंतता प्रदान करने के आधार पर शरीर को ही जीवन समझने लगता है; यही मुख्य रूप में फँसने, भ्रमित होने का मुद्दा है।

इस धरती में अभी तक, भ्रमित रहने की घटनाओं को उन उन आयामों के इतिहास के आधार पर पहले से स्पष्ट किया जा चुका है। शरीर को ही जीवन, जैसा सभी जीव स्वीकारे रहते है और उनके कर्म करने और फल भोगने के क्रम में यांत्रिक होने के कारण संपूर्ण जीवों का नियंत्रित रहना पाया जा रहा है। वहीं मानव अपने में कर्म करते समय में स्वंतत्र है, फलस्वरुप स्वस्फूर्त विधि से नियंत्रित, व्यवस्थित रहने की आवश्यकता तथा अवसर रहते हुए अभी तक वह नियंत्रित नहीं हो पाया। कल्पनाशीलता, कर्मस्वतंत्रता जैसी अद्भुत महिमा का मूल्यांकन नहीं हो पाया। कर्मस्वतंत्रता वश जीवन सहज शक्तियों आशा, विचार, इच्छाओं को आदि काल से मानव भ्रमवश दुरुपयोग करते आया।

फलस्वरुप इस बीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक तक इसके सदुपयोग विधि को शिक्षा में, प्रयोजन विधि को पहचाना नहीं गया। व्यवहार शास्त्र में इसकी सदुपयोग विधि पहचानने में नहीं आई, संविधानों में इसकी संरक्षण विधि समझ में नहीं आई, मूल्यांकन में विधि समझ में नहीं आई। इन्हीं गवाहियों के आधार पर मानव परंपरा भ्रमित रहना स्पष्ट है। हर मोड़, मुद्दे पर विश्वासघात से ही दुकानें सजीं। इसकी भी गवाही वर्तमान ही हैं। जैसे राजगद्दियाँ, धर्म गद्दियाँ आश्वासन देते है, व्यापारवाद जैसा आश्वासन देता है, वैसा व्यवहार में प्रमाणित होना अभी भी प्रतीक्षित रह गया है। इससे यह पता लगता है कि आदि मानव से अभी तक जो कुछ भी अंतरण हुआ, वह वस्तुओं की संग्रह सुविधा विधि और उसकी तादाद की सीमा में ही आज भी मानव मूल्यांकित है । सर्वाधिक संख्या में सभी मानव इसी संग्रह सुविधा के चौखट में दिखाई पड़ते हैं। कोई कोई अपवाद रूप ही हो सकते हैं। और भी एक स्मरण आवश्यक है कि आदि काल से मानवों में छोटे-छोटे समुदाय परंपरा होना पाया जाता है, जिसमें अधिकतर अविश्वास रहा है। किसी देश

काल में विश्वास व्यक्त करने वाले कुछ संख्या में मिलेंगे और सर्वाधिक संख्या में क्षणिक विश्वास के आधार पर सांस लेते हुए आदमी को देखा जा सकता है। इस प्रकार वर्तमान में विश्वास संपन्न व्यक्ति न्यूनतम हैं। अधिकतम वर्तमान में प्रताड़ित व्यक्ति हैं। इसको इन स्वरुपों में जाँचा जा सकता है :-

1. आदि मानव जैसा अभी भी अविश्वास पनप रहा है?
2. आदि मानव से अभी विश्वास अधिक हो रहा है?
3. आदि मानव से अभी अविश्वास बढ़ गया है?
4. आदि मानव से अभी, मानव की परस्परता में विश्वास घट गया है?

इन चारों बातों में बहुत ज्यादा पीछे न पड़ते हुए अवश्यमेव इस निश्चय पर आते है कि हम अभी जैसे मानव जाति में है, इन सभी परंपराओं में भ्रम सर्वाधिक रूप में ही हैं। मानव में समाहित अमानवीयता का भय है ही एवम् इससे छूटना ही, हमारा प्रधान उद्देश्य है।

मानव की मौलिकतावश अभी भी सामान्य मानव, परंपराओं के निर्भ्रमित होने की प्रतीक्षा में है। इसी तारतम्य में यह निश्चय कर लेना आवश्यक है कि इस धरती में इस समय कोई भी परंपरा ऐसी नहीं है कि इस निर्भ्रमता का दावा कर सकें। इस विश्लेषण से एक शंका जन्मना स्वाभाविक है कि परंपराओं में निर्भ्रमता का स्रोत नहीं है, इस शंका पर विचार करना भी एक आवश्यकता है। इसको ऐसा देखा जाता है, इसी की गवाही भी मिलती है परंपराएँ भ्रमित रहते हुए भी, इन्हीं किसी परपंरा में अथवा प्रत्येक परंपरा में कभी-कभी कोई-कोई व्यक्ति परंपराओं के कथन से भी अच्छा होना पाया जाता है। इसका उदाहरण- आदर्श व्यक्तियों की सूची, प्रत्येक समुदाय परंपरा में, मानव इतिहास में रखी हुई हैं। इसके बावजूद आदर्श व्यक्तियों की कमी नहीं लेकिन कोई आदर्श परंपरा नहीं हुई, जिसे सभी अपनाते हुए हों। परंपराएँ वैसे ही उतनी ही रह जाती हैं। इसमें एक प्रश्न यह भी हो सकता है कि जब अच्छे आदमी रहे है तो परंपरा को क्यों नहीं सुधारें? जागृति के स्त्रोत क्यों नहीं बने ? -ऐसा भी सोचा जा सकता है। इसका उत्तर यही मिलता है कि अच्छा लगना व अच्छा होना में दूरी है, रहस्यमय आधारों पर जैसा ईश्वर, देवता, आत्मा जितनी भी अच्छाइयों की बात कहीं गई है, वह सब घोर तप के अनंतर ही प्राप्त होती हैं। यह सांत्वना मिलने वाली बात हैं। परन्तु हर व्यक्ति घोर तप कर नहीं कर सकता। हर व्यक्ति ठीक हो नहीं सकता। इन निर्णयों पर धर्मशास्त्र, कर्मशास्त्र सबको बदल देने के लिए, इसके विकल्पात्मक आधार का होना अनिवार्य हो जाता है, ऐसा विकल्प वस्तुवाद और विज्ञान के आधार पर आया भी। इसका उद्देश्य सबको अच्छा करना नहीं रहा, प्रकृति पर शासन करना प्रधान घोषणा रहा। साथ ही सबको वस्तु मिलने की अथवा मिलना

चाहिए की, उम्मीदों को लेकर भिड़ पड़ा। उसका अनुमान भी सफल नहीं हुआ। जैसा प्रकृति पर शासन करने के स्थान पर प्राकृतिक प्रकोप की चपेट में कयामत होने की जगह में आ गये हैं।

अस्तु, विकल्प की आवश्यकता रही आई। विकल्पात्मक आधार अस्तित्व ही है, जिसका प्रतिपादन हुआ हैं। अस्तित्व ही सहअस्तित्व के रूप में विकास रूप स्पष्ट हैं। यही व्यवस्था अथवा नित्य व्यवस्था के रूप में समझ में आया है। अब यह स्पष्ट हो गया कि विकल्पात्मक आधार सहअस्तित्व है। इस आधार पर चिंतन करने वाला, समझने वाला, जीने वाला, प्रमाणित करने वाला मानव है। इसीलिए इसका नाम अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिंतन है। इस प्रकार हम इस जगह पर आते है कि सभी व्यक्ति मानवत्व सहित व्यवस्था है और व्यवस्था में भागीदार होने का अधिकार अक्षय शक्ति, अक्षय बल संपन्नता के रूप में सभी व्यक्तियों में देखने को मिलता है। इसी आधार पर हर व्यक्ति जागृत होने योग्य है। इसके लिए अनुकूल और सफलात्मक विधि से विकल्पात्मक जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान, मानवीयता पूर्ण आचरण ज्ञान के आधार पर विधिवत् विचारधारा एवम् समझदारी को संजोना एक आवश्यकता रहा है। इसी आधार पर "समाधानात्मक भौतिकवाद" मानव के सम्मुख प्रस्तुत हुआ। इस प्रकार सबको जागृत होने का अधिकार है। दूसरी तरफ विकल्पात्मक दर्शन और ज्ञान, सहअस्तित्व पर आधारित है। उल्लेखनीय बात यहाँ यह है कि :-

1. सहअस्तित्व में मानव अविभाज्य वर्तमान है।
2. अस्तित्व में मानव दृष्टा है।

इन आधारों पर अथवा इस नजरिये के आधार पर देखने की स्थिति में "मानव का मौलिक तर्क" भी पहचान सकते हैं। प्रयोजन सम्मत विश्लेषण, विश्लेषण सम्मत प्रयोजन, दूसरे तरीके से विवेक सम्मत विज्ञान व विज्ञान सम्मत विवेक ही मानव सहज मौलिक तर्क है।

मानव सहज मौलिकता, मानवीयता ही होना एक उद्‌गार बन जाता है। इसे तात्विक रूप में और अस्तित्व सहज विधि से परीक्षण, निरीक्षण और सर्वेक्षण करने से यह स्पष्ट होता है कि "अस्तित्व में प्रत्येक एक अपने 'त्व' सहित व्यवस्था है और समग्र व्यवस्था में भागीदार हैं।"

इसी क्रम में मानव का, मानवत्व सहित व्यवस्था होना कल्पना सहज भाषा है। कल्पना सहज अपेक्षा है। व्यवहार सहज अपेक्षा इन अपेक्षाओं के अनुरुप में प्रयास होना एक स्वाभाविक प्रवर्तन और प्रयास है। इसी क्रम में मानव मानवत्व को सहज रूप में पहचान सकता है।

मानव का अध्ययन, विधिवत् करने पर पता चलता है कि मानव जीवन और शरीर के संयुक्त रूप में हैं। जीवन जागृति पूर्वक तृप्त होता हैं। तब मानवीयता अपने आप व्यवहार में प्रमाणित होती हैं। अजागृति की

स्थिति में जो मानव भ्रमवश व्यक्त होता है; वह अतिव्याप्ति, अनाव्याप्ति और अव्याप्ति दोषों के रूप में मूल्यांकित होता है। इस प्रकार मानव अजागृतिवश जिन स्वभावों को व्यक्त करता है, उसका स्वरुप निम्न तीन प्रकारों से गण्य होता है-

1. हीनता-जो छल, कपट, दंभ, पाखंड है।
2. दीनता- यह अभाव, अक्षमतावश प्रताड़ित रूप में देखने को मिलता है।
3. क्रूरता- यह पर-धन, पर-नारी, पर-पुरुष और पर-पीड़ा के रूप में देखने को मिलता है ।

यही अमानवीयता का स्वरुप हैं। यह भ्रमवश ही होने वाला प्रकाशन है। मानवीयता मानव का स्वभाव है। यह जागृतिपूर्वक व्यक्त हो पाता है। जीवन ही जागृत होता है। व्यक्त करने वाला मानव ही हैं। यह तीन प्रकार से सार्थक होना पाया जाता है-

1. **धीरता** :- यह न्याय के प्रति निष्ठा, द्रढ़ता और विश्वास के रूप में दिखाई पड़ता है। यह सब आचरण में प्रमाणित होते हैं। न्याय का मूल स्वरुप जो मानव में दिखाई पड़ता है, यह संबंधों की पहचान और मूल्यों का निर्वाह है। संबंध परस्परता में रहता ही है, उसे पहचानना जागृति हैं। निर्वाह करना निष्ठा है। मूल्यांकन करना व्यवस्था सहज गति है।

2. **वीरता** :- यह धीरता सहज रूप में जो अभिव्यक्तियाँ होती है, वे रहते हुए दूसरों को न्याय सुलभ कराने में, अपने तन-मन-धन को नियोजन करता है।

3. **उदारता** :- यह जागृत सहज रूप में हैं। अविकसित के विकास में, संबंधों को निर्वाह करने में, श्रेष्ठता को सम्मान करने में, परिवार; ग्राम परिवार; विश्व परिवार की उपयोगिता-सदुपयोगिता विधि से तन-मन -धन रुपी अर्थ को सदुपयोग सुरक्षा करते हैं।

इस प्रकार धीरता, वीरता, उदारता मानवीय स्वभाव के रूप में देखने को मिलता है।

आज भी किसी-किसी व्यक्ति में इसे सर्वेक्षित किया जा सकता है। इसे सर्व जन सुलभ करने की योजना और कार्य के लिए प्रयास कर सकते हैं। इस प्रकार मानव सहज मानवीयता पूर्ण स्वभाव सहज रूप में ही मौलिकता है। ऐसी मौलिकता प्रत्येक नर-नारी में जीता-जागता मिलने के लिए व्यवहारिकता में प्रमाणित होने के लिए, परंपरा जागृत रहना एक अनिवार्य स्थिति है। ऐसे मानव सहज मौलिकता किसी समुदाय में अभी तक सार्थक रहा हो, प्रमाणित रहा हो, व्यवहारिक रहा हो, संविधान और व्यवस्था में पहचान बन चुका हो, शिक्षा परंपरा में प्रवाहित हो चुका हो, संस्कार परंपराओं में मानवीयता को पहचाना हो, ऐसा कोई उदाहरण अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। इसलिए भी विकल्प की आवश्यकता, अनिवार्यता स्पष्ट होती है।

व्यवहार में आवश्यकीय जागृति, मानवीयतापूर्ण संचेतना में स्पष्ट हो जाती है। संचेतना का तात्पर्य ही है जानना, मानना, पहचानना, निर्वाह करना। धीरता, वीरता, उदारता को जान लें, मान लें। मानव सहज मौलिकता सार्वभौम रूप में स्पष्ट होती है। मानव संचेतना सहज जागृति के उपरान्त स्वाभाविक रूप में मोक्ष का स्वरुप समझ में आता हैं। मोक्ष का स्वरुप है- भ्रम से मुक्ति। पूर्ण जागृति की स्थिति में मानव अस्तित्व में अनुभव और उसकी निरंतरता सहज स्थिति को पाता हैं। यही भ्रम मुक्ति रूपी मोक्ष की अवस्था अथवा जागृतिपूर्ण संचेतना की अवस्था या जीवन मुक्ति या मुक्त पद है । ऐसी संचेतना मानव में ही होती है, वह भी व्यवहार मानव में प्रमाणित हो पाता है। जागृति के उपरान्त अथवा परम जागृति के उपरान्त मानव अपने आप में प्रामाणिक होता है और संबधों की पहचान के साथ ही दया, कृपा, करुणा के रूप में मौलिकताएँ अपने आप व्यक्त होती हैं। इन्हीं अभिव्यक्तियों को जागृति पूर्ण मानव अथवा भ्रम मुक्त मानव में प्रमाणित होना देख सकते हैं। जैसे ही मानवीयता पूर्ण परंपरा अर्थात् मानव संचेतना सहज परंपरा स्थापित होता है, इसके उपरान्त भ्रम मुक्ति सहज स्थिति, उसका प्रयोजन और उसका संभावना अपने आप समझ में आवेगा। अतएव, जागृति पूर्ण मानव की मौलिकता को:-

1. **दया** :- जिस किसी में जो कुछ भी पात्रता के लिए अर्हता हो उसके लिए वस्तुएँ उपलब्ध नहीं हो रही हों, ऐसी स्थिति में उनमें पात्रता अनुकूल वस्तुओं को सुलभ करा देना ही, दया का व्यवहारिक प्रमाण है।

2. **कृपा** :- जिस किसी में भी वस्तु और प्राप्तियाँ हों उनके अनुरुप पात्रता न हो अर्थात् मानवीयतापूर्ण नजरिया सहित तन-मन-धन का उपयोग, सदुपयोग विधि से संपन्नता से है। उनमें पात्रता को स्थापित करा देना कृपा है।

3. **करुणा** :-जिस किसी में भी मानवीयता सहज पात्रता, योग्यता भी न हो और वस्तु भी उपल्बध न हो, उस स्थिति में उनको पात्रता और वस्तु तथा (उपयोग, सदुपयोग विधि) उपलब्धियों को सुलभ करा देना, यही करुणा का तात्पर्य हैं।

इस प्रकार दया, कृपा, करुणा सहज मौलिकता को मानव के कार्य, व्यवहार विन्यास में पहचाना जा सकता है । इसकी आवश्यकता रही हैं। यह मानव संचेतना पूर्ण व्यवहार, संविधान, शिक्षा-संस्कार- जब से मानव परंपरा में प्रमाणित होगी तभी से दया, कृपा, करुणा संपन्न देव मानव, दिव्य मानव सहज व्यक्तित्व को परंपरा के रूप में पहचान सकेंगे, निर्वाह कर सकेंगे। मानव सहज मौलिकता की पहचान मानव परंपरा में होना एक अनिवार्य स्थिति हैं।

1. जागृतिपूर्ण मानव परंपरा का तात्पर्य मानवीय शिक्षा, अनुभव मूलक विधि से व्यवहार, व्यवस्थावादी व कारी शिक्षा, मानवीय संस्कार, मानवीय व्यवस्था अर्थात् परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था और मानवीयता पूर्ण आचार संहिता संविधान है। यह अविभाज्य रूप में वर्तमान मानवीयतापूर्ण परंपरा है।
2. मानवीय सभ्यता, संस्कृति, विधि, व्यवस्था में सामरस्यता मानवीयतापूर्ण परंपरा है।
3. जागृतिपूर्ण मानव परंपरा में समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व सर्वसुलभता वर्तमान रहता है।
4. प्रत्येक परिवार के में, से, लिए न्याय सुलभता, उत्पादन सुलभता, विनिमय सुलभता वर्तमान होता है।

ऊपर कहे मानव संचेतना, मानव परंपरा में ही, मानव सहज मानवीयता, मानवीयता सहज मौलिकता, मौलिकता सहज मूल्यांकन, मूल्यांकन सहज उभय तृप्ति का कार्यक्रम ही मानव परंपरा का संरक्षण और नियंत्रण का प्रमाण हैं। ऐसी प्रमाण संपन्न स्थिति में और गति में व्यवस्था केन्द्र बिंदु हैं। व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए ही संपूर्ण आयामों का तर्क संगत विधि से निर्णय लेना एक आवश्यकीय कार्य हैं। यह भी सहज रूप में देखा गया है कि मानव बहुआयामी अभिव्यक्ति हैं। इन सबके मूल में अर्थात् सभी आयामों में व्यक्त होने के मूल में समाधानगामी विधि हैं। दूसरी भाषा में व्यवस्था मूलक विधि, व्यवस्थागामी विधि है, दो मूल रुपों के आधार पर ही मानव का नियंत्रित होना स्पष्ट हो जाता है। समाधान मूलक अथवा समाधान केन्द्रित विधि से समाज के रूप में, अखण्ड समाज ख्यात होता हैं। अखण्ड समाज और सार्वभौम व्यवस्था ही, मानव परंपरा का संरक्षण और नियंत्रण सहज प्रमाण है।

व्यवस्था विहीन कार्यक्रम से नियंत्रित होना भी संभव नहीं है। इस दशक तक के मानव ने इसी अव्यवस्था के लिए कुछ किया। असुरक्षा, असंतुलन, परंपरा को हर समुदाय जितना द्रोह, विद्रोह, शोषण और युद्ध को बुंलद कर सकते थे, कर गए, शेष समुदायों को इसी में फँसा ले गए। यही आदि मानव और आज के अत्याधुनिक मानव मानस को तौलने की कसौटी है। अब रही बड़ी-बड़ी सड़कें, यान, वाहन, दूरसंचार कितने भी प्रकार से स्वचालित यंत्रों को बना लिए है, प्रौद्योगिकी को समर तंत्रों में समावेश कर लिए हों, इन सबका सर्वाधिक उपयोग द्रोह-विद्रोह, शोषण और युद्ध के लिए ही मनुष्य करते हुए देखने को मिलता है और यह आंकलित हो रहा है, आंकलित कर सकते हैं।

मानवीयता पूर्ण व्यवहार, व्यवस्था, संविधान, शिक्षा-संस्कार के साथ-साथ आहार, विहार, व्यवहार, व्यक्तित्व और प्रतिभा में संतुलन को प्रमाणित करने के लिए अति आवश्यक है। व्यवहार, मानवीय आचरण के रूप में, व्यवस्था में भागीदार होने के रूप में स्पष्ट व नियंत्रित, संतुलित हो जाता है। व्यवस्था में भागीदारी, व्यवहार में संबंधों व मूल्यों को निर्वाह करना, व्यवस्था के लिए पूरक होता हैं। व्यवस्था में भागीदारी प्रधानत:

न्याय-सुरक्षा, उत्पादन-कार्य और विनिमय-कोष कार्यों में भागीदारी हैं। इसके अतिरिक्त भी प्रत्येक मानव आहार-विहार करता ही है।

अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित व्यवस्था सहज सूत्रों की व्याख्याओं की रोशनी में बहुत अच्छे से आहार विधियों को पहचान सकते हैं। ये दो विधियाँ है- जैसे शाकाहार, मांसाहार, अति पौष्टिक आहार, अति स्वादिष्ट आहार। इसमें और कुछ चिंतन जुड़ा है कि सुपाच्य भी हों। इस प्रकार से आहार के बारे में सोचा गया है। इन सबके प्रयोजन के बारे में जब निरीक्षण, परीक्षण किया जाता है, तब यह पता लगता है कि अधिक से अधिक मजबूत शरीर हो। उसके उपयोग के बारे में निरीक्षण किया जाता है तब यह और पता लगता है कि वह ज्यादा से ज्यादा संघर्ष कर सकें। संघर्षों में टिक सकें, संघर्षों में विजय प्राप्त कर सकें। चौथी अपेक्षा, पूर्व पीढ़ी से भी कुछ अधिक हो सकती है और वह यह कि स्वयं से स्वयं में सर्वाधिक भोग कर सकें।

आज की स्थिति में भोग का स्वरुप, युवा और प्रौढ पीढ़ी में जैसा भी दिखता है, वह तीन स्थली में केन्द्रित हो चुका है। शयनागार, स्नानागार और भोजनागार। इसके प्राप्त होने का भरोसा राष्ट्रीयकृत बैंकों में अथवा विदेशी बैंकों में मोटी राशि का खाता है। इसीलिए आज तक के मानव छल, कपट, दंभ, पाखंड, द्रोह, विद्रोह, शोषण और युद्ध इन विधियों को अपनाने के लिए मजबूर है। इसी से संग्रह-सुविधा संभव होना माना जाता है। इसमें बिरले व्यक्ति ही अपने व्यक्तित्व वश इससे छूटा रहा हो। अन्यथा छोटे-मोटे संग्रहों के आधार पर इन्हीं नाज नखरों में मगन रहना देखने को मिलता है। द्रोह, विद्रोह, छल, कपट, दभ, पांखड से होने वाली सभी प्रकार की पीड़ाओं को, कुण्ठाओं को, प्रताड़नाओं को भुलावा देने के लिए दो ही उपाय आदमी को सूझा हुआ है, वह है यौन-यौवन-व्यसन और सुरापान। ये सर्वोपरि माने गये। यह इस प्रकार का घनचक्कर है कि कुछ राहत पाने के लिए कुल मिलाकर यौन व्यसन और सुरापान ही मिल पाया। इसे बनाये रखने के लिए जो अमीरी-गरीबी की दूरी है, यही सर्वाधिक दिखाई पड़ता है। उक्त दोनों व्यसनों के लिए समुचित आहार व्यवस्था सहित जीने के लिए प्रत्येक स्तर में (यथा कम से कम खर्च और ज्यादा से ज्यादा खर्च की) दूरी बनी हुई हैं। उसे मैं अपनी भाषा में कहूँ तब एक और एक लाख की दूरी है। जिद्द तो यही है और हर स्तर में यही मानसिकता काम करती है कि ज्यादा से ज्यादा, उससे ज्यादा और उससे ज्यादा की उमीदें बंधी हुई हैं।

इन सबको देखने के उपरान्त इन सबकी उपज क्या हुई? यह पूछने पर मानव समुदाय से यह उत्तर मिला कि ज्यादा से ज्यादा समस्या, ज्यादा से ज्यादा अव्यवस्था। ऐसे हर व्यक्ति से मानव पंरपरा के लिए यह अव्यवस्था विरासत में मिली। और अभी सर्वाधिक लोग इसी खाते में है । इसी को यथा स्थिति कहा गया।

जबकि इस प्रवाह में बहने वाला हर व्यक्ति परिवर्तन चाह रहा है। उक्त विश्लेषण से इस प्रमाण को आज हर दिन देखा जा रहा है, सुना जा रहा है कि आहार, विहार, व्यवसाय, उपार्जन, संग्रह के लिए सभी लोग अवांछनीय कर्म करते हैं। यह सब उपक्रम, प्रक्रिया, प्रवृत्ति, समुदाय चेतना के अनुसार प्रदत्त रहना, प्रमाणित हो चुकी । इसमें व्यवस्था कहीं देखने-सुनने को नहीं मिली। अस्तु, भोगवादी आदर्श जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है तथा विरक्तिवादी-भक्तिवादी आदर्श, इन दोनों उपक्रमों से एक अखण्ड समाज और सार्वभौम व्यवस्था नहीं मिली। भौतिकवादी तर्क संगत सभी तत्व, मीमांसा, ज्ञान मीमांसा मानवीयता से दूर रह गया हैं। इतना ही नहीं निरर्थक, अपराधिक, हिसंक, बेहोशी और भ्रम को बढ़ाने वाले सिद्ध हो गये। यह तो पक्का पता लग चुका है कि भ्रम और बेहोशी, व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी का सूत्र और व्याख्या अथवा इसके सहायक सिद्ध नहीं होते।

व्यवस्था में भागीदारी निरंतर जागृति सहज अभिव्यक्ति है जागृत रहना है। जागृति का प्रमाण प्रस्तुत करना ही है। उस स्थिति में हर मानव का यही कर्त्तव्य होता है कि बेहोशी अथवा बेहोश होने के लिए जो उपक्रम है उससे मुक्ति पाया जाये। जैसे- स्वस्थ रहना है, उस स्थिति में सारे अस्वस्थता के उपक्रमों को उपचार करना बनता है। उसी भाँति बेहोशी, नशाखोरी, यौवन, यौन, संग्रह, उन्माद ये सब अव्यवस्था के कारक हैं। यह समझ में आने की स्थिति में स्वाभाविक रूप में अव्यवस्थावादी हर क्रियाकलाप प्रवृतियाँ अपने आप में निरर्थक, अपराधिक है। इसीलिए समाधानात्मक भौतिकवाद में जीवन ज्ञान सहज प्रकाश में, अस्तित्व दर्शन का स्वरुप मानवीयतापूर्ण आचरण की मौलिकता को अध्ययनगम्य कराना-करना प्रमाणित हैं। इसकी रोशनी में सहज ही, सभी अव्यवस्थाएँ अनावश्यक सिद्ध हो जाएँगी और व्यवस्था प्रमाणित होना सहज है।

मानव संस्कृति में आहार अर्थात् खान-पान एक प्रधान मुद्दा है। मानवीयता पूर्ण संस्कृति में एकता का अथवा अखण्ड समाज के सूत्र चार हैं :- संस्कृति, सभ्यता, विधि एवं व्यवस्था। संस्कृति एवं सभ्यता धर्म नीति से, विधि एवं व्यवस्था राज्य नीति से संबद्ध रहता है|

राज्य नीति: यह परिवार मूलक स्वराज्य विधि से सार्वभौम होना, अध्ययनगम्य है। आगे आवर्तनशील अर्थ व्यवस्था को अध्ययन गम्य कराने की स्थिति में प्रस्तुत करेंगे। यह अध्ययन गम्य होना संभव हो गया है। इसकी सार बात यही है कि प्रत्येक मानव के पास तन, मन (ज्ञान और दर्शन), धन रुपी अर्थ रहता ही है। ऐसे अर्थ की सुरक्षा ही "राज्य नीति" है और सदुपयोग ही "धर्म नीति" है। जीवन का वैभव ही, राज्य के रूप में अर्थ की सुरक्षा और गति है। सदुपयोग स्वयं सुख-धर्म का स्वरुप ही है। इसको ऐसा भी समझ सकते है कि अर्थ के सदुपयोग में ही मानव का सुखी होना अर्थात् वर्तमान में विश्वास और भविष्य का

आश्वासन पाया जाता है। आज भी मानव जहाँ अपने अर्थ का सदुपयोग समझता है या कल्पना करता है वहाँ उपयोग कर अपने में सांत्वना और सुख पाता हैं। जहाँ-जहाँ तन, मन, धन रुपी अर्थ का दुरुपयोग होना समझ में आया उसकी पीड़ा व्याप्त ही हैं। पीड़ा को मानव वरता नहीं। इसलिए भी व्यवस्था के अनुरुप समाज के रूप में अर्थ का सदुपयोग प्रमाणित हो जाता है। अर्थ की सुरक्षा स्वयं ही परिवार मूलक स्वराज्य के रूप में वैभवित हो जाती है, इसलिए प्रत्येक मानव का समाज और व्यवस्था में, भागीदार होना एक अनिवार्य स्थिति है। जीवन सहज जागृति, समाज सहज अभिव्यक्ति, व्यवस्था सहज भागीदारी और व्यवहार सहज उपलब्धि है; ऐसी उपलब्धि यहाँ समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व है। यही मानव सहज स्वभाव गति प्रतिष्ठा सहज अपेक्षा आवश्यकता और उपलब्धियाँ भी हैं।

बेहोशी में, उन्माद में मनुष्य स्वभाव गति में नहीं रहता है। इस प्रकार उन्मादों, आवेशों में रहते, जितने भी मोटे आदमी हों, वह भय और शंकाओं से घिरा रहता है, इसलिए वह कमजोर होता ही है । आवेशों में कमोबेशी, आदमी में कोई ताकत रह नहीं जाती। समस्याओं से ग्रसित मानव कमजोर होता है। इसी भाँति लाभोन्माद, कामोन्माद, भोगोन्माद से ग्रस्त आदमी मानसिक रूप में कमजोर होता है तथा शरीर रूप में भी कमजोर होता है क्योंकि मानसिकता ही शरीर के द्वारा ताकत को प्रदर्शित करता है। इससे एक सहज निश्चय निकलता है कि "अमानवीयता मानव में, मानव से, मानव के लिए कमजोर स्थिति है।" भले ही वे राक्षस मानव, पशु मानव क्यों न हो पर वे अमानव तो है, इसलिए इन दोनों का मानवीयतापूर्ण मानव से कमजोर होना स्वाभाविक है। क्योंकि मानव का स्वभाव (मौलिकता) धीरता, वीरता, उदारता है। वहीं अमानव का अर्थात पशु और राक्षस मानव का स्वभाव हीनता, दीनता, क्रूरता ही है।

मानव सहज मौलिकता कितनी सुदृढ़ है, यह हर एक व्यक्ति को समझ में आता है। इससे पता चलता है कि अमानवीयता की मुक्ति स्थली, स्वयं मानवीयतापूर्ण स्वभाव ही वैभव है। इसलिए अमानवीयता का, मानवीयता पूर्वक अथवा मानवीयता की विधि से परिवर्तन होना सहज है, क्योंकि अमानवीयता को कोई भी मानव (जो अमानवीय रहता है वह भी) नहीं स्वीकारता जबकि मानवीयता को हर व्यक्ति स्वीकारता है।

मानवीयता के खोल में ही, अमानवीयता पनपती हुई देखने को मिल रही हैं। ऐसा मजबूर होने का एक ही कारण है, परंपरा में मानवीयता का जीता जागता प्रमाण, बोध गम्य होने योग्य ज्ञान, दर्शन सुलभ न होना। इसे ऐसा भी एक सर्वेक्षण किया जा सकता है कि किसी भी नशाखोर व्यक्ति से विधिवत् किसी मुद्दे पर ज्ञानार्जन, विवेकार्जन विधि से बात करें, तब हम यह पाएँगे कि नशा किया हुआ व्यक्ति भी नशा नहीं किया हुआ जैसा प्रस्तुत होना चाहता है। एक चोर, डाकू से विवेक और व्यवस्था संबंधी चर्चा कर देखें तो हम यही पाते है कि चोरी-डकैती करते हुए उसी के पक्ष में व्यवस्था व विवेक को उपयोग करते हुए नहीं मिलता

है। अपितु, इसके विपरीत जो भी करते रहता है, किया रहता है उसी की निरर्थकता को बार-बार दोहराते रहता है। इसी प्रकार लाभोन्मादी, कामोन्मादी व भोगन्मादियों से व्यवस्था और विवेक प्रयोजन विधि से विधिवत् चर्चा करके हम यह पाते है कि सभी उन्माद निरर्थक है। इसी प्रकार आज के राजनेताओं से इस मुद्दे पर चर्चा करके देखें कि वोट, नोट, बँटवारा, संतुष्टि, असंतुष्टि कब तक चल सकती है? इससे स्वस्थ व्यवस्था मिल सकती है क्या? इस पर वे कहते है कि "सबकी संतुष्टि हो नहीं सकती, इस बीच में झेलते रहना ही राजनीति है।" इन सभी वर्गों के साथ बात करने पर उनकी यह स्वीकारोक्ति है कि उन-उन कार्यों की बड़ी मजबूरी रही है, लेकिन ये सारे "उचित काम" नहीं हैं।

इन लोगों से पूछा गया कि ये ठीक नहीं है तो करते क्यों हो? इस पर वे कहते है कि "इसके अलावा कोई दूसरा रास्ता नहीं हैं।" इसी प्रकार युवा पीढ़ी से पूछा गया कि, "जो कुछ भी आप लोग कर रहे है, सोच रहे है- नशाखोरी, जमाखोरी, जिम्मेदारी-विहीन कार्य आदि क्या ये ठीक है? - ऐसा पूछने पर वे कहते है कि "ईमानदारी से रोटी नहीं मिलती।" जिम्मेदारी से बात या काम किये तो पिस जाते हैं।" ऐसी दो टूक बातें युवा पीढ़ी करती है। मानवीयता के बारे में जब उनसे पूछते है तो ये कहते है "यह तो जरुरी है ।" इस तरह इन तथ्यों के आधार पर यही समझ में आता है कि अन्याय, भ्रष्टाचार, दुराचार करने वाला व्यक्ति भी मानवीयता को एक आवश्यकता के रूप में स्वीकारता है। ऐसे भी बहुत से महत्वपूर्ण लोगों की बातें की गई। इनमें धर्म गद्दी पर बैठे लोग भी रहे है, उनसे मानवीयता के संबंध में चर्चा की गई तो सभी ने मानवीयता को नकारना अनुचित बताया और मानवीयता की आवश्यकता बताई। उनकी भागीदारी के बारे में पूछने पर वे कहते है कि "भागीदारी की बात तो हम कर नहीं सकते क्योंकि हमारा अभी तक किया हुआ, इस नजरिए से, बाकी सब वृथा लगने लगता है । इसलिए हम इसे नहीं ले जा सकते।" इत्यादि।

यह भी देखने को मिला कि ख्याति प्राप्त साधु, संत, मुनि ये लोग अपने को उन सबसे अच्छा मान लेता है, यही कि वे मानवीयता से अपने को श्रेष्ठ मान लेते हैं। उनके अनुसार मानवीयता सामान्य मनुष्य की कथा है, उनके अनुसार वे स्वयं अपने को मानवीयता से अधिक श्रेष्ठ मानकर, अपने संभाषणों को समाप्त करते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि साधु, सन्यासी, संत सभी मानवीयता की आवश्यकता से सहमत होते हैं। ये उस मानवीयता की मापदण्ड से भिन्न है- ऐसा समझ में आता है। लेकिन मानवता को सभी उचित ठहराते हैं। इस प्रकार सर्वाधिक लोगों को यह स्वीकृत है ही। इस विधि से मानवीयता का नाम सबको स्वीकृत है। मौलिकता भी सबको स्वीकृत है। मानवीय ज्ञान, जीवन ज्ञान है। जागृत मानव ही दृष्टा पद में हैं। अस्तित्व ज्ञान सभी मानवों को संभव है- इन बातों को रुढ़िवादी, कट्टरपंथी लोग जल्दी नहीं स्वीकारते, किन्तु विरोध करना भी नहीं बन पाता।

2) मानवीय आहार

मानवीयतापूर्ण विधि से जीने की कला में आहार का स्वरुप एक महत्वपूर्ण बिंदु है। आशा, विचार, इच्छा, संकल्प, कल्पनाशीलता-कर्मस्वतंत्रता - यह सब मानवीयता के रूप में कार्य करेगा। उस स्थिति में मानव की मौलिकता अपने आप में मूल्यांकन का आधार बन पाता है। ऐसी स्थिति में यह विश्लेषण आवश्यक है कि यह आहार मानवीय है अथवा नहीं? पहले से ही इस बात को इंगित करा चुके है कि मानव शरीर भी प्राण कोषाओं से रचित रचना है। मानव में जीवन और शरीर संयुक्त साकार रूप में है। संपन्न शरीरों को जीवन चलाता है, यही जीव कोटि में आते हैं। ऐसे जीव कोटि भूचर, जलचर, नभचर रूप में होना स्पष्ट हो चुका है। अब मानव में मानव शरीर समृद्ध मेधस संपन्न शरीर हैं। इसी मनुष्य में ही कर्मस्वतंत्रता, कल्पनाशीलता प्रकाशित है। यही मानव दृष्टा पद संभावना सहअस्तित्व में अनुभवपूर्वक प्रमाणित होता है। तब तक भ्रमवश भय-प्रलोभन होने के फलस्वरुप मानवेत्तर प्रकृति का शोषण, और दृष्टा पद में होने के फलस्वरुप पोषण करने वाले के रूप में देखने को मिला है।

मानव की शरीर रचना में आंतों की बनावट, नाखूनों और दांतों की बनावट पानी पीने का तरीका शाकाहारी जीवों के रूप में है, इसके बावजूद मानव मांसाहार-मद्यपान भी करता है। मानव इसे समझ ही सकता है कि शाकाहारी मनुष्य भी भ्रमवश असंतुलित होना स्पष्ट है। जबकि मानव का संतुलित रहना नितांत आवश्यक होता ही है। यह तभी संभव है, जब वह अपनी स्वभाव गति में हो। स्वभाव गति का तात्पर्य मानव की मौलिकता मानवत्व ही है। इसी के आधार पर मानव का मूल्यांकन होना स्वाभाविक है। मानव का मांसाहार मद्यपान में व्यस्त होकर स्वयं संतुलित रहना संभव नहीं है। इसी आधार पर दूसरे बिंदु को देखने पर इसकी आवश्यकता अपने आप समझ में आता है। वह दूसरा बिंदु यह है कि व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदार होना प्रत्येक मानव का एक अनिवार्य कार्य है। मानवत्व सहित व्यवस्था के रूप में जीने के लिए शाकाहार ही एक मात्र शरण है। इस बात को समझना भी एक आवश्यकता है।

मांसाहार- इस वर्तमान में-

1. इस धरती पर अधिकांश मानव मांसाहार से संबद्ध हो चुके है।
2. इस धरती पर इस समय में मानव की मान्यता है कि मांसाहार एक अनिवार्य स्थिति है।
3. सबको शाकाहार मिलने में शंका है। उक्त मानसिकता में पनपता हुआ कूटनीतिक राजधर्म, समुदायवादी संस्कार उन्माद, भयवादी शिक्षा, गलती को गलती से, अपराध को अपराध से, युद्ध को युद्ध से रोकने के रूप में शक्ति केन्द्रित शासन व्यवस्था आज प्रभावशील है।

इन सबके प्रभावशील रहते अव्यवस्था और समस्याओं का बढ़ना ही देखने को मिला। सार्वभौम व्यवस्था, अखण्ड समाज की रूपरेखा आज तक विचार रूप में भी नहीं आ पाई। मानव पंरपरा में आज तक परंपरा में जो कुछ भी साकार है, वह सब पहले विचार रूप में आया फिर साकार हुआ। अभी तक जो विचार है, वह समस्या कारक ही देखने को मिला। इसीलिए एक विचारणीय बिंदु के रूप में मांसाहार मानसिकता भी समस्या मूलक, समस्या कारक क्यों न हुआ हो? इस प्रकार एक प्रश्न किया जाना संभव है क्योंकि मानव की संपूर्ण समस्याएँ समाधान सहज अपेक्षा के साथ होना पाया जाता है। समाधान का आधार कार्य, उत्पादन, विनिमय, विचार और व्यवहार, अनुभव के आधार पर ही प्रमाणित होता है। इसलिए मानव के व्यवहार में, मूल रूप से आहार-विहार का प्रासंगिक संबंध है। इसलिए भी मांसाहार शाकाहार की समस्या और समाधान पक्षों में परिशीलन करना एक आवश्यक कार्य है । (1) मांसाहार (2) शाकाहार-इसके स्वरुप को समझें। ये दोनों एक है या अलग अलग मानसिकता और वस्तुएँ है? दोनों वस्तुओं का एक ही प्रयोजन है या अलग प्रयोजन है । इसका निर्णय होना आवश्यक समझा गया।

अस्तित्व सहज रूप में हमारे सम्मुख मानवेत्तर प्रकृति के साथ क्रमिक संबंध है। जैसे- पदार्थावस्था का प्राणावस्था के साथ क्रमिक संबंध है। प्राणावस्था से पदार्थावस्था पूरक व क्रमिक संबंध हैं । इसको ऐसा भी कहा जा सकता है कि पदार्थावस्था से प्राणावस्था, प्राणावस्था से जीवावस्था, जीवावस्था से ज्ञानावस्था की रचनाओं में क्रमिक संबंध है। क्योंकि पदार्थावस्था की वस्तुएँ रासायनिक द्रव्य वैभव पूर्वक, प्राणावस्था की संपूर्ण रचनाएँ- अन्न वनस्पतियों के रूप में, जीवावस्था और ज्ञानावस्था की शरीर रचना के रूप में संपन्न हुई, यह स्पष्ट लगता है। इस प्रकार प्राणावस्था के रासायनिक द्रव्य ही वनस्पति, जीव और मानव शरीर रूप में हैं। प्राण कोषा रुपी द्रव्य के रूप में ये सब समान हैं। यह बात स्पष्ट होती है। इसके आधार पर सोचने पर मांसाहार, शाकाहार में दिखने में कोई अंतर नहीं है। संभवत: यही वैज्ञानिक विश्लेषणों का नजरिया भी है। जबकि स्रोत व प्रयोजन के अर्थ में देखने पर स्पष्ट होता है कि इसका विनियोजन विधि में ही भिन्नता है। विनियोजन का तात्पर्य है- विहित विधि से नियोजन।

अन्न-वनस्पतियों का विहित विधि से नियोजन का तात्पर्य है, पदार्थावस्था के लिए पूरक होना। पदार्थावस्था, प्राणावस्था के लिए पूरक होना जबकि जीवावस्था और ज्ञानावस्था में शरीर रचना का विनियोजन, जीवन के लिए पूरक होना है और जीवन का शरीर के लिए पूरक होना जीवन्तता सहज विधि से स्पष्ट है। यही मुख्य तत्व है। शरीर रचनाओं और वनस्पति रचनाओं में मुख्य विनियोजन विधि भिन्न हैं। यह भिन्नता अवस्थाओं को परिभाषित करने, व्याख्यायित करने, वर्तमान में प्रकाशित करने के आधार पर स्पष्ट हुई हैं। अस्तित्व का अपने में, चारों अवस्थाओं में प्रमाणित होना, इस धरती पर प्रमाणित हो चुका है। इन चारों अवस्थाओं

मे स्पष्ट है। द्रष्टा, दृश्य, दर्शन का प्रमाणित होना एक आवश्यकीय तत्व रहा है। इसी क्रम में जीवावस्था के अनंतर ज्ञानावस्था की अभिव्यक्ति सहज रूप में हुई है। इन तमाम अभिव्यक्तियों में अस्तित्व सहज नियम, प्रक्रिया-वस्तु द्रव्य ही हैं।

मानव का जब से जंगल, पत्थर, धातु, जलवायु और मिट्टी पर हस्तक्षेप होता आया यह अपनी बहादुरी की दुहाई देते रहा। इस बीच मानव के साथ मानव का पाला पड़ा। फलस्वरुप विविध समुदायों के रूप में बँटा हुआ आदमी आज की तिथि में व्यक्त हैं। इस क्रम में अर्थात् इस भ्रमित क्रम में मानव मांसाहार में लटका हुआ है। मांसाहार में सबसे स्वादिष्ट मानव शरीर को होना बताया करते हैं। इस प्रकार मानव भी मांसाहार की इकाई होने के पश्चात् मानव को मांसाहार के रूप में स्वीकार लिया। यदि ऐसे ही प्रत्येक मानव में मानसिकता बन जाये, उसके लिए भी मानव को ही प्रयत्न करना पड़ेगा। मानव, मानव को जब मांसाहार का आधार बना देगा तब मांसाहार करने वाला अलग से कैसा पहचाना जाय, यह प्रश्न उभर आता है? उस स्थिति में जो सबसे बलवान होगा वह अधिक लोगों को खाएगा। अब बलवान होने की होड़ चली। यह मल्ल युद्ध वाली बात, शिलायुग तक भी तैयार हो चुकी थी। अभी की स्थिति में तकनीकी बल ज्यादा ताकतवर हुई। भीमकाय व्यक्ति को एक दुबला पतला आदमी गोली मारे, भीमकाय व्यक्ति मर जाएगा। इस प्रकार बल के आधार पर मानव को मांसाहार का आधार बनाना संभव नहीं हो पाता। इसी के साथ बलवान वाली बात, दुष्टता के साथ, पशुता के साथ, परेशानी का घर होना सिद्ध हो गया और परेशानियों को मानव वरता नहीं है । इस स्थिति में पुन: विचार करने के लिए आवश्यकता का अनुभव करता है। जब बल के आधार पर मांसाहार विधि मानव कुल के लिए व्यवस्था का आधार नहीं हुई है, तब और कौन सा आधार है कि मांसाहार विधि को वैध मानें। केवल शाकाहारी पद्धति भी व्यवस्था का आधार नहीं हो पाया तब मानव संचेतना ही एकमात्र शरण है जो मानवत्व है।

शरीर रचना, रचनाओं की विनियोजन प्रक्रिया और प्रयोजन को पहले इंगित कराया गया है। वनस्पति जगत की रचनाएँ धरती के लिए पूरक हैं। जबकि जीव शरीर और मानव शरीर भी धरती के लिए पूरक हैं। जीव शरीरों में जीवन ही अथवा जीवन की अभिव्यक्ति ही, जीवों और वनस्पतियों को अलग-अलग रूप और पहचान को स्पष्ट कर देता है। इस क्रम में, जीवन और शरीर के संयुक्त रूप में ही, जीवों और मानव का वर्तमान होना स्पष्ट है। जीवन और शरीर के संयुक्त रूप में रहते मानव ही सभी प्रकार से आंकलन करेगा। इस आंकलन क्रम में जीवों के शरीर में जब समृद्ध मेधस की रचना होती है (या हो जाती है) उस स्थिति में ऐसे शरीर को जीवन संचालित करता है। ऐसे शरीर में ही सप्त धातुओं के क्रियाकलाप, एक दूसरे के तालमेल के सहित संपन्न हुआ देखने को मिलता है। सप्त धातुएँ है- 1. रस, 2. मांस, 3. मज्जा, 4. रक्त,

5. स्नायु, 6. हड्डी और 7. वसा। इन धातुओं के रचना क्रम में एक दूसरे की तालमेल वाली संयोजना भी देखने को मिलती हैं। मूत्र तंत्र, गर्भ तंत्र, मल तंत्र, पाचन तंत्र, रस तंत्र, रक्त तंत्र, हृदय तंत्र, फुफ्फुस तंत्र, मेधस तंत्र, ये सब नाड़ियों, नसों, स्रोतसों, पेशियों से गुंथा हुआ दिखाई पड़ता है। इसी से पूरा शरीर तंत्र स्पष्ट होता है। इसमें जीवंतता सबसे पहली शर्त है। जीवंतता सहित ही जीव शरीर और मानव शरीर का संचालन जीवन से हो पाता है।

मानव शरीर अथवा जीव शरीर के साथ जीवन काम करने के लिए पहली शर्त समृद्ध मेधस का रहना बताया जा चुका है। और कौन सा ऐसा पहचानने का बिंदु है जहाँ से जीवन और शरीर का संयोग होना संभव हो जाता है। इसमें इसे भी एक ध्रुव बिंदु के रूप में परवर्ती (शरीर में मेधस तंत्र द्वारा जीवन के संकेतों को ग्रहण करने और जीवन संकेत भेजने का) कार्य संपादित होते रहती है। ऐसे सभी शरीर जीवन संयोग से चलने फिरने योग्य हो पाते है। जिन शरीरों में जीवन के संयोग से ही पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ कार्य कर पाती है, ऐसे शरीर में समृद्ध मेधस का होना पहचाना जा सकता है। इसके अलावा बाकी सभी प्रकार की रचनाएँ स्वेदज होना स्पष्ट है।

इससे यह पता चला कि प्रत्येक ऐसा शरीर जिसमें समृद्ध मेधस की रचना हो चुकी है और विभिन्न रस संयोग विधि से ही रक्त के रूप में परिवर्तित होता है, ऐसा तंत्र शरीर में रचित हो चुका है। ऐसे शरीर में ही मांस-मज्जा आदि वस्तुएँ देखने में आता है। ऐसे ही शरीर को जीवन संचालित कर जीने की आशा को जीव शरीरों में ही प्रमाणित करता है, जबकि मानव शरीर में आशा, विचार, इच्छा, संकल्प और प्रामाणिकता को प्रमाणित करता है, इसीलिए जीवन की अभिव्यक्ति के लिए हर जीव परंपरा में उन-उन शरीरों का होना एक सहज प्रक्रिया है। इसमें बल पूर्वक हस्तक्षेप कर, दुर्बल को सबल भक्षण करें, यही मांसाहार का तात्पर्य हुआ, जो विनियोजन के प्रकाश में स्वीकार्य नहीं है। शरीर का बल, तकनीकी संपन्न यांत्रिकी की रोशनी में, कैसा बौना हो जाता है, इस बात का स्पष्टीकरण जिसने पहली बार बंदूक से सिंह जैसे क्रूर जानवरों को मार गिराया था उसी दिन पता चल चुका था। आज के और भी अत्याधुनिक, मार्मिक, अत्यधिक मारक प्रभाव अर्थात् मारने वाले प्रभाव को रखने वाले बहुत सारे उपायों को मानव ने पा लिया है। इसमें किरण, विकिरण प्रणालियों को भी उपयोग करने की जगह में, समुन्नत तकनीकी द्वारा मानव लैस हो चुका है। इस प्रकार शरीर बल प्रभावशाली न रहकर, तकनीकी बल सर्वाधिक प्रभावशाली हो गया है। उल्लेखनीय तथ्य यही है कि जीवन ही तकनीकी का उद्‌गाता है। अस्तु, मानव अब ठंडे दिमाग से सोचने के लिए बाध्य हो गया है।

यह बहुत आसान हो गया है कि मानव जीवन को पहचान सकता है । जीवन विद्या इसके लिए है। जीवन सहज समानता को प्रत्येक मानव में समझा जा सकता है। इसके लिए अध्ययन सहज विकल्प, "परमाणु में विकास और जीवन ज्ञान" है। इन दोनों ऐश्वर्य से संपन्न होने के उपरान्त ईश्वर, देवता आत्मा जैसे रहस्यों से मुक्ति पाने का क्रम अस्तित्व दर्शन से बनता है और स्पष्ट होता है कि मानव ही विकसित और जागृत होकर देवी-देवताओं के पद में हो जाते हैं। ये सब अस्तित्व सहज अभिव्यक्ति क्रम में हैं। इसलिए मानव का इसको जागृति क्रम अथवा जागृति पूर्वक स्वीकारना सहज है। मानव कुल जागृत है इस बात का प्रमाण अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था ही है। इसमें भागीदारी के लिए जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान, मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान सहज परंपरा ही एक मात्र विकल्प है। इस नजरिए से किसी जीवन के अधिकारों को, स्वत्व को, स्वतंत्रता को हनन करना अव्यवस्था का द्योतक होता है। इसलिए जानवरों और मानवों का वध अव्यवस्था का द्योतक सिद्ध हुआ है। नियम-नियंत्रण-संतुलन, न्याय-धर्म-सत्य सहज विधि पूर्वक जीना ही सार्वभौमता और अखण्डता सूत्र है।

किसी जीव का वध किये बिना अथवा हत्या किए बिना, मांसाहार संभव नहीं है। जीवन की उपस्थिति भले मूर्छित अवस्था में क्यों न हो, रक्त संचार होना पाया जाता है। जीवन जब शरीर को छोड़ देता है तब रक्त संचार बंद होना शुरु हो जाता है। इस कार्य को हर एक वध कार्य में परीक्षण किया जा सकता है । रक्त संचार क्रम में ही मांस का संरक्षण बना रहता है। रक्त संचार के लिए रक्त परिवर्ती क्रिया भी एक अनिवार्य तंत्र है। यह रस से रक्त में, मलिन रक्त, शुद्ध रक्त में परिवर्तित होता हुआ देखने को मिलता है । ये तंत्रणा शरीर रचना और जीवन के संयोग में जीवन के संचालन क्रम में संतुलित रह पाता है। इससे हम इस निर्णय पर आ सकते है कि जीवनोपयोगी शरीर में ही मांस की संप्राप्ति सटीक होनी देखी जाती है। किसी जीव के दुर्बल रहते, सबल द्वारा उसको बलपूर्वक भक्षण कर लेना ही मांसाहार का स्पष्ट स्वरुप है।

कुछ लोग ऐसा भी तर्क प्रस्तुत करते है मरने के बाद स्वाभाविक रूप से शरीर की गति तो धरती में, मिट्टी में मिलना ही है। उसको खाने में क्या तकलीफ है, ऐसा आराम से पूछते हैं। इसका उत्तर अस्तित्व सहज रूप में इस प्रकार से देखा जाता है कि मानव कायिक, वाचिक, मानसिक रूप में कर्म करता है। इन सबको पुन: तीन-तीन प्रकार से क्रियान्वयन करता है या क्रियान्वयन करने के लिए संभावना बनी रहती हैं। यह इस प्रकार है कि -

- किया हुआ, कराया हुआ, करने के लिए सहमति दिया हुआ हो।
- सोचा गया, सोचवाया गया और सोचने के लिए सहमति दिया गया।
- बोला गया, बोलवाया गया और बोलने के लिए सहमति दिया गया।

इस प्रकार इन नौ (9) प्रकारों से क्रिया-क्रम करते हुए मनुष्य का परीक्षण, निरीक्षण, सर्वेक्षण किया जा सकता है। इस विधि से जीवों के मांसाहार के लिए जो हत्या या वध करते है, वे अलग दिखते हैं। वे अपनी आजीविका के लिए यह कर्म करते हुए अपने को पाते है । यह क्रम से मांस विक्रय और क्रय विधि से भक्षण करने वालों तक पहुँचता है। भक्षण करने वाला भी अपनी सहमति को, वध करने की क्रिया के पक्ष में देता है। उस वध की भी सहमति और उसके प्रमाण रूप में ही मांस को खरीद पाता है। इस प्रकार से प्रत्येक मांसाहारी मानव जीवों के वध और हत्या कार्य के साथ सहमति रखता ही है। इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो जाती है कि चाहे वह मांसाहार करें, चाहे शाकाहार, उनका संपादन, उत्पादन और विनिमय कार्यों में प्रत्येक व्यक्ति उन-उन अर्थात् मांसाहार या शाकाहार के साथ सहमत रहता ही है। अस्तु, मांसाहार दुर्बल को सबल द्वारा बलपूर्वक भक्षण करने की प्रक्रिया है।

दुर्बलता सबलता की परीक्षण करने के लिए (1) शरीर और जीवन की सम्मिलित उपस्थिति का रहना एक अनिवार्य स्थिति हैं। इसको प्रत्येक परिस्थिति में परीक्षण किया जा सकता है। जैसे- मानव और बाघ, मानव और बिल्ली, मानव और कुत्ता। इस प्रकार जीवों के साथ मानव को तौला जा सकता है । दूसरी विधि से- बाघ और सूअर, बाघ और भालू, बाघ और बकरी, बाघ और गाय संयोग प्रणालियों से अध्ययन होता है। इन सबमें यही निकलता है कि दुर्बल को सबल द्वारा, बल पूर्वक भक्षण कर लेना ही हिंसा है। (2) इसी क्रम में मानव और घास, मानव और पत्ता आदि संयोगों को देखें। इनमें झाड़-पौधे के साथ जीवन बल नहीं रहता है तथा जीवों व मानवों के शरीर की पुष्टि के लिए आवश्यक तत्व रहता है।

(1) "मानव संचेतना सहज आहार का प्रतिपादन" "आहार जीवन सहज प्रक्रिया (आशा, आकाँक्षा) के आधार पर पहचानने की वस्तु है" :-

जीव शरीर और मानव शरीर के लिए पोषक, संरक्षक तत्व वनस्पतियों में है जिसको जीवन ही देखता है। इनका उपयोग जीव और मानव न भी करें, वह सब धरती के लिए पूरक होना स्पष्ट किया जा चुका है। जीव एवं मानव इसका उपयोग कर शरीर पोषण, संरक्षण करने के बावजूद भी धरती के लिए इनके मल, मूत्र द्वारा पूरकता उतनी ही प्रमाणित होती है। इस प्रकार संतुलन पूर्वक, आवर्तनशील विधि से, जीव और मानव शरीर का पोषण और संरक्षण के लिए समुचित मात्रा और गुण रूप में वनस्पति नैसर्गिक रूप में प्राप्त है। इसको जानना, मानना, पहचानना, निर्वाह करना मानव के लिए प्रमुख आवश्यकता है। जिसकी पूर्ति समाधानात्मक भौतिकवाद से बोधगम्य हो जाती है।

(2) "मानव संचेतना सहज आहार पद्धतिपूर्वक जीने की कला" :-

उक्त तथ्यों को उपयोगी, सदुपयोगी, प्रयोजनशील बनाने के क्रम में केवल मानव ही अपनी कल्पनाशीलता, कर्म-स्वतंत्रता, विचारशीलता और जागृति पूर्वक अखण्ड समाज उसकी निरंतरता, सार्वभौम व्यवस्था उसकी अक्षुण्णता को ध्यान में रखते हुए इस धरती पर जीने की कला को प्रगट कर पाना आवश्यकता है। इस पर विचार सहित पद्धति, प्रणाली, नीतियों का अध्ययन संभव हो गया है। इसे सहज सर्व सुलभ बना देना ही अपना संकल्प है।

(3) विभिन्न आहार पेय पद्धति :-

मानव इतिहास में, समुदायों का अध्ययन करने पर आहार मानसिकता के साथ पेय मानसिकता भी मुद्दा रहा है। इसको क्यूं ना कहें कि मांसाहार-मद्यपान, शाकाहार-दुग्धपान है। आहार और पेय का नजदीक का संबंध रहा है। मानव के आहार, खान पान के साधन पर ही, देवी-देवताओं को समर्पित वस्तुओं से तृप्त होने की बात सोचे थे। इस क्रम में देवी-देवताओं के प्रसन्न होने की बात को स्वीकारा जाता है, उसी प्रकार रुष्ट होना भी स्वीकारा जाता है। इन्हीं दो विधियों से देवी-देवताओं की महिमा को गाया जाता है। यह आज भी प्रचलित है। इसका तात्पर्य है कि जो आदर्शवादी गतिविधियों में अपनी आजीविका को वैध मानते है वह सब इसी प्रकार की महिमा को बताया करते हैं।

(4) संग्रह विश्वासघात पूर्वक :-

जो आदमी आदर्शवादी गतिविधियों को नकार दिया है, वह युक्तियों सहित ताकत के प्रयोग से संचय होना मानते हैं। कुछ लोगों का यह भी मानना है कि छल, कपट, दंभ, पाखंड सहित शोषण करने में जो जितना अत्याधुनिक होता है, वह ज्यादा से ज्यादा, संचय करने में सफल होता है। इसका उदाहरण आज की स्थिति में देखा भी जाता है कि सफल राजनेता वही कहलाता है जो संसार को "कड़ी मेहनत-ईमानदारी का पाठ" पढ़ाते है, अपने धन संचय को विदेशों में, सुरक्षित स्थानों पर छुपा कर रखते हैं। दूसरा, शनै:शनै: यह भी देखने को मिल रहा है कि क्रमश: इनकी संख्या बढ़ रही है कि संसार को त्याग और वैराग्य का पाठ पढ़ाओ और अपने धन संचय राशि को राष्ट्रीयकृत बैकों में सुरक्षित कर रखो। यह प्रधानत: धर्म नेताओं में देखने को मिल रहा है। व्यपारी और उद्योगपति, अधिकारी, कर्मचारी ये सब धन संचय करते ही है और करने के इच्छुक रहते ही हैं। किसी कारणवश, इनमें से किसी को धन संचय न होने की स्थिति में अफसोस मानते हैं। इस प्रकार ये सब चीजें देखने के उपरान्त यही निष्कर्ष के लिए आंकलन बना कि विश्वासघात

रुपी छल, कपट, दंभ, पाखंड पूर्वक किया गया शोषण सर्वाधिक संग्रह का तथा धन संचय का उत्तम माध्यम बना।

(5) संचय प्रेरणा और विफलता :-

संचय सदा ही द्रोह और शोषण विधि से संपन्न होता है। सामान्य जनमानस के लिए राज नेता और धर्म नेता, उद्योगपति और व्यापारी आदर्श रूप में होना पाया जाता है। ये सब अर्थात् उक्त कहें चारों तबके के लोग जब संग्रह कार्य में लग चुके है, तब सामान्य व्यक्ति में भी संग्रह का उद्देश्य और प्रयास स्वाभाविक रूप में होना पाया जाता है। इस प्रकार सभी व्यक्ति जब संचय के लिए प्रयत्न करते है, तब संचय का स्रोत कैसे पूरा हो पाएगा। संचय कहाँ तक हो, वह भी कहीं निश्चित तृप्ति बिंदु के रूप में अभी तक नहीं हैं। इससे यह संभावना भी स्पष्ट हो गई कि संचय का अथवा उसकी मात्रा का कोई अंतिम बिंदु नहीं है।

(6) संचय किसका, कैसे? कृत्रिम अभाव, मूल्य वृद्धि-वस्तु की आवश्यकता का प्रतिपादन :-

यह धरती ही संपूर्ण वस्तु का स्रोत है। यह धरती बनी रहे तभी मानव रह पायेगा। धरती में संचय जो कुछ भी है, वह खनिज और वनस्पति है तथा जो कुछ भी आहार वस्तुओं के रूप में पैदा किये जाते है, सभी रासायनिक द्रव्य हैं। यही कुल मिलाकर संचय का आधार है। इन वस्तुओं का गोदामों में भण्डारण किया जाता है। कोषों में इन वस्तुओं को जमा नहीं किया जा सकता। इनकी प्रतीक मुद्रा है यह मान्यता प्राप्त है। ऐसी प्रतीक मुद्राओं को कोई भी मानव कोषों में सुरिक्षत कर सकता है। अंततोगत्वा ऊपर कहे गए तरीके से मुद्रा को जब कभी भी आदमी भोगेगा वस्तु में परिणित करके ही भोगेगा। वस्तुएँ (खनिज, वनस्पतियाँ) कम होती जा रही है। एक दिन सर्वाधिक कम होने के बाद वही वस्तुएँ बहुमूल्य हो जावेंगी, यह स्वाभाविक है। मानव के भोगोन्माद के अनुसार, कोई भी वस्तु जब कम हो जाती है, उसके लिए आदमी की आवश्यकता का पलड़ा भारी हो जाता है। फलस्वरुप किसी भी कीमत में, उसको पाना चाहेगा। अधिकांश व्यक्ति इसी प्रकार के प्रपंच में फँसते हुए देखने को मिलते हैं। जैसे कभी खनिज तेल (पेट्रोल, डीजल) के अभाव की घोषणा मात्र से ही खनिज तेल के ग्राहक बढ़ जाते हैं। इसी प्रकार शक्कर के अभाव की घोषणा अर्थात् प्रचार मात्र से ही उसकी ग्राहक संख्या और उसकी आवश्यकता की तादाद बढ़ते हुए देखने को मिलती हैं। इस प्रकार कृत्रिम अभाव को तैयार करने मात्र से ही बहुत सारा लाभ पैदा करने की सवैध विधि को संविधानों ने स्वीकारा है। यह व्यापार तंत्रों में प्रचलित हैं। इस ढंग से वस्तु की कमी के आधार पर प्रतीक मूल्य बढ़ने की संभावना रखी है जबकि वस्तु से ही मानव को राहत मिलना है।

(7) व्यवस्था के लिए उन्माद अनावश्यक, मद्यपान के लिए कल्पित आधार तर्क की निरर्थकता:-

उन्मादों में से एक लाभोन्माद है, यह निश्चित हो चुका है - ऐसा माना जा रहा है। सभ्यता और शिष्टता को बनाये रखने के क्रम में, किसी प्रकार का उन्माद सहायक नहीं हो पाता। मूलत: व्यवस्था के लिए उन्माद, उपयोगी नहीं हैं। इन उन्मादों के क्रम में ही सुरापान भी एक है अथवा अधिक उन्मादित होने का उपाय है। उन्माद को आदमी मानता तो नहीं किंतु उन्मादित होने का प्रयास सदा सदा ही मानव करता ही आया है। मुख्यत: मद्यपान के संबंध में, पक्ष-विपक्ष में चर्चाएँ मानव करते ही आया है। आचरण में अधिकांश लोगों में ऐसी आदतें देखने को मिलती हैं। शराब पीने वाले आदमी में से अधिकांश लोग, जो शराब नहीं पीते उनसे विकसित सभ्यता मान लेते हैं। यह भी सुनने को मिलता है कि जो शराब नहीं पीते वे पिछड़े हुए विचार के हैं। ये आगे-पीछे विचार वाली बात, एक ऐसी स्थिति है कि बीच में कोई आधार न होने के कारण, आगे वाले को पीछे वाले को, पहचाना नहीं जा सका है। फिर भी आज की स्थिति में बहुत सारी जिंदगी महंगी शराब, चमकती हुई गाड़ी, विभिन्न प्रकार के नाच-गाने में अपने को लगाये रखते है और चमकता हुआ घर, कपड़ा इन्हीं को बेहतरीन जिंदगी कह लेते हैं। जबकि इनमें कोई बेहतरीन वस्तु रहती नहीं छुपी हुई अपराध का प्रदर्शन है। क्योंकि बेहतरीन पैमाने को पाने के लिए तीन स्रोत:-

1. अखण्ड समाज में भागीदारी,
2. सार्वभौम व्यवस्था में भागीदारी,
3. मानवीयता पूर्ण आचरण में, पहचाना जा सकता है।

न कि प्रचलित कामोन्माद, लाभोन्माद एवं भोगोन्माद के आधार पर बेहतरीन जिंदगी को आदमी में देखा जा सकता है। अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था अभी तक प्रस्तावित, स्थापित नहीं हुई है, जिसमें मूल रूप में परम दर्शन, ज्ञान और आचरण प्रमाणित हो सके। व्यक्तियों के स्तर पर (इसलिए) इस बात को चर्चा में लाना संभव हुआ कि कितने भी हमारे समुदायों में लोग विविध प्रकार से भ्रमित हुए है, उन सबके निराकरण विधियों के क्रम में उन्माद और उनके सहायक और उनको तेज बनाने वाले कार्य के रूप में नशाखोरी है। इनमें से कुछ लोग कहते है, हमारा पैसा है, हम पीते है, तुमको क्या दर्द है। लोग कुछ ऐसा भी पूछते है, एक आदमी शराब पिया है, शान्त बैठा है, एक आदमी शराब नहीं पिया है वह भी शान्त बैठा है। इन दोनों में क्या अंतर है? पहले वाला जो अपने पैसे से शराब पीना कहता है, वह जो बात है, रेल में, मोटर में, घर में, शराब पीने के बाद जिस तिस से संभावित व्यर्थ विलाप करता है। उन शराबी के साथ वार्तालाप करना, एक निरर्थकता अथवा कटुता का जन्म होता है। जो सिगरेट, बीड़ी, गांजा, शराब आदि बदबूदार नशे से नशा किया हुआ व्यक्ति भी नशे की हालत में भी नशे के लिए अस्वीकृति उसमें रहती ही

हैं। इसके बावजूद कुछ परिवार अपने पैसे से बीड़ी पिये है, शराब पिये है आदि का पक्षधर होना भी पाया गया है। इसका अध्ययन करने पर पता चलता है कि जो नशा करने वाले के आर्थिक अनुग्रह पर जीता हुआ परिवार है, उनमें से कुछ लोग इस प्रकार की वकालत करते हैं।

(8) समस्त तर्कों का उद्देश्य-व्यवस्था। नशाखोरी, व्यवस्था में सहायक नहीं है :-

इसमें मुख्य मुद्दा यह है कि इसमें बहुत सारा वार्तालाप हो सकता है। सारे वार्तालाप का उद्देश्य व्यवस्था एवं व्यवस्था में भागीदारी, मानवीयता पूर्ण आचरण है, यह निश्चित है। जो व्यवस्था में जीता है, ऐसे व्यक्ति में संतुलन सहज स्वाभाविकता बना ही रहता है। प्रकारान्तर से, कोई भी नशा करने के बाद असंतुलित होता ही है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मानव के लिए नशाखोरी, व्यवस्था में सहायक नहीं है। नशा उन्मादों को बढ़ाता है, घटाता नहीं है और प्रत्येक उन्माद अव्यवस्था है। नशा स्वयं उन्माद है।

(9) आसव की दो विधियाँ: शराब का जो आसवन व आसवीकरण है, इससे कार्य-व्यवहार प्रभावित होता है- यह (नशा) व्यवस्था सम्मत नहीं है :-

आदमी नशा करके शांत बैठा है इसमें क्या अतंर है? इसका सटीक विश्लेषण करने के लिए आज की स्थिति बड़ी अनुकूल है। दूध और शराब को, उनमें समाहित वस्तुओं के आधार पर स्पष्ट होता है। मद्य, एक किसी मीठा वस्तु को सड़ाने के उपरान्त आसवन क्रिया से प्राप्त वस्तु है। आसव निर्माण की दूसरी विधि में किसी भी मीठी वस्तु को इसको अपने में, से, के लिए आसव के लिए बाध्य किये जाने पर उसमें मूल द्रव्य को पूर्णतया विकृत होने से बचाने के लिए अनुपाती विधि से, मद्य स्वयं से तैयार कर लेता है। मूल द्रव्य मद्य से संरक्षित रहता है। अत: यह औषधि के लिए उपयुक्त है।

पहली विधि से प्राप्त मद्य स्वाभाविक रूप में उन्माद को बढ़ाता है। इसलिए यह व्यवस्था में भागीदारी होने में अड़चन पैदा करता है, यह स्पष्ट है। शांत बैठे रहने का तात्पर्य, कुछ न करते हुए बनता है, कुछ न बोलते हुए भी बनता है, इसलिए शराब पिया हुआ व्यक्ति विचारशील नहीं हो ऐसा नहीं है। विचारशील रहता ही है, इसलिए विचारों में नशा का, शराब का असर रहता है। जब-जब कोई कार्य होगा, तब तब उसका प्रमाण होता ही है। अस्तु, व्यवस्था में भागीदारी पूर्वक, मानवीयता पूर्ण आचरण को व्यक्त करने के लिए सभी प्रकार का नशा बाधक है। कोई भी नशा इसमें सहायक नहीं है।

(10) दूध क्या है? जीवंत शरीर में निष्पन्न ममता सम्मत प्रेरित रस है :-

अब दूध के स्वरुप को देखें। जो शुद्धत: वनस्पतियों को सेवन करते है, अनाज का सेवन करते है, उनके शरीर में जो रस बनता है, वह ममता सम्मत विधि से निष्पन्न होने पर अर्थात् बहिर्गत होने से दूध कहलाता है। दूध के लिए ममता और प्यार समाया रहना अति आवश्यक रहता ही है, अन्यथा दूध होता ही नहीं। यह प्रक्रिया इस प्रकार से चिन्हित रूप से शरीर गत रस ही है। विविध प्रकार से रसों का बर्हिगत होना पाया जाता है। उनमें से एक विधि दूध है। शरीर की आवश्यकता से अधिक रस दूध बनकर या मूत्र बनकर चले जाय या खून बने शरीर के लिए उपयोगी हो। यही सब शरीर तंत्र में बनी हुई व्यवस्था है। गाय जैसे अन्य पशुओं से जिनमें दूध लेना है, उससे (गाय) निश्चित आयु के पश्चात् दूध की अपेक्षा स्वाभाविक होती है। उसमें जो प्रक्रिया होना है, वह सब आरंभ होकर दूध देने योग्य गाय हो जाती है। इसमें यह भी देखा गया है कि दूध न निकले तो बहुत बड़ी गाय- जैसे चार फुट वाली आठ फुट की हो गई हो, या पाँच फुट वाली दस फुटवाली हो गई हो; दो क्विन्टल वाली गाय पचास क्विंटल की हो गई हो; ऐसा कुछ होता नहीं । जैसे मानव में मल मूत्र सब बंद कर देने से इनका वजन बढ़ जाता हो, मोटाई बढ़ जाती हो, ऊँचाई बढ़ जाती हो, ऐसा कुछ नहीं है। मानव में कल्पनाशीलता है, इसलिए उसे दौड़ाता है। अंततोगत्वा यथार्थ को स्वीकार करना पड़ता है और आदमी स्वीकारता है। यह जागृति का क्रम भी है। मुख्य बात दूध में और मद्य में फर्क यही है कि मीठी वस्तु विकृत होकर मद्य बन जाता है और दूध जीवन सहज स्नेह, प्यार, ममता से प्रेरित रस निष्पत्ति है। दोनों में फर्क मानव को समझ में आने वाले मुद्दा यही है।

(11) "मांसाहार, भ्रूण विहीन अंडा भक्षण, जागृत मानव सहज नहीं है" :-

मांसाहार, शाकाहार का स्पष्ट रूप से विश्लेषण पहले हो चुका है। शाकाहार मूलत: वनस्पतियों से प्राप्त वस्तु है। मांसाहार, जीव शरीर अथवा मानव शरीर से प्राप्त वस्तु है। मांस का स्रोत अण्डज-पिण्डज परंपरा ही है। शाकाहार का दृष्ट स्रोत बीज-वृक्ष परंपरा सहज है। मांसाहार के क्रम में, कुछ और भी बातें जोड़ लेते है वह है मुर्गीपालन, मुर्गी का अंडा। इन अंडों में मुर्गी पैदा होने वाला, न होने वाला - दो प्रकार के हैं। इस में तर्क यह है कि अंडे से मुर्गी पैदा होती नहीं है, इसलिए यह मांसाहार में शामिल नहीं है। इस बात को ध्यान में लाना इसलिए आवश्यक है कि जो पहले से ही स्पष्ट है कि मांसाहार, शाकाहार इनके बीच की सभी प्रकार की वस्तुएँ विकृत अथवा स्वेदज विधि में आती हैं। भ्रूण विहीन अंडे के संबंध में जो बात सोची जाती है कि भ्रूण विहीन अंडे को पैदा करने में सफल हुए है परन्तु ये सब स्वेदज प्रजाति की गणना में आते हैं। पहले भी इस बात का जिक्र कर चुके है पशुओं के मरने के बाद खाने में क्या गलती है -इस प्रकार मांसाहार में मौन सहमति है। जो मरे हुए अंडे को खाते है। यह मरा हुआ इसलिए है कि इसमें भ्रूण नहीं हैं।

3) मानव की मौलिकता

मानव वंशानुषंगीय विधि से नियंत्रित नहीं होता जबकि सभी जीव होते है, मानव अपनी मौलिकता को स्वयं पहचानते हुए अपने आचरण, विचार, व्यवहार, व्यवस्था को अक्षुण्ण बनाए रखना चाहता है। यह हर मानव सहज मौलिकता की महिमा और गरिमा है। मानव जागृति पूर्वक दृष्टा पद प्रतिष्ठा में है, इसलिए अपनी मौलिकता को पहचानना एक आवश्यकता हो गई है। मानवेत्तर जीवों में वंशानुषंगीय विधि से जीवन सम्मति के साथ नियंत्रित रहना, संतुलित रहना देखा जा रहा है। जबकि मानव ने अपने ही इतिहास के अनुसार वंशानुषंगीय विधि से नियंत्रित होना स्वीकारा ही नहीं। पहले इस तथ्य पर ध्यान दिया जा चुका है कि मानव अपने इतिहास के अनुसार बहुआयामी है। इसको मानव में ही घटित होना देखा गया और किसी जीव में इस प्रकार की घटना नहीं हुई। इस क्रम को देखने पर पता चलता है कि मानव का बहुआयामी इतिहास का आधार होना स्वयं वंशानुषंगीयता को नकारने की ही गवाही है। यह भी मानव परंपरा की एक मौलिकता हैं। मानव परंपरा भी मौलिक है।

मानव शरीर का अवतरण, अवतरण क्रम, कारण, जीव शरीर अवतरण क्रम :-

आदि मानव अपने अभिव्यक्ति क्रम में, किसी भी जीव, जानवर के गर्भाशय से भले ही पैदा हुआ हो, मानव की अभिव्यक्ति समझदारी के आधार पर प्रमाणित करने के क्रम में स्पष्ट है। इसके मूल में जाने पर पता चलता है कि जो रचना सूत्र विधि सहज भ्रूण है- मूल रूप में कार्यरत रहते है, वह किसी भी वंश के पूर्ववत् भी सृजित रहते हैं। जब कभी भी वंश बदलना है या समोन्नत होना है, उस स्थिति में पूर्व रचना सूत्र से, भिन्न रचना सूत्र बनता है। इसका मूल वंशानुषंगीयता को निर्वाह करता हुआ शरीर रचना के रूप में विभिन्न प्रकार के शरीर मानव के अवतरण के पहले से ही तैयार हो चुके रहे है।

मानव शरीर रचना का आरंभिक स्वरुप किसी जीव योनि से माना जाना संभव है। ऐसा होते हुए भी, उस वंश का, अर्थात् इसके पीछे के वंश का कोई स्वीकृति मानव परंपरा में शुरुआत से ही नहीं हो पाई। यह घटना केवल मानव के आने के बाद ही शुरु हुई ऐसी बात भी नहीं है। इसके पहले भी कई बार जीवों की शरीर रचना बदली है। यह आज भी गवाही के रूप में देखने को मिल रहा है। यह अनुमान किया जा सकता है कि अभी जितनी प्रजातियों के रूप में जीव संसार दिखाई पड़ रहा है, यह सब एक ही साथ नहीं जन्मा है। क्योंकि अब हमें अच्छी तरह से पता लग चुका है कि जीव शरीर रचना में परिवर्तन होने के लिए, जीव शरीर रचना सूत्र में ही पहले से स्थित अनुकूल भ्रूण संवर्धन आशय (गर्भाशय या गर्भ जैसी परिस्थिति)

में पलना आवश्यक रहता ही है। यदि पूछा जाय कि यह क्यों बदलता है? तो इसका उत्तर है- "सामन्जस्य रूप में।" ऐसे सामन्जस्य का आधार रचना क्रम में, जीवन जागृति क्रम में, मानव शरीर रचना के उपरान्त ही प्रमाणित होना पाया जाता है।

जीवन जागृति एक नियति क्रम सहज प्रणाली है, क्योंकि अस्तित्व स्वयं चारों अवस्थाओं के रूप में प्रधानत: जागृत मानव परंपरा सहित व्यक्त है। यही इसका स्वाभाविक स्वरुप है। सह-अस्तिव का स्वरुप भी यही है। सत्ता में संपृक्त प्रकृति के परिपूर्ण वैभव को देखा जाय, समझा जाय, तभी भी इतने ही स्वरुप दिखाई पड़ते हैं। अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिंतन विधि से सोचने पर स्पष्ट होता है कि-

1. विकास क्रमिक है।
2. विकास, जीवन पद में संक्रमण है।
3. विकास क्रम में भौतिक-रासायनिक वैभव एक मंजिल है।
4. अस्तित्व स्वयं सहअस्तित्व है, इस आधार पर जीवन और शरीर में सहअस्तित्व संबंध वर्तमान रहता ही है।

इस आधार पर जीवन अपने जागृति क्रम विधि से प्रकाशित होता है। शरीर में जितनी भी अतृप्ति का प्रकाशन रहता है, ऐसी घटना ही रचना सूत्र में अर्थात् शरीर रचना सूत्र में भी परिवर्तन के लिए एक आधार बनता हैं। उसके साथ-साथ रचना सूत्र और विधि में परिवर्तन की स्व-स्फूर्त प्रक्रिया भी रहती है। इन दोनों के योगफल में वंशानुषंगीयता की स्थिरता न होकर, अस्थिरता को व्यक्त करने के रूप में परंपरा की प्रगति सहज, विविध शरीर तैयार होते आए। पुन: उसकी परंपरा बनती गई। परंपरा के रूप में वंश निरंतर है ही। जीवन उन सभी शरीरों में, जीने की आशा को व्यक्त करते आया। अंततोगत्वा मानव शरीर जैसे ही अवतरित हुआ, उसके साथ ही वंशानुषंगीय अभिव्यक्ति को नकार लिया, बहुआयामी अभिव्यक्ति को स्वीकार किया। इस मानव शरीर के अवतरण के पहले प्रत्येक प्रजाति की वंशाषुगीयता को जीवन स्वीकारते रहा अथवा स्वीकार करना पड़ता रहा। ऐसी स्थिति में उन शरीरों को चलाने वाले जीवनों के साथ घटती रही, चलाते रहे अथवा सम्मोहित होते रहे है। इस प्रकार से वंशों की प्रजातियाँ बदलने और बदलने का उद्देश्य दोनों स्पष्ट हो जाता है।

भ्रम परंपरा में, साधना विधि में, सिद्धों की पहचान में, सिद्ध स्थलों की पहचान में :-

मानव शरीर को चलाते हुए, जागृति पूर्वक चलाने में अधिकांश लोगों को जो विपदा है, वह परंपरा की देन के रूप में ही विश्लेषित होती है। जीवन जागृति पूर्वक भ्रम मुक्त होना भी किसी बिरले मानव में प्रमाणित

होता है और हुआ है। परंपराओं के अनुसार विविधता की पंचायत, उसमें से निश्चित पद्धति, जिसमें जीवन जागृत हो सकता है, उन सभी पद्धतियों में सर्वाधिक अनिश्चयता बनी रहती है। इसके बावजूद बहुत सारे मेधावी अपने को साधना क्रम में अर्पित करते हैं। इसमें मूलत: ऐसी अनिश्चयता, अस्पष्टता रहते हुए भी, साधना में अर्पित रहने का मूल कारण मूलत: मानव गलत है और परंपरा ठीक है- इसी आस्था के साथ मानव अर्पित होता है। इसे साधना, अभ्यास, सत्य की खोज आदि नाम दिया जाता है। हजारों मेधावी सदा ही इसमें अर्पित होते रहते है, यह भी देखने को मिल रहा है। इसमें यदि परंपरा ठीक होती तो हर व्यक्ति को सत्य, आत्मा, ईश्वर, कल्याण के नाम पर जो कुछ बताना चाह रहे है, वह सब एक उद्देश्य के रूप में रहता हुआ देखने को मिल रहा है यह अध्ययन की कसौटी में सही नहीं उतरा। इसलिए मानव; तर्क संगत विधि न होने से तृप्त नहीं हुआ और मान्यताओं, उपदेशों पर आधारित विधि में, स्वयं को अर्पित कर देता है। अभी तक जितने लोग अर्पित हुए उन सबके परिवारों की, न्याय और व्यवसाय रुपी जिम्मेदारियाँ क्षतिग्रस्त हुई हैं। इसके बावजूद आज भी सत्य और सत्यता के प्रति आदमी अपने को अर्पित मानता है। इसमें सफल मान लेने के बाद भी उसकी कोई रूप रेखा, प्रमाण के रूप में अध्ययन विधि सम्मुख नहीं हो पाती है।

इस बीच जिसको सामान्य जनमानस मान लेता है कि ये सफल हो गए है, ऐसी लोक मान्यता के आधार पर पहचानते हैं। इस स्थिति में ऐसा साधक "सिद्ध हो गया हूँ"- ऐसा मान भी लेता है क्योंकि लोग मान रहे हैं। इसी स्थिति को लोक मानस में ऐसा मानना पाया गया कि ऐसा सिद्ध पुरुष जो कहता है, चाहे श्राप हो, चाहे अनुग्रह हो, वह साकार हो जाएगा। ऐसा भय और प्रलोभन के मारे यह मान्यता सर्वाधिक मनोकामनाओं की सीमा और विवशता में बन पाई हैं। वे घटनाएँ उनके कहे अनुसार घटित होने के आधार पर उस व्यक्ति को सिद्ध पुरुष मानकर लोगों ने उन पर आस्था की है, विश्वास किया है। ऐसे कई स्थल बन चुके है जहाँ बहुत सारा धन एकत्रित हो चुका है। ऐसा धन संग्रह सार्वजनिक उपयोग में आता हुआ दिखने पर, उसको ठीक मानते हैं। इसके विपरीत होने पर गलत मान लेते है- यह भी देखने को मिला है। इस प्रकार सभी विधियों से देखने के उपरान्त:-

1. प्रलोभनों के सफल होने की चिन्हित स्थली में ज्यादा भीड़ इकट्ठा होना।
2. किसी संस्था के आश्वासनों के आधार पर भी भीड़ इकट्ठा होना। मान्य आश्वासनों की पूर्ति के लिए जहाँ-जहाँ आश्वासन मिलता है वहाँ-वहाँ ज्यादा से ज्यादा भीड़ इकट्ठा हो जाती है।

विकल्पः-

मध्यस्थ दर्शन (सहअस्तित्ववाद) इसके द्वारा सत्य सर्व सुलभ, अध्ययनगम्य, व्यवहार प्रमाण के रूप में, परंपरा सहज रूप में समीचीन संयोग हो पाया है। मुख्य मुद्दा सत्य समझ में आना; समाधान पूर्ण विचार शैली मानव में प्रमाणित होना और मानवीयता पूर्ण आचरण, प्रत्येक मानव में आचरित होना है। जिसके फलस्वरुप अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था स्वीकार होना, यही मानव परंपरा सत्यपूर्ण विधि से, गतिशील होने का स्वरुप हैं। इसमें इसकी सहज प्रक्रिया अध्ययनगम्य विधि से जीवन ज्ञान और जीवन ज्ञान पर आधारित प्रमाण अध्ययनगम्य है। फलत: परंपरा गम्य हैं। अध्ययन रुपी अभ्यास से अस्तित्व दर्शन, जीवन विद्या सहज रोशनी में होता है। परम सत्य सहअस्तित्व ही है। अभिव्यक्ति के रूप में सत्य ही स्वीकार होता है। सहअस्तित्व अस्तित्व सहज रूप में है, ऐसा सहअस्तित्व सहज स्वीकार और जीने की कला अस्तित्व सहज सत्य के रूप में प्रमाणित होता है। यही जीवन सहज जागृति का प्रमाण, व्यवहार प्रमाण है। अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था में भागीदारी का प्रमाण, अस्तित्व दर्शन में परिपक्वता की अभिव्यक्ति में प्रमाण हैं। फलस्वरुप जीवन में प्रामाणिकता की तृप्ति, स्वाभाविक रूप में, अस्तित्व की अभिव्यक्ति का स्वरुप है। जागृत मानव परंपरा में इसका फलन, व्यक्तित्व एवं प्रतिभा के संतुलन में सर्वमान्य है। वह-

1. सर्वतोमुखी समाधान = समझदारी के आधार पर
2. समृद्धि = समझदार परिवार में आवश्यकता से अधिक उत्पादन पूर्वक
3. अभय = अखण्ड समाज में मानवीय संस्कृति-सभ्यता, विधि-व्यवस्था पूर्वक
4. सहअस्तित्व = सार्वभौम व्यवस्था, दस-सोपानीय रूप में भागीदारी रूप में।

इस प्रकार इन तथ्यों को प्रमाणित करने के क्रम में मानव का बहुआयामों से सूत्रित होना और व्याख्यायित होना ही मानवीयता पूर्ण वांङ्गमय है। फलस्वरुप योजना, कार्य योजना पूर्वक प्रमाण परंपरा को स्थापित, संरक्षित कर अक्षुण्णता को देख पायेंगे। यही मानव परपंरा सहज मौलिकता अर्थात् वैभव सहित जीने की परंपरा के रूप में जीने का स्वरुप उपाय समीचीन है।

मानव सहज विधि से जीने का स्वरुप मानव संस्कृति, सभ्यता, विधि, व्यवस्था के रूप में ही सार्थक होना पाया जाता है। इन्हीं वास्तविकताओं के आधार पर धर्म (व्यवस्था) और राज्य (व्यवस्था की गति) प्रमाणित होना ही इसका वैभव है। यही जागृति सहज वैभव को सार्थक रूप देना ही विकल्प का उद्देश्य है।

4) धर्म और राज्य में अर्न्तसंबंध

(1) धर्म गद्दी की असफलता :-

शक्ति केन्द्रित शासन रुपी राज्य और अनुग्रह, वरदान, मोक्ष जैसे आश्वासन रुपी धर्म; अनुग्रह, वरदान, मोक्ष पाने के लिए तमाम प्रकार की साधनाएँ, तप, अभ्यास जैसी बातें धर्म के रूप में देखने को मिली। हर परंपरा में जो साधना किया, उसी परंपरा का सम्मान बढ़ते गया। परंपरा में साधना का तात्पर्य समुदाय परंपरा में प्रचलित साधना के उपक्रम से है। प्रत्येक साधक जो अथक परिश्रम से तप और अभ्यास किया, जितना समय भी किया, वह सब व्यक्ति पूजा में समा गया। जबकि प्रमाण परंपरा अपेक्षित रहा, वह अभी भी प्रतीक्षित है। ऐसी कोई साधना, उपक्रम, ज्ञान, दर्शन, कर्मकाण्ड, शिक्षा, संस्कार, अभ्यास नहीं निकल पाया जो सर्वशुभ समाधान सहज हो। कम से कम अधिकांश महापुरुष, यति, सती, संत, सिद्ध, तपस्वी, योगी इस धरती में स्थित अनेक समुदाय संबंधी कटुताएँ दूर करने के पक्ष में थे। उनसे भी उन-उन समुदायों संबंधी कटुताएँ दूर नहीं हो पाई। हर समुदाय में कर्म, धर्मशास्त्र लेकर चलने वाले समुदाय, ज्यादा से ज्यादा कट्टरता का परिचय दिये। जिसको सामान्य मानव ने यंत्रणा के रूप में पाया। हर समुदाय में जो वैराग्य विधि से साधना किये, वे सर्वशुभ चाहने वालों में से रहे। किसी समुदाय में जो भक्त होते रहे वे संसार के साथ सर्वाधिक सौजन्यता को व्यक्त किये। इष्ट देव की लीलाओं को यश के रूप में गाने में और एक दूसरे के साथ कथा, वार्तालाप, सत्संग के रूप में प्रस्तुत होने से अपने को अत्यंत गौरवान्वित अनुभव करते रहे। इसी के साथ-साथ राज्य को मानने वाले भी होते रहे। राज्य के साथ और राजा के साथ उनका ध्यान समाता गया।

(2) राज्य व्यवस्था है, न कि शासन :-

अस्तित्व मूलक, मानव केन्द्रित चिंतन के आधार पर राज्य और धर्म एक नाम है। नाम के मूल में वस्तु है, यह वस्तु ही व्यवस्था है। व्यवस्था स्वयं में सहअस्तित्व है। अस्तित्व जैसा भी अभिव्यक्त है, इसका दृष्टा जागृत मानव ही है। जो अस्तित्व रुपी दृश्य दिखता है वह नियमित, नियंत्रित, संतुलित रूप में हैं। इसका संयुक्त स्वरुप व्यवस्था के रूप में वर्तमान है। हर वस्तु अपने 'त्व' सहित व्यवस्था के रूप में है अर्थात् इसका नियंत्रित, संतुलित, व्यवस्थित रूप में वर्तमान होना निरंतर स्पष्ट है।

(3) व्यवस्था अस्तित्व सहज सहअस्तित्व के रूप में है, जो चारों अवस्थाओं में प्रमाणित है :-

मानव भी वर्तमान में ही, दृश्य को देखता है। देखने का मतलब समझना है, समझना समझदारी का प्रमाण प्रस्तुत करना ही जागृति है। समझना; जानने, मानने, पहचानने, निर्वाह करने के रूप में प्रमाणित है। यही दृष्टा पद का प्रमाण है। उल्लेखनीय तथ्य यही है कि मानव अस्तित्व में अविभाज्य दृष्टा है। संबंधों के आधार पर ही अस्तित्व सहज व्यवस्था समझ में आता है। अस्तित्व सहज व्यवस्था सहअस्तित्व ही है। इसलिए प्रत्येक एक की व्यवस्था होते हुए, समग्र व्यवस्था में भागीदारी सूत्र से सूत्रित रहना पाया जाता है इसका प्रमाण है कि चारों अवस्थाएँ, उनमें परस्पर में पूरकता, उदात्तीकरण, विकास, जागृति सहज रूप में दिखाई पड़ता है। मानव ही इसमें जागृति का प्रमाण हैं। परमाणु में विकास का प्रमाण जीवन है। पूरकता का प्रमाण संपूर्ण प्राणावस्था है। उदात्तीकरण का प्रमाण संपूर्ण प्राणावस्था की रचना है तथा साथ ही जीव शरीर एवं ज्ञानावस्था (मनुष्य) शरीर की रचना है।

(4) मानव समझदारी से व्यवस्था में प्रमाणित होता है, जो अस्तित्व सहज ही होती है :-

अस्तित्व सहज व्यवस्था वर्तमान सहज प्रमाण के रूप में वैभव है। जब-जब मानव व्यवस्था का अनुभव करता है, तब-तब वर्तमान में विश्वास, भविष्य के प्रति आश्वासन होना पाया जाता है। भविष्य के प्रति आश्वस्त होने का तात्पर्य विधिवत् योजना और कार्य योजना होने से है। वर्तमान में विश्वास का तात्पर्य समझदारी सहित दायित्वों, कर्तव्यों का निर्वाह हैं। जिसे भले प्रकार से कर चुके हैं, कर रहे हैं और करने में निष्ठा है। समझदारी का स्वरुप जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान, मानवीयतापूर्ण आचरण ज्ञान में, से, के लिए जागृति है। जागृति का तात्पर्य जानने, मानने, पहचानने, निर्वाह करने से है। इस प्रकार जागृति ही वर्तमान है, वर्तमान ही जागृति का संपूर्ण रूप है।

(5) स्वयं को पहचानना जीवन ज्ञान एवं जागृति - "सहअस्तित्व में अनुभव ही जागृति सहज नित्य वर्तमान है" :-

यही मुख्य बिन्दु है। मानव सहज रूप में ही वर्तमान सहज जागृति क्रम में है । स्वयं को पहचानना ही जीवन ज्ञान है। जीवन ज्ञान का अनुभव मानव में, से, के लिए सहज है। जीवन ज्ञान ही वर्तमान में स्वयं के होने के रूप में स्पष्ट करता है। होना ही वर्तमान है। अस्तित्व का स्वरुप ही नित्य वर्तमान है। संपूर्ण होना (अस्तित्व) चार अवस्थाओं में स्पष्ट है। संपूर्ण होने के साथ ही मानव का होना भी अविभाज्य है। अस्तित्व में जीवन और सत्तामयता भी अविभाज्य है। जीवन जागृत होने के उपरान्त भी अस्तित्व में ही नित्य वर्तमान होना पाया जाता है। अस्तित्व ही मूलत: वैभव है। जागृति पूर्वक जीवन अपने वैभव को

व्यक्त करता है। यही दृष्टा पद, समझदारी का प्रमाण है। अस्तित्व वर्तमान है अस्तित्व और समझदारी में एकरुपता ही मूलत: व्यवस्था का सूत्र और व्याख्या है।

(6) समझदारी न होने की स्थिति में समस्या का प्रकाशन है :-

अस्तित्व का सहअस्तित्व के रूप में होना ही सूत्र और चार अवस्थाओं में होना ही नियति सहज व्याख्या स्वरुप है। इस प्रकार अस्तित्व ही संपूर्ण वस्तु है, जागृत जीवन ही दृष्टा है तथा मनुष्य ही दृष्टा पद को प्रमाणित करने योग्य होता है।

मानव सहअस्तित्व में अनुभवपूर्वक दृष्टा पद प्रतिष्ठा के आधार पर ही व्यवस्था का प्रमाण है। मानव ही समझदारी पूर्वक हर कार्य, व्यवहार, विन्यास को, विचारों को, व्यवस्था के रूप में अभिव्यक्त कर पाता है। समझदारी के बिना कल्पनाशीलता, कर्म-स्वंतत्रता का प्रयोग अपने आप में सर्वाधिक समस्याओं को पैदा कर लेता है। यही मानव में भ्रमवश होने वाली समस्याओं का कारण है कल्पनाशीलता को विचारों में भी प्रयोग करता है। तब वांङ्गमय, साहित्य को भी प्रस्तुत करता है। इसी के आधार पर कला, साहित्य के नाम से भी कल्पनाएँ दौड़ पड़ती है।

(7) राज्य, धर्म का मूल रुप :-

मानव में कल्पनाशीलता, कर्म स्वतंत्रता का संपूर्ण कर्माभ्यास, व्यवहार अभ्यास की परिणित समाधान चाहना है। इसी विधि से शोध प्रक्रिया सहज संभव हो जाती है। इस प्रकार मानव का समाधान की ओर अपेक्षित रहना सहज है। इसी आधार पर प्रत्येक मानव समाधान को वरता (शोध या अनुसंधान करता) है। इस ढंग से राज्य और धर्म का मूल रूप समझदारी व्यवस्था है। व्यवस्था की अभिव्यक्ति के रूप में सर्वतोमुखी समाधान है। समाज रूप में संबंधों, मूल्यों को पहचानना तथा मूल्यांकन करने की विधि से समाधानित होना पाया जाता है । यही मानव धर्म है। यह जागृति का प्रमाण है। जागृति स्वयं समाधान और उसकी निरंतरता है। जागृति का प्रयोजन अस्तित्व में प्रत्येक एक के प्रति जागृत होने से है। जागृति का तात्पर्य जानने, मानने, पहचानने, निर्वाह करने से है। यह जीवन ज्ञान सहित सहअस्तित्व में अनुभव है। पदार्थावस्था के रूप, गुण, स्वभाव, धर्म को जानना, मानना, पहचानना, निर्वाह करना यह पदार्थावस्था के प्रति जागृति है। इसी प्रकार प्राणावस्था, जीवावस्था, ज्ञानावस्था में उन-उन के रूप, गुण, स्वभाव, धर्म के प्रति जागृत होना ही मानव के जागृत होने का प्रमाण है। इन प्रमाणों के साथ ही प्रत्येक मानव को वर्तमान में विश्वास होना प्रमाणित होता है।

(8) सभी अपने "त्व" सहित व्यवस्था है, जो सहअस्तित्व है; क्योंकि अस्तित्व न घटता है न बढ़ता है :-

जागृति पूर्वक ही मानव व्यवस्था है और वह व्यवस्था में भागीदार होता है, यह मानव धर्म है। क्योंकि लोहा अपने लोहत्व सहित; गाय गायत्व के साथ; दूब दूबत्व के साथ व्यवस्था है और समग्र व्यवस्था में भागीदार है। इसी प्रकार मानव मानवत्व के साथ व्यवस्था है और समग्र व्यवस्था में भागीदारी संपन्न होना ही मानव के सहअस्तित्व का प्रमाण है। सहअस्तित्व सहज रूप में ही व्यवस्था है। इस प्रकार मानव धर्म, व्यवस्था और सहअस्तित्व स्वाभाविक रूप में, अस्तित्व सहज धर्म का ही प्रकाशन है। सहअस्तित्व नाम है इसीलिए नाम से नामी का निर्देश हो जाना, संप्रेषणा की सफलता है। नामी का स्वरुप है - सभी व्यवस्था सहित वर्तमान है, जिसमें मानव का भी अविभाज्य होना समझ में आता है। इस प्रकार - "व्यवस्था एक समग्रता सहित अभिव्यक्ति है" जिसमें जागृत मानव दृष्टा सहज प्रमाण है।

(9) अस्तित्व सहज राज्य, धर्म, समाज व्यवस्था और उसकी निरंतरता की व्याख्या :-

मूलत: अस्तित्व ही वैभव है, वैभव ही राज्य है। अस्तित्व में मानव का अविभाज्य होना भी स्पष्ट हो गया है। सहअस्तित्व के रूप में ही संपूर्ण वैभव है, क्योंकि सत्ता में सभी अवस्थाएँ अविभाज्य है। इनका अलग-अलग विभाजित कर देखना संभव नहीं है। सत्ता में सभी अवस्थाएँ समाहित होना दिखाई पड़ता है। सत्ता व्यापक है। सत्ता न हो, ऐसी किसी स्थली की कल्पना भी नहीं हो सकती है। सत्ता में ही संर्पूण वस्तुओं का होना पाया जाता है अर्थात् अस्तित्व ही संपूर्ण वस्तु है। सहअस्तित्व ही मूलत: संपूर्ण अस्तित्व है। इस प्रकार समग्रता सहज अविभाज्यता का मूल सूत्र अथवा परम सूत्र सत्तामयता में संपृक्त प्रकृति ही है। इसलिए सत्ता में ही संपूर्ण अवस्थाएँ नियमित, नियंत्रित, संतुलित और समाधानित रहना देखने को मिलता है । इन सभी तथ्यों में सहअस्तित्व ही परम सौंदर्य, परम सुख एवं परम समाधान और परम सत्य है। अस्तित्व स्वयं सहअस्तित्व है। ऊपर वर्णित विश्लेषणों, निष्कर्षों के आधार पर धर्म और राज्य का मूल रूप सहअस्तित्व नित्य व्यवस्था होना ही इंगित होता है। क्योंकि सहअस्तित्व सहज कार्यकलाप और वैभव ही है संपूर्ण "त्व" सहित व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी का ताना-बाना। कोई भी अवस्था और ऐसी कोई इकाई दिखाई नहीं पड़ती है, जो इस ताना-बाना से अलग रहे। खूबी यही है कि सत्ता स्वयं अस्तित्व में अविभाज्य है।

इस प्रकार अस्तित्व अपने में संपूर्ण स्वरुप और वैभव है। यही व्यवस्था है। इसलिए मानव का स्वयं में व्यवस्था होना और व्यवस्था में भागीदारी सहज कार्य में अपने को वैभवित कर पाना ही कर्म-स्वतंत्रता

कल्पनाशीलता का तृप्ति बिंदु है। कल्पनाशीलता का तृप्ति स्वराज्य व्यवस्था में हो जाता है । इसकी निरंतरता का सहज वैभव होता है। यही अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था का वैभव है। इसी में प्रत्येक मानव मानवत्व सहित व्यवस्था है और समग्र व्यवस्था में भागीदारी का प्रमाण प्रस्तुत कर पाता है। यही परिवार मानव होने के आधार पर परिवार मूलक विधि से सर्वसुलभ है, यह समझ में आता है। अस्तु, परिवार मूलक विधि से गुंथा हुआ विश्व परिवार ही, समाज रचना का क्रियाकलाप है और निरंतर गति है। ऐसे परिवार का भी व्यवस्था का स्वरुप होना स्वाभाविक है। व्यवस्था, अपने आप में न्याय, उत्पादन, विनिमय में भागीदारी है। यह परिवार से विश्व परिवार पर्यन्त सूत्रित व्याख्यायित तथ्य है। इन आधारों पर "व्यवस्था समाज का वैभव है और धर्म समाज का स्वरुप है।" मानव का मानवत्व सहित व्यवस्था होना समाज है और समग्र व्यवस्था है - न्याय, उत्पादन, विनिमय में भागीदारी। यही समग्र व्यवस्था का तात्पर्य है। इनकी निरंतरता के लिए दूसरी भाषा में, मानव परंपरा में व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी निरंतर वैभवित होने के लिए, मानवीय शिक्षा-संस्कार और स्वास्थ्य-संयम रुपी स्रोत के साथ ही मानव परंपरा का जागृत वैभव स्पष्ट हो जाती है।

(10) जागृत परंपरा में सर्वतोमुखी समाधान एवं भ्रमित परंपरा द्वारा समस्या :-

मानव परंपरा का अपनी जागृति को प्रमाणित करने के लिए जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान और मानवीयता पूर्ण आचरण ज्ञान में, से, के लिए प्रमाणित रहना आवश्यक है। इसी के फलस्वरुप परिवार मूलक स्वराज्य और अखण्ड समाज रहना और सार्वभौम व्यवस्था सहज प्रमाणित होना संभव हो जाता है । मानव के जितने भी कार्य-व्यवहार होते है उसके मूल में निर्धारित विचार का होना एक अनिवार्यता है। मानव के द्वारा हर कार्य-व्यवहार के मूल में विचार रहता है, उसकी दो ही अवस्था होती है:-

1. जागृति सहज विचार,
2. भ्रमित विचार।

भ्रमित विचार पूर्वक किए गए सभी कार्य-व्यवहार से समस्याओं की पीड़ा ही स्पष्ट होती हैं। उस स्थिति में मानव सहज ही समाधान को वरता है, न कि समस्या को। यह आते कहाँ से है यह पूछने पर स्पष्ट रूप में यही दिखाई पड़ता है कि भ्रमित परंपराओं वश, मानव न चाहते हुए भी भ्रमित कार्यों को कर देते हैं। जबकि जागृतिपूर्वक सर्वतोमुखी समाधान पूर्ण कार्य-व्यवहार करता है।

(11) मानव हर हालत में सुख ही चाहता है, न जानते हुए भी समाधान ही चाहता है।

इसके बावजूद समस्या उत्पन्न कर देता है। मानव के चाहने और होने के बीच में जानना, मानना, पहचानना एक आवश्यकता है। समुदाय परंपरा में प्रत्येक व्यक्ति अर्पित रहता है । प्रत्येक समुदाय परंपरा इस दशक तक भ्रमित है, इसका साक्ष्य ही है कि मानव सर्वतोमुखी समाधान, सार्वभौम व्यवस्था, अखण्ड समाज और इनमें पारंगत और भागीदार होने के सारे अध्ययन को और प्रमाणों को शिक्षा पूर्वक संस्कार पूर्वक, संपन्न नहीं कर पाये हैं।

(12) रुचि मूलक कार्यकलापों का सार्वभौम न होना तथा न्याय, धर्म, सत्य का सार्वभौम होना देखा गया।

इसलिए मानव, जीवन सहज रूप में शुभ चाहते हैं। रुचिवश हर समुदाय भ्रमित कार्यों को करता रहा है। जब तक रुचि मूलक विधि से मानव कार्य-व्यवहार करता है, तब तक अनर्थ करता है। संपूर्ण रुचियाँ इंद्रिय सन्निकर्षात्मक रूप में हैं। अर्थात् शरीर के अनुरुप हो ऐसा काम कर देते है। इन्द्रियों के साथ न्याय का स्थान नहीं हैं। न्याय सब चाहते हैं। इन्द्रियों के साथ प्रिय, हित, लाभ ही होता है। प्रियात्मक कार्यकलाप शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इन्द्रियों को अच्छा लगने के रूप में स्पष्ट है । हित शरीर के लिए उचित-अनुचित के रूप में देखा जाता है। कम देकर अधिक लेने की प्रक्रियाओं को लाभ के रूप में देखा जाता है । यही क्रियाकलाप रुचि मूलक है। प्रिय, हित, लाभ का कहीं तृप्ति बिंदु मिलता नहीं है। शरीर को कितना भी अच्छा रखा जाय, तो भी शरीर की विरचना होती ही है। इन्द्रिय सन्निकर्ष क्रियाकलापों के साथ परेशानी यही है कि जब एक चीज, किसी एक मानव को अच्छी लगती है तो वही चीज दूसरों को बुरी भी लगती है। दूसरा बहुत अच्छा खाने वाले को भी कहीं न कहीं पेट भर जाने की स्थिति आती है, उसके बाद वही खाना खराब लगने लगता है। एक आदमी को खराब लगने की स्थिति में दूसरा आदमी जो भूखा है उसे वही खाना अच्छा लगता है। एक आदमी को एक संवेदना में कितना देर अचछा लगा-बुरा लगा, सबके लिए वैसा होना होता नहीं अत: अच्छा लगना, बुरा लगना सार्वभौम हो नहीं पाता है और लाभ का तृप्ति बिंदु कहीं होता नहीं। संग्रह का तृप्ति बिंदु होता नहीं है, इसलिए लाभ का कोई निश्चित मापदण्ड नहीं होता, इसलिए यह सार्वभौम नहीं होता। अस्तु, ये जितनी भी चीजें गिनाई गई है, उनके प्रिय, हित, लाभ, भोग, सुविधा, संग्रह के आधार पर व्यवस्था होना संभव नहीं है। इसलिए इस शताब्दी के अंतिम दशक तक सार्वभौम व्यवस्था स्थापित नहीं हो पायी।

नियति सहज विधि से नियम, न्याय, धर्म, सत्य का सार्वभौम होना सहज है। मनुष्य को अनुभव पूर्वक अपने दृष्टा पद प्रतिष्ठा के आधार पर न्याय पूर्ण विधि से प्रस्तुत होना सहज है क्योंकि वह जीवन सहज है। जन्म से ही मानव न्याय का याचक होता है, सही कार्य-व्यवहार करना चाहते है, और सत्य वक्ता होता है। परंपरा से यह अपेक्षा सहज ही रहती है कि प्रत्येक मानव संतान; न्याय प्रदायिक क्षमता से संपन्न हो, सही कार्य-व्यवहार करने योग्य योग्यता से संपन्न हो, सत्य बोध होने की अर्हता प्राप्त करने में सक्षम हो, इसी रूप में सकारात्मक पक्ष स्पष्ट होता है। इसका मतलब यही है कि जागृत परंपरा सहज वैभव यही है, कि प्रत्येक संतान में संबधों, मूल्यों और मूल्यांकन करने का ज्ञान सहज विचार और व्यवहार, अभ्यास सुलभ कार्यों में भागीदारी ही मानवीयतापूर्ण निष्ठा और परंपरा हो। जागृत परंपरा क्रम में प्रत्येक मानव संतान को सही कार्य-व्यवहार, ज्ञान, विचार और कर्माभ्यास सहज सुलभ होता है। अस्तित्व जैसा परम सत्य बोध अध्ययन पूर्वक सुलभ होता है। साथ ही जीवन ज्ञान जैसा परम ज्ञान संपन्नता सुलभ अथवा सर्वसुलभ होता है। ऐसी परंपरा ही मानव परंपरा है। ऐसी अर्हता जिन जिन परंपराओं में नहीं है, वे सब मानवीयतापूर्ण परंपरा के रूप में परिवर्तित होने के लिए सहज इच्छुक है अथवा बाध्य है।

(13) अस्तित्व में चार अवस्थाएँ, वंशानुषंगीयता एवं संस्कारानुषंगीयता :-

अस्तित्व सहज रूप में ही सहअस्तित्व, नित्य संबंध स्थिति में ही है क्योंकि पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था एवं ज्ञानावस्था- ये संबंधित है ही। संबंध का तात्पर्य ही है, पूर्णता के अर्थ में अनुबंधित रहना। इसके निर्वाह होने के क्रम में चारों अवस्थाओं में विभिन्न रुपों में विधियाँ प्रभावशील है- ऐसा देखने को मिलता है। जैसे- संपूर्ण पदार्थावस्था नियम पूर्वक, संबंधों को निर्वाह करता हुआ देखने को मिलता है। नियम 'त्व' सहित व्यवस्था है, यही संतुलन हैं। यह 'त्व' सहित व्यवस्था सभी अवस्था में ही सार्थक होता हुआ प्रमाणित है। यह प्रमाण है कि पदार्थावस्था ही प्राणावस्था में उदात्तीकृत हुआ वैभव है। उदात्तीकृत होने का तात्पर्य, रासायनिक वैभव के रूप में परिवर्तित होने से है। क्योंकि पदार्थावस्था की वस्तुएँ स्वयं स्फूर्त विधि से रासायनिक द्रव्यों के रूप में परिवर्तित होती है। फलस्वरुप, प्राणावस्था का वैभव प्रमाणित है। प्राणावस्था का मूल रूप प्राण कोषा एवं उसमें निहित रचना विधि सहित सूत्र और विभिन्न प्रकार की रचनाएँ, बीजानुषंगीय एवं वंशानुषंगीय भेदों में देखने को मिलता है। जीव शरीर एवं मानव शरीर भी प्राण कोशिकाओं से रचित होता है। वे वंशानुषंगीय सूत्रों के आधार पर वैभवित रहते हैं। जीवावस्था और ज्ञानावस्था में जीवन और शरीर संयुक्त साकार रूप है, यह परंपरा देखने को मिलती है। इनमें से मानव परंपरा एक है, जीवों की परंपराएँ अनेक हैं। जीव परंपराएँ अनेक वंशों के रूप में प्रतिष्ठित हैं। और वंशों के रूप में ही प्रमाण भी हैं। जबकि मानव परंपरा में भी अनेक वंशों के रूप में शरीर रचनाएँ देखने को

मिलती है। ये सब संस्कारनुषंगी विधि से, एकरुपता को व्यक्त करते है, करने के लिए, अवसर संपन्न रहते हैं।

(14) जानना, मानना, पहचानना ही संस्कार है। संस्कारानुषंगीयता ही मानवीय व्यवस्था का आधार है :-

दृष्टिगोचर, ज्ञान गोचर में से पहले सहअस्तित्व में ही पदार्थावस्था, "त्व" सहित नियम को परिणामानुषंगीय विधि से, संपन्न कर देते हैं। यही पदार्थावस्था के नियमित रहने का तात्पर्य है। प्राणावस्था में नियमित विधि से "त्व" सहित व्यवस्था बीजानुषंगीय प्रक्रिया पूर्वक नियंत्रित रहना पाया जाता है। जीवावस्था अपने "त्व" सहित व्यवस्था को वंशानुषंगीय विधि से संतुलित रूप में प्रमाणित करते हैं। मानव ज्ञानावस्था में एक मौलिक वैभव है। यह वैभव दृष्टा पद व जागृति सहज प्रमाणों के रूप में परंपरा है। ऐसा दृष्टापद जागृति सहज परंपरा में निरंतर सफल होता है। मानव परंपरा संस्कारानुषंगीय अभिव्यक्ति है। वंशानुषंगीयता केवल शरीर तक ही प्रक्रियाबद्ध है। मानव की अभिव्यक्ति जीवन प्रधान है, न कि शरीर प्रधान। यद्यपि शरीर और जीवन के संयुक्त रूप में ही मानव ख्यात है। जीवन में ही संस्कारों की स्वीकृति और जागृति प्रमाणित होती हैं। संस्कार जानने, मानने, पहचानने और प्रमाण रूप में निर्वाह करने की प्रक्रिया हैं। इसकी जागृति जानना, मानना को पहचानना और निर्वाह करना ही है। संस्कार प्रक्रिया परिवार परंपरा में, से, के लिए प्रदत्त होती है। संस्कार प्रक्रिया का यही प्रमाण है और चेतना विकास मूल्य शिक्षा संस्कार है। इस प्रकार संस्कार परंपरा और विधि प्रक्रिया के रूप में संस्कार स्पष्ट हो जाता है। यही मानव संचेतना सहज महिमा है। मानव का संपूर्ण संस्कार व प्रमाण जानना, मानना, पहचानना, निर्वाह करना ही है। यह निर्भ्रम विधि से न्याय, धर्म, सत्य सहज प्रकाशन है। अर्थात् निर्भ्रम पूर्ण विधि से प्राप्त जानना, मानना, पहचानना और निर्वाह करना स्वयं न्याय, धर्म, सत्य का प्रमाण ही है। यही मानवीयतापूर्ण अभिव्यक्ति, संप्रेषणा और प्रकाशन सहज रूप में व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी है।

(15) न्याय :-

न्याय = संबंध, मूल्य, मूल्यांकन, उभयतृप्ति है। मौलिकता न्याय का स्वरुप सहज रूप में ही संबंध, मूल्य और मूल्यांकन ही है। यह मानव संबंध, नैसर्गिक संबंध और उत्पादन सबंध के रूप में स्पष्ट होता है। मानव संबंध व्यवहार सूत्र का स्वरुप हैं। नैसर्गिक संबंध पूरकता सहज सत्यता है। उत्पादन संबंध उपयोगिता सहज सबंध है। इनमें उपयोगिता को प्रमाणित करने के लिए प्राकृतिक ऐश्वर्य पर श्रम नियोजन और कला मूल्य की स्थापना और उसके मूल्यांकन के रूप में हैं। आवर्तन विधि संपन्न विनिमय प्रक्रिया

पूर्वक व्यवहारिक होना पाया जाता है। मानव संबंध समाज रचना का आधार है। परिवार मूलक विधि से समाज रचना निरंतर सहज हैं। मानवत्व ही परिवार संबंधों की तृप्ति का सूत्र है। परिवार ही विश्व परिवार के रूप में अखण्ड समाज है। परिवार रचना के साथ व्यवस्था की अभिव्यक्ति एक अनिवार्य स्थिति है। व्यवस्था सहज अभिव्यक्ति क्रम में न्याय, विनिमय और उत्पादन प्रधान प्रक्रिया है। न्याय प्रक्रिया में स्थापित एवं शिष्ट मूल्यों का मूल्यांकन मौलिक है। विनिमय प्रकिया में श्रम मूल्यों का मूल्यांकन मौलिक हैं। उत्पादन कार्यों में अथवा उत्पादन विधि में श्रम नियोजन मौलिक हैं। इस प्रकार मौलिकता त्रय पूर्वक सार्वभौमिकता और अक्षुण्णता सहज होता है। इसी अभिव्यक्ति के लिए मानवीय शिक्षा-संस्कार और स्वास्थ्य-संयम आवश्यकीय कार्यक्रम हैं। इसी के आधार पर सार्वभौम व्यवस्था और अखण्ड समाज रचना के लिए, मानव का जागृत होना पाया जाता है।

5) मानव की पहचान, महापुरुषों की पहचान

आदिकालीन और अभी अत्याधुनिक कालीन मानव प्रकृति आचरण, प्रमाण संपूर्ण प्रकार से व्यक्तिवादिता की ओर रही है क्योंकि विरक्ति और भक्तिवादी चरित्र भी व्यक्तिवादी होता है। इन दोनों के बीच में जो विविध प्रकार के इतिहास है वे सब प्रकारान्तर में भ्रमात्मक कथाएँ हैं। मानव अभी तक जितने भी समुदाय परंपरा में अपने को पहचानता है, इन सबका एक ही 'अभिशाप' रहा है कि अस्तित्व में अपने को अविभाज्य रूप में समग्रता के साथ दर्शन नहीं कर पाना। दूसरा अभिशाप स्वयं को पहचानने की इच्छा रहते हुए भी अपूर्ण रह जाना इसका स्पष्ट स्वरुप यही है कि सच्चाई को पहचानने की गवाही नहीं दे पाना। सामान्य लोग जिन्हें स्वयं को पहचानने की गंध भी नहीं रहती, ऐसे लोग इस मुद्दे पर कई महापुरुषों को आत्मदर्शी, ज्ञानी मान चुके रहते हैं। उल्लेखनीय बात यही है कि सामान्य जन मानस जब कभी भी आस्था का प्रदर्शन कर पाता है, तो उसके मूल में सब मनोकामनाओं के सफल होने की अपेक्षा पाई जाती है। मनोकामनाएँ अधिकांश भय, प्रलोभन, दरिद्रता, पर-पीड़ा, प्राकृतिक विपदा, रोग दुश्मनों का नाश से संबंधित है, इनको आज के लोक मानस में सर्वेक्षण कर सकते हैं। सुविधा संग्रह में सफलता, आजीविका, अध्ययन कार्यों में सफलता, आजीविका में वरिष्ठता, अधिकारों में अधिकाधिक शक्ति (अधिकार) प्राप्त होने के क्रम में भी मनोकामनाओं को सर्वेक्षित किया गया है। सर्वेक्षण करने पर प्रमाणों को पा सकते हैं। यह कोई ऐसा मुद्दा नहीं है, जिसके आधार पर आत्मदर्शिता अथवा परम ज्ञान, परम विचार, परम आचरण को समझा जा सकें। इसलिए इन सभी का आधार केवल परंपरागत पावन ग्रंथ शब्द व शास्त्र प्रमाण ही रह जाते हैं। व्यक्ति वर्तमान में प्रमाण नहीं हो पाता है। पावन ग्रंथों की अगम्यता अर्थात् सर्वसुलभ होने में शंकाएँ सदा बनी रहती हैं। इस प्रकार स्वयं पर विश्वास का निश्चित अध्ययन और निश्चित परंपरा नहीं हो पाई। यही मानव सहज आकांक्षा रहते, अपूर्ति की पीड़ा है।

इसका निराकरण और अस्तित्व में अविभाज्य रूप में पहचानने, निर्वाह करने, जानने, मानने की विधि जीवन विद्या से, अस्तित्व दर्शन से और मानवीयता पूर्ण आचरण से परिपूर्ण हो जाता है। यही जागृतिपूर्ण परंपरा का भी वैभव हैं। जीवन को समझने के लिए अर्थात् जानने, मानने, के लिए अस्तित्व में मानव सहज संचेतना क्रम में जीवन की सभी क्रियाओं को पहचाना जा सकता है। जिस पर विश्वास होना सहज होता है। क्योंकि सहज में ही संचेतना से जागृति तक, जागृति क्रम स्वयं में, से, के लिए स्पष्ट हो जाता है। इसका पहला सिद्धांत है। "मानव ही अस्तित्व में दृष्टा है।" दूसरी भाषा में, अस्तित्व में प्रत्येक नर-नारी समझदारी पूर्वक दृष्टा पद में ही है। इसका पहला प्रमाण प्रत्येक मानव में कल्पनाशीलता, कर्मस्वतंत्रता सहज

क्रियाशीलता हैं। कल्पनाशीलता के आधार पर ही मानव अज्ञात को ज्ञात करने, अप्राप्त को प्राप्त करने आशा, विचार, इच्छाओं को अपने में ही सर्जित होता हुआ समझता है। यह अपने में, अपने से एवं अपने लिए तैयार करना होता है। यही जागृति की ओर सहज परिवर्तन का आधार बिन्दु है।

अभी इसे समझना बहुत सुलभ हो गया है कि "मानव, मानव का अध्ययन कर सकता है।" इस अध्ययन क्रम में परस्पर आधार वस्तु जागृति है। हर व्यक्ति जागृति सहज प्रमाण व उसका स्रोत हो सकता है। जागृति का स्वरुप, व्यवहार प्रमाण जानने, मानने, पहचानने, निर्वाह करने की गतिविधियों को प्रमाणित करना ही होता है। मानव अस्तित्व सहज रूप में कल्पनाशील और कर्मस्वतंत्र है। इसका निरीक्षण, परीक्षण, सर्वेक्षण स्वयं में तथा दूसरे मानव में करना और स्वयं जागृत रहने की स्थिति में सामने व्यक्ति को जागृत होने के लिए उपाय सहित बोध करा देना ही स्वयं जागृत रहने का व्यवहार रूप में प्रमाण है।

मानव में, से, के लिए जानने, पहचानने, निर्वाह करने की संपूर्ण वस्तु सत्ता में संपृक्त जड़-चैतन्य प्रकृति है और अस्तित्व सहज, सहअस्तित्व रुपी गति विधियाँ है। सहअस्तित्व रुपी गति ही सत्ता में चारों अवस्था सहज प्रकृति अविभाज्य रूप में वर्तमानित होना समझ में आता है। अस्तित्व में मानव अनुभवपूर्वक दृष्टा पद में है, सहअस्तित्व नित्य वर्तमान है, यही समझ में आने का आधार व स्रोत है।

सत्ता में संपृक्त प्रकृति में विकास, जीवन, जागृति, रासायनिक-भौतिक रचना-विरचना हर मानव में, से, के लिए अध्ययनगम्य होता हैं। इसका मूल कारण अस्तित्व में अविभाज्य वर्तमान मानव का जागृति पूर्वक दृष्टा पद में होना ही है। यही मौलिकता है। यही मुख्य बिंदु है। मानव जागृत होने की आवश्यकता को, आकार और प्रक्रिया को, उदयशील उद्‌गमशील बनायें रखता है। इसी की गवाही अज्ञात को ज्ञात करने, अप्राप्त को प्राप्त करने की कल्पना, इच्छा, विचार, साक्षात्कार, बोध व अनुभव के रूप में देखा जाता है। अति महत्वपूर्ण बात यह है कि ऐसी अभीप्सा प्रत्येक मानव में प्रकारान्तर से देखने को मिलती हैं। इसी आधार पर प्रत्येक मानव में शुभ चाहने का अधिकार समान रूप में विद्यमान हैं। यह समझ में आने के पश्चात् ही इसकी भरपाई जो अज्ञात है, वह ज्ञात हो सकता है। जो अप्राप्त है, वह प्राप्त हो सकता है। ऐसी स्थिति को सर्व सुलभ करने के लिए परंपरा जागृत होना अपरिहार्य है।

जागृत मानव परंपरा का प्रभाव शिक्षा-संस्कार, संविधान और व्यवस्था के रूप में देखने को मिलता है।

वर्तमान परंपरागत विधियों से अप्राप्ति की प्राप्ति तथा अज्ञात का ज्ञात होना संभव नहीं है। इसलिए अस्तित्व सहज वैभव का चिंतन, साक्षात्कार, विचार, अनुभव, व्यवहार, व्यवस्था, संविधान, अध्ययन बनाम शिक्षा-संस्कार-बनाम दर्शन-ज्ञान सहज रूप में जीना, क्रियारत रहना अनिवार्य हो गया। इस क्रम में अस्तित्व

दर्शन, जीवन ज्ञान, मानवीयता पूर्ण आचरण, मानवीय व्यवस्था, मानवीय संविधान, मानवीय शिक्षा, मानवीय संस्कार सर्व सुलभ होने का मार्ग प्रशस्त होता है। इन मूलभूत सिद्धांतों को हृदयंगम करना एक आवश्यकता है। अनुभव पूर्वक मानव के दृष्टा पद प्रतिष्ठा में होने की साक्षी में ही मूलभूत सिद्धांतों को समझा गया है।

1. यह धरती एक (अखण्ड राष्ट्र), राज्य अनेक।
2. सत्ता व्यापक रूप में एक, देवता अनेक।
3. मानव जाति एक, कर्म अनेक।
4. मानव धर्म एक, मत अनेक।

उक्त चार एकता और अनेकता का सिद्धांत समझ में आता है। अस्तित्व सहज प्राकृतिक रूप में अथवा सहअस्तित्व के रूप में एकता अपने आप स्पष्ट है। मानव समुदाय की भ्रमित मान्यताओं एवं इन यथार्थताओं में मतभेद ही समस्या के रूप में स्पष्ट है।

प्रत्येक एक अपने वातावरण सहित संपूर्ण है। यह धरती भी अपने वातावरण सहित संपूर्ण है। यह भौतिक-रासायनिक समृद्धि योग्य इकाई अपनी स्वभाव गति शून्याकर्षण पूर्वक विकास क्रम में है। यह स्वयं में एक व्यवस्था है और सौर व्यूह अथवा अंनत सौर व्यूह रुपी समग्र में भागीदार है, यह प्रत्येक मानव के सम्मुख है। मानव के दृष्टा पद में होने के फलस्वरुप इसे समझना भी सरल है। धरती की सतह का स्वरुप देखने पर समुद्र और समुद्र से घिरा हुआ भूखंड दिखाई पड़ता है, जिसमें जंगल, पहाड़, नदी-नाला स्पष्ट रूप में विद्यमान है।

इस धरती के भूखण्डों में ही, समुद्र से घिरे हुए भूखण्डों में, एक से अधिक समुदाय अपनी-अपनी परंपरा के रूप में वर्तमान में दिखते हैं। ये सब स्वयं को एक-एक भूखण्डों का अधिकारी भी मानते हैं। जबकि इस धरती की बनावट में उनका कोई श्रम नियोजन, विवेक या ज्ञान जैसी शक्ति समाहित हो, इसके किसी इतिहास की गवाही, वर्तमान में देखने को नहीं मिल रहा है। मानव का प्रश्रय, यह धरती ही है। धरती अनंत ब्रहाण्डों में से एक अंश के रूप में कार्य कर रही है। यह धरती अपने में अखण्ड है। पूर्णता इसका वैभव है। इसमें किसी भी विधि से मानव द्वारा किया गया कल्पना, खंड-विखंड कल्पना और प्रक्रिया इस धरती के वैभव के विपरीत होना पाया गया। इसकी गवाही, भ्रमित मानव का इतिहास ही है। इससे यह भी स्पष्ट हुआ कि मानव इतने दिन से भ्रमित रहते हुए भी इस धरती को विखंडित नहीं कर पाया। यह धरती विखंडित नहीं हो पाई, यह वर्तमान में गवाही है। इसी धरती में रहने वाले आदमी काल्पनिक खण्ड-विखण्ड को भी प्रभु-सत्ता की सीमा रेखा में और उसकी अक्षुण्णता में शक्ति केन्द्रित शासन के रूप में स्वीकारते हुए आए। इससे बड़ा भ्रम और क्या होगा?

दूसरा ईश्वर ही सत्तामय वस्तु का नामकरण है, इस आधार पर ईश्वर में ही प्रकृति ओतप्रोत है और ईश्वरमयता में ही क्रियाशील है तथा इसके ईश्वर सब अलग-अलग होने की कोई संभावना नहीं है। इस तरह ईश्वर व्यापक रूप में है, ईश्वर शासक या शासन नहीं हैं। यह अर्थ मानव को समझ में आता है। यह संपूर्ण प्रकृति सत्ता में संपृक्त है। पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था, ज्ञानावस्था सत्ता में डूबा हुआ, भीगा हुआ, घिरा हुआ देखने को मिलता है। साथ ही, इसके पहले ही, सत्ता दिखाई पड़ता है। प्रत्येक एक भीगा हुआ की महिमा, बल-संपन्नता के रूप में प्रमाणित हो जाता है। इससे और भी एक तथ्य समझ में आता है कि सत्ता पारगामी है। इन तीनों प्रकारों से सत्तामयता को समझने वाला मानव सत्ता की (सहज) व्यापकता को, नाम के अंतर्गत लाने की कल्पना दौड़ा नहीं पाता है। इसलिए भी व्यापक नाम देना बनता है। व्यापकता सर्वत्र सर्वथा वर्तमान होनी ही है।

सत्तामयता को भाग-विभाग किया नहीं जा सकता है। इसलिए सत्ता अखण्ड है। सत्तामयता में मानव के निर्भ्रम न होने के कारण ही ईश्वर के नाम से अनेक अटकलें और सविरोधी कल्पनाओं को मानते हुए मानव दिखा। इन समुदायों की परस्परता में जटिलता अर्थात् एक दूसरे समुदाय में मिलने में जटिलता के फलस्वरुप अनेक कुटिलताएँ देखने को मिली। इससे बड़ा भ्रम और क्या होगा? इसकी गवाही विविध प्रकार से, प्रस्तुत मानव इतिहास है।

तीसरा, "मानव जाति एक कर्म अनेक।" मानव जाति का विखंडन संभव नहीं है। विखंडन के लिए प्रयत्न करना ही भ्रम है। भ्रम का परिणाम समस्या, दुख, पीड़ा और भय है। मानव को अनेक जाति मानने की गवाही अनेक परंपरा के रूप में देखने को मिली। यही मूलत: मानव से मानव के प्रताड़ित होने का प्रधान कारण हुआ। इसके विपरीत मानव जाति एक होने की सहज गवाही प्रत्येक मानव में पाई जाने वाली कल्पनाशीलता और कर्म स्वतंत्रता है। जिसको प्रत्येक व्यक्ति में समझा जा सकता है। दूसरा प्रत्येक मानव मनाकार को साकार करने वाला, मन: स्वस्थता का आशावादी और प्रमाणित करने वाला है। यह प्रत्येक व्यक्ति में सर्वेक्षित होता है। इस महिमा की समानता के आधार पर भी मानव जाति का एक होना समझ में आता है। तीसरा, मानव कर्म करते समय स्वतंत्र, फल भोगते समय में परतंत्र है- यह पाया जाता है। प्रत्येक मानव कर्म फलों में, से उसी को वरता है, जो सुख के रूप में परिणित हो जाते हैं। वही कर्म फल सुख के रूप में परिणित होते है जो समाधान रूप में होते हैं। क्योंकि प्रत्येक मानव का प्रत्येक कर्म, फल समस्या या समाधान के रूप में ही प्रमाणित होता है। इन प्रक्रियाओं में भी मानव को समानता के रूप में देख सकते हैं। यह भी मानव जाति के एक होने का आधार है, साक्षी है।

"मानव धर्म एक, मत अनेक"- प्रत्येक मानव सुखी होने के लिए विचार, व्यवहार और अनुभव करने के क्रम में दिखता है। मानव सहज रूप में किये गये सभी कर्मों का फल सुख या दुख में ही परिणित होता है। इसे भली प्रकार से समझा गया है। यह सबको समझ में आता है। इसके साथ यह भी देखा गया है कि न्याय, समाधान (धर्म), सत्य सहज जितने भी कार्य, व्यवहार है, उनका परिणाम तत्काल एवं निरन्तर सुख के रूप में ही दिखाई देता है। इसका मूल तथ्य यह है कि :-

(1) न्याय स्वयं मूल्य और मूल्यांकन के रूप में संबंधों में समाधान = सुख है।

व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी = समाधान = सुख है। अस्तित्व दर्शन, जीवन ज्ञान के रूप में सत्य नित्य समाधान =नित्य सुख है।

ऐसा देखा गया है यह प्रत्येक मानव को समझ में आता है। इन तथ्यों में प्रत्येक व्यक्ति सहज रूप में प्रमाणित हो सकता है। अस्तु, मानव जाति को मानव धर्म के आधार पर ही अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था के रूप में मानव के एक होने से सत्य को समझ सकता है। इस प्रकार मानव धर्म सुख है। ऐसा सुख जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन, मानवीयता पूर्ण आचरण सहज रूप में है। सर्वतोमुखी समाधान मानव सहज "स्वत्व" हो जाता है। इसके प्रमाण में व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी अपने आप न्याय, उत्पादन, विनिमय संबंधी समाधान है, फलस्वरुप मानव सुखी होता है।

(2) परिवार मूलक विधि से परिवार मानव होने के प्रमाण के रूप में, संबंधों की पहचान, मूल्यों का निर्वाह करता है, फलस्वरुप समाधान होता है।

मानव, मानवीय शिक्षा-संस्कार पूर्वक, जीवन-ज्ञान और अस्तित्व दर्शन सहज जागृति संपन्न होता है। फलस्वरुप सर्वतोमुखी समाधान जैसे- अस्तित्व में सहअस्तित्व, विकास, जीवन, जीवन जागृति, रासायनिक-भौतिक रचना-विरचना संबंधी निर्भ्रम ज्ञान संपन्न होता है। इसके फलस्वरुप, सर्वतोमुखी समाधान सहज अभिव्यक्ति होती है।

मानवीयतापूर्ण आचरण मूल्य, चरित्र, नैतिकता सहज अविभाज्य समाधानों को अभिव्यक्त करता है। फलस्वरुप समाधान प्रमाणित होता है।

स्वास्थ्य, संयमपूर्वक जागृति (सहज) को अभिव्यक्त करता है, फलस्वरुप सर्वतोमुखी समाधान सुलभ होता है।

मानव के जागृति सहज अभिव्यक्ति क्रम में वह आवर्तनशील अर्थ व्यवस्था को समझ पाता है और निर्वाह कर पाता है, इसलिए समाधान होता है।

जागृत मानव, अभिव्यक्ति सहज रूप में, मानव सहज व्यवहार में सफल हो जाता है । यह संबंधों, मूल्यों, मूल्यांकनों, दायित्वों, कर्तव्यों को निर्वाह करने के रूप में प्रमाणित होता है। इसलिए समाधानित होता है।

जागृत मानव की प्राप्त सत्तामयता में ये सहज स्थिति और गति होती है। अर्थात् अभिव्यक्ति, संप्रेषणा और प्रकाशन होता है। फलस्वरुप समाधानित होता है।

जागृत मानव मानवीयता पूर्ण आचरण करता ही है जीवन ज्ञान और अस्तित्व दर्शन ज्ञान संपन्न रहता है। इसलिए मानवीयतापूर्ण आचरण रुपी संविधान के प्रति जागृत रहता है, अत: समाधानित रहता है ।

जागृत मानव, सहज रूप में, जागृतिपूर्ण संचेतना का प्रमाण संपन्न रहता है । इसलिए मानव संचेतनावादी मनोविज्ञान अर्थात् मानसिकता सहज रूप में जीने की कला को व्यक्त करता है, फलत: समाधान ही होता है।

इसलिए मानव अपनी ही जागृति पूर्वक अथवा जीवन जागृतिपूर्वक सर्वतोमुखी समाधान सहज अभिव्यक्ति है यह समझ में आता है। इस प्रकार मानव धर्म सतत् वर्तमान है, समीचीन है। जागृत होना मानव की दीक्षा है, अभीप्सा है। इसकी संभावना है, इसलिए मानव धर्म के प्रति जागृति एक आवश्यकता है। अस्तु, मानव धर्म को खण्ड-विखण्ड नहीं किया जा सकता है, क्योंकि अखण्ड समाज के रूप में सार्वभौम व्यवस्था ही मानव धर्म है। समाधान का प्रमाण ही सुख है, सुख मानव धर्म है। इस प्रकार मानव से, मानव धर्म का वियोग होता नहीं, क्योंकि समाधान सार्वभौम है। इसलिए इसका प्रभाव सुख सार्वभौम है। समाधान अखण्ड है, भाग- विभाग होता नहीं।

ऊपर जो तर्क और विश्लेषण अस्तित्व सहज यथार्थ के आधार पर प्रतिपादित किया गया है, उसका निष्कर्ष यही निकलता है कि यह धरती विखंडित होती नहीं है, अखण्ड रहती ही है। भ्रमवश ही खण्ड- विखण्ड के रूप में मान्यता हो पाती है, जिसका परिणाम द्रोह, विद्रोह, शोषण और युद्ध है। अखण्ड मानव समाज और राष्ट्र का फलन समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व है। इस स्थिति को मानव कुल के प्राप्त कर लेने के उपरान्त अस्तित्व में अप्राप्त नाम को कोई चीज नहीं रह जाती है। सत्ता सहज व्यापकता के अनुभव, ईश्वर संबंधी वाद-विवादों का समाधान है। मानव ही जागृति पूर्वक देवी-देवताओं के पद में संक्रमित हो जाता है। यह जीवन जागृति पूर्वक बोधगम्य होता है। फलत: ईश्वर, देवता और आत्मा संबंधी रहस्यों से पूर्णत: मुक्त हो जाता है। इसी के साथ अज्ञात नाम की कोई वस्तु अस्तित्व में नहीं रह जाती है।

मानव धर्म सहज अखण्डता ही अखण्ड समाज और सार्वभौम व्यवस्था है। सार्वभौम व्यवस्था मानव परंपरा में स्थापित होना और उसकी निरंतरता होना नियति सहज है, इसलिए परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था क्रम में विश्व परिवार और विश्व व्यवस्था सहज रूप में ही मानव कुल को सुलभ होता है। इसे प्राप्त कर लेना ही मानव परंपरा की अक्षुण्णता, संप्रभुता, प्रभुसत्ता, मानवीयता सहज प्रबुद्धता है। इसे हम मानव जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान और मानवीयता पूर्ण आचरण ज्ञान सहज मौलिकता के आधार पर प्राप्त कर सकते हैं। इससे मानव कुल को ग्रसित द्रोह, विद्रोह, शोषण और युद्ध संबंधी सभी विकार दूर हो जावेंगे। समुदाय चेतना से अखण्ड मानव समाज चेतना में प्रत्येक मानव को संक्रमित होना मानव परंपरा सहज प्रणाली से सहज सुलभ हो जाता है। यही मानव परंपरा में निरंतर समाधान, सुख, सौंदर्य सहज उत्सव हैं। इस विधि से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि समुदाय परंपरा में मतों के आधार पर (अर्थात् भीड़) मान्य हुआ है। जबकि अस्तित्व सहज रूप में मानव समाज होना सहज ही समझ में आता है।

मानव जाति एक है यह मूलत: मानव धर्म के आधार पर आधारित है। कर्म के आधार पर आधारित जातियाँ क्लेशों का पुलिंदा हो गई। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव धर्म के वैभव में ही मानव जाति की एकता, अखण्डता समझ में आती है। मानव जाति की समानता के आधारों को ऊपर विविध प्रकार से समझाया गया है।

6) प्रकाशन और प्रतिबिम्ब

अस्तित्व में प्रत्येक एक प्रकाशमान है। प्रकाशमानता के मूल में सत्ता में संपृक्त बल संपन्न रहना ही है। बल संपन्नता ही प्रत्येक एक में क्रियाशीलता का मूल तत्व है। प्रत्येक क्रिया श्रम, गति, परिणाम के रूप में स्पष्ट है ।

सत्ता अर्थात् स्थिति पूर्ण सत्ता में संपूर्ण वस्तुओं का संपृक्त एवं स्थितिशील होना देखने को मिलता है। 'स्थिति' बल का ही द्योतक है। बल स्थिति में होता है। शक्ति गति रूप में वर्तमान है। स्थिति और गति अविभाज्य है। गति ही शक्ति के नाम से ख्यात है। शक्तियाँ सम, विषम, मध्यस्थ रूप में प्रकाशित होती हुई देखने को मिलती हैं। संपूर्ण वस्तु स्थिति का, गति सहित वर्तमान होना पाया जाता है। इसी को "स्थितिशील" नाम दिया गया है। स्थितिशील प्रकृति में विकास बीज समाया रहता है, क्योंकि स्थिति पूर्ण में संपृक्त प्रकृति का पूर्णता में, से, के लिए गर्भित होना सहज है।

(1) बिम्ब का प्रतिबिम्ब :-

सहअस्तित्व सहज रूप में ही अविभाज्य वर्तमान के रूप में स्थितिपूर्णता में स्थितिशीलता वर्तमान होना दिखता है। दूसरे शब्दों में, स्थितिपूर्णता में स्थितिशीलता वर्तमान होना दिखता है। इसी आधार पर हम इस बात को अच्छी तरह समझ सकते हैं कि स्थितिशील प्रकृति का क्रियाशील रहना, इसी में श्रम, गति, परिणाम के रूप में वर्तमान में प्रकाशित व प्रमाणित हैं। अस्तित्व में संपूर्ण भौतिक-रासायनिक वस्तुएँ, परिणामानुषंगीय विधि से, अपने 'त्व' सहित व्यवस्था में प्रमाणित व समग्र व्यवस्था में भागीदारी के रूप में विद्यमान है। व्यवस्था में भागीदार होना नित्य प्रमाणित है। प्रत्येक इकाई रूप, गुण, स्वभाव, धर्म सहज अस्तित्व है। इनका ससम्मुखता में प्रतिबिम्बित, परस्परता में प्रभावित, आदान-प्रदान रत होना और मूल्यांकित होना पाया जाता है।

प्रत्येक में अनंत कोण संपन्नता के आधार पर ससम्मुखता में बिम्ब का प्रतिबिम्ब होना पाया जाता है। परस्परता में प्रतिबिम्बन वस्तु का परस्पर पहचानने का प्रमाण है। गुण, शक्तियों के रूप में एक दूसरे पर प्रभावित करना भी पाया जाता है। यही प्रभाव व प्रभाव क्षेत्र है। यह दोनों क्रिया जड़ प्रकृति में देखने को मिलती हैं। जीव प्रकृति में मूल्यांकन अर्थात् स्वभाव की पहचान जीवों में देखने को मिलती हैं। यह विशेषकर मैत्री और विरोध करने के रूप में स्पष्ट होती है। मानव ज्ञानावस्था सहज वैभव है, इसलिए स्वभावों का मूल्यों के रूप में आदान-प्रदान, धर्म का मूल्यांकन अर्थात् समाधान का मूल्यांकन परस्परता

में सहज रूप में होना पाया जाता है। जीवों में, स्वभावों की पहचान अपनी वंश परंपरा में और वंशों की परस्परता में प्रकट होना पाया जाता है।

बिम्ब स्वयं में आकार, आयतन, घन के समान होता है। इकाई का चौखट इसी स्वरुप में होता है अथवा इसकी सीमा इसी स्वरुप में होती है। प्रत्येक एक सभी ओर से सीमित रहता ही है। प्रत्येक एक के सभी ओर सत्ता दिखाई पड़ती है। प्रत्येक एक सत्ता में ही दिखाई पड़ता है, इसलिए घिरा हुआ, डूबा हुआ प्रमाणित होता है। सत्ता पारगामी है। प्रत्येक एक ऊर्जा संपन्न, बल संपन्न और क्रियाशील है। इस आधार पर यह प्रमाणित है। इन प्रकरणों के अलावा और भी एक अद्भुत बात ध्यान में रखने योग्य है कि हर परस्परता में सत्तामयता देखने को मिलती है, जिसको हम शून्य, व्यापक, विशालता, अवकाश आदि नाम दे रखे हैं। यह सब एक ही वस्तु है, जिसकी वास्तविकता वर्तमान और व्यापकता है। व्यापक वस्तु न हो, ऐसी कोई स्थली कहीं नहीं है। यही सत्यता, सत्तामयता स्वयं व्यापक होने के तथ्य को, स्पष्ट करता है।

किसी वस्तु को, किसी वस्तु की अपेक्षा में केवल नापा जा सकता है। नाप-तोल का सभी प्रबंधन, मानव सहज आवश्यकता व कल्पनाशीलता की उपज है। हर वस्तु अपने रूप, गुण, स्वभाव और धर्म तथा उसके वातावरण से संपूर्ण है। आकार, आयतन, घन को नापना संभव है। सभी गुणों को नापना सभव नहीं है। सम, विषम आवेशों को नापना संभव हुआ है। मध्यस्थ बल वर्तमान व स्वभाव गति के मूल में मध्यस्थ शक्ति का होना जाना जाता है । मध्यस्थ शक्ति को नापना संभव नहीं हो पाया है। जबकि मध्यस्थ शक्ति ही नियंत्रक है, इसे मानव समझ और समझा सकता है। इस आधार पर सम, विषम प्रभाव परस्परता में होना देखा जाता है। ऐसी प्रभावन क्रियाकलापों में मात्रात्मक परिवर्तन होना पाया जाता है। ये सब चीजें मानव में दृष्टा विधि से ही समझ में आता है। मानव में न्याय, धर्म, सत्य दृष्टियाँ और कल्पनाएँ भ्रमवश अस्पष्ट रहते हुए भी बहुत दूर-दूर तक दौड़ती हैं। इसी के आधार पर देखना बन पाता है। देखने का तात्पर्य समझना ही है। समझा नहीं तो देखा नहीं। समझने की संपूर्ण वस्तुएँ है-

स्थिति सत्य,

वस्तु स्थिति सत्य,

वस्तुगत सत्य।

स्थिति सत्य अपने आप में सत्ता में संपृक्त जड़-चैतन्य प्रकृति के रूप में वर्तमान है। जिसकी समझदारी अर्थात् दर्शन मानव में, से, के लिए ही संभव व प्रमाणित होता है, जिसमें पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था और ज्ञानावस्था, ये सभी अवस्थाएँ अविभाज्य रूप में सत्ता में संरक्षित व नियंत्रित रहना पाई जाती हैं।

वस्तु स्थिति सत्य "दिशा, काल, देश" के रूप में स्पष्ट है। परस्परता में दिशा है। इकाई में अनंत कोण हैं। हर वस्तु देश के रूप में उसी के रचना के समान होता है। क्रिया की अवधि, काल के रूप में, अस्तित्व में ही मानवकृत गणना है।

वस्तुगत सत्य प्रत्येक एक में रूप, गुण, स्वभाव, धर्म सहित दृष्टव्य हैं।

रूप के आधार पर परस्परतायें नियंत्रित रहना परमाणु, अणु, अणु रचित पिंडों में देखने को मिलता है। रूप और गुण के आधार पर संपूर्ण प्राणावस्था की कोषा और कोषाओं से रचित सभी रचनाएँ नियंत्रित रहना स्पष्ट हैं। जीवावस्था के रूप, गुण, स्वभाव के आधार पर नियंत्रित रहना देखने को मिलता है। इसी आधार पर मानव का रूप, गुण, स्वभाव, धर्म के आधार पर नियंत्रित होना समीचीन है।

प्रतिबिम्बन, सहजता से प्रकाशमानता है और इसमें प्रकाश समाया रहता है, जो अनुबिम्बन और प्रतिबिम्बन में वैभव है। वस्तुत: परस्पर सम्मुखता ही है, प्रतिबिम्बन होना और पहचानना। अस्तु, प्रत्येक वस्तु अपनी संपूर्णता के साथ व्यक्त रहता ही है। प्रतिबिम्बन परस्पर भास होने के लिए अति आवश्यकीय तत्व है। प्रतिबिम्बन मध्यस्थ स्थिति का ही द्योतक है। धरती मध्यस्थ स्थिति में है, संपूर्णता के साथ है। इसका प्रतिबिम्बन सभी ओर होता है। इसी प्रकार धरती में जितनी वस्तुऐं हैं सभी अपनी संपूर्णता के साथ प्रतिबिम्बित रहती ही हैं। सूर्य, सौरव्यूह, अनंत सौर व्यूह एक दूसरे पर प्रतिबिम्बित रहते हैं। इस प्रकार प्रतिबिम्बन, परस्पर प्रकाशमानता और प्रकाश का ही स्वरुप है। अस्तु, प्रकाशन और प्रतिबिम्बन, गति या दबाव नहीं है। यद्यपि प्रत्येक वस्तु में निहित गुणों का परार्तवन होना पाया जाता है। जैसे- ऊष्मा, चुम्बकीयता, विद्युत, भार ये सब एक दूसरे पर प्रभाव डालते हैं। प्रभाव क्षेत्र भी इन्हीं का वैभव है।

इसी आधार पर ऊष्मा, चुम्बकीयता व विद्युत प्रभाव परावर्तित होती है। तप्त बिम्ब की स्वभाव गति, जो विकास क्रम के अनुसार स्पष्ट हो चुकी है। ऐसी स्थिति स्थापित होने के लिए संपूर्ण वातावरण, धरती सहित अनेक कम ताप वाले ग्रह गोल सूर्य से परावर्तित अधिक ताप को आबंटित कर लेते हैं। फलस्वरुप सूर्य का पूरकता विधि से अधिक ताप से मुक्त होने की संभावना भी बनी रहती है।

ताप मूलत: किसी इकाई के आवेश के समान होता है। कोई ग्रह-गोल में अंत: आवेश जितना अधिक होता है, उतना ही न्यून और न्यूनतम संख्यात्मक अंशों के परमाणु प्रजाति के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इसी क्रम में परम तप्त बिम्ब के रूप में जो सूर्य है, उसमें जितनी भी वस्तुएँ है, वह सब न्यून संख्यात्मक परमाणु प्रजाति के रूप में ही अवस्थित हैं। जैसे-जैसे सूर्य ठंडा होता जायेगा, उसी में पूरक नियम के

अनुसार अनेक संख्यात्मक प्रजाति के परमाणु स्थापित हो जाएँगे। इस प्रकार सूर्य में ऊष्मा का परावर्तन बिम्ब का प्रतिबिम्बन स्पष्ट हो जाता है।

(2) बिम्ब का प्रतिबिम्ब, अनुबिम्ब, प्रत्यानुबिम्ब होता है :-

हर वस्तु का प्रतिबिम्बित होना और प्रकाशित रहना, सहज सत्य है। ऐसी प्रतिबिम्बन क्रियाओं में तप्त परम बिम्ब का प्रतिबिम्बन भी होता है। उसी के साथ अनुबिम्बन, प्रत्यानुबिम्बन होता है। जिसके ऊपर जिसका प्रतिबिम्ब पड़ा रहता है, वह वस्तु भी प्रतिबिम्बित होने वाली है। इस आधार पर अनुबिम्ब विधि स्पष्ट होती है। जो कुछ भी प्रतिबिम्बित है, वह प्रत्येक, जो जो प्रतिबिम्बन है, उसके समुच्चय सहित ही उसका अनुबिम्ब, प्रति अनुबिम्ब होना पाया जाता है।

इसे ऐसा भी समझ सकते है कि किसी एक व्यक्ति के ऊपर चार व्यक्तियों का प्रतिबिम्ब पड़ा हो, उसका प्रतिबिम्बन, उन सभी प्रतिबिम्ब में समेत होता है। पहले से जिसका प्रतिबिम्ब रहा है, वे सब अनुबिम्ब में गण्य होते हैं। अनुबिम्ब जिस पर आता है, उस पर प्रतिबिम्ब भी रहता है। इसी प्रकार प्रत्यानुबिम्ब होता है। इस विधि से प्रत्येक अपारदर्शक वस्तु की परछाई स्वयं, तप्त बिम्ब का प्रतिबिम्ब, अनुबिम्ब, प्रत्यानुबिम्ब विधि से, शनैः शनैः परछाई की लबाई छोटी होती जाती है। परछाई की लंबाई जहाँ समाप्त होती है, उसकी परछाई दिखाई नहीं पड़ती है।

इस प्रकार से, प्रकाश के टेढ़ी होने की परिकल्पना की जा सकती है, जबकि सत्य ऐसा नहीं है। सत्यता यही है कि अनुबिम्ब, प्रत्यानुबिम्ब विधि से प्रकाशन, परछाई के सभी ओर निहित रहती है। विरल अणुओं पर अनुबिम्ब, प्रत्यानुंबिंब विधि से फैलने के आधार पर परछाई प्रकाश में ही छुप जाती है। ये तप्त परम बिम्ब का, प्रकाशन विधि क्रम है। कम या सामान्य ताप बिम्ब का प्रतिबिम्ब भी स्वाभाविक रूप में परस्परता में रहता ही है।

7) गुण, प्रभाव व बल

गुण की परिभाषा गण्यात्मक गति अथवा जिन गतियों की गणना की जा सकती है। जब गुण का तात्पर्य गति ही है, तब गति का ही नाम क्यों न प्रयोग में लाया जाय, गुण का नाम लेने का क्या आवश्यकता है? इसका सहज उत्तर यही है कि यह अस्तित्व सहज है। गुण शब्द से गति अवश्य इंगित होती है, परन्तु संपूर्ण की गणना नहीं होती है। गतियाँ सम, विषम, मध्यस्थ गति में समझने में मिलती हैं। सम गतियाँ विकास और गुणात्मक विकास के क्रम में प्रमाणित होती हैं। जबकि विषम गतियाँ गुणात्मक विकास के स्थान पर ह्रास घटना को स्पष्ट कर देती हैं। मध्यस्थ गति इन्हें संतुलित बनाए रखता है। अर्थात् यथास्थिति को बनाये रखने में, यथास्थिति को पोषण करने में, अक्षुण्ण बना रहता है। गुण शब्द में ये तीनों प्रकार की गतियाँ सम्बोधित हो पाती हैं। इसीलिए गुण शब्द का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि सम, विषम, मध्यस्थात्मक गति का संयुक्त नामकरण ही गुण है।

बल और गति, इस दिग्दर्शन में हैं। प्रत्येक वस्तु में बल संपन्नता का प्रमाण, अस्तित्व सहज है। सत्ता में संपृक्त होना ही बल संपन्नता का सूत्र, अस्तित्व में वर्तमान है। वर्तमान में संपूर्ण परमाणुओं का होना पाया जाता है। गति अपने में स्थानांतरण की व्याख्या है, परिवर्तन का सूत्र है। बल अपने स्थिति सहज व्याख्या है। इस प्रकार बल और शक्ति की अविभाज्य वर्तमान में ही परिभाषा और व्याख्या स्पष्ट है। यह मानव में, धरती में, परमाणु में, अनंत में घटित है। धरती में सूर्य स्थानांतरित होता हुआ देखने को मिलता है। सूर्य बिम्ब यथावत् ही दिखता है। सूर्य अपने सहज स्थिति व गति को स्पष्ट किया ही है, इसे देखा भी जा सकता है। इसलिए स्थिति और गति अविभाज्य है, इस बात को स्वीकार कर सकते हैं। बल स्थिति में और गति शक्ति में गण्य हो पाता है। बल को दबाव और शक्ति को प्रवाह के रूप में पहचाना गया है। दबाव स्थिति का तथा प्रवाह गति का द्योतक हैं। इसी के आधार पर विद्युत चुम्बकीय आदि बलों को अध्ययनगम्य और सार्वभौम रूप में देख चुके है अथवा देख सकते हैं।

बल ही गुणी के नाम से भी जाना जाता है क्योंकि गुणी और गुण की अविभाज्यता है।

1. गुण विहीन गुणी और गुणी के बिना गुण पहचानने में नहीं आता।
2. ये विभक्त होते नहीं।
3. ये विभक्त है नहीं।
4. इसे विभक्त किया नहीं जा सकता।

इस प्रकार विकास विधि संपन्न विज्ञान, वैज्ञानिक नियमों में, से, यह भी एक प्रमुख नियम है कि बल और शक्ति अविभाज्य है। बल ही गुणी एवं शक्ति ही गुण है।

इस आधार पर हर शक्ति के मूल में बल होना आवश्यक है। इसलिए शक्ति और बल के सहअस्तित्व को स्वीकारते हुए सोचने पर अस्तित्व वैभव को समझना संभव हो जाता है। शून्य आकर्षण की स्थिति में प्रत्येक एक अपने स्थिति-गति के अनुसार, अक्षुण्ण हो जाता है। यह स्थिति-गति की निरंतरता सामरस्यता सिद्धांत है। इसे इस धरती, सूर्य, ग्रह-गोलों की स्थितियों को देखते हुए समझ सकते हैं। यह धरती अपनी स्थिति में, गति में अक्षुण्ण है। इसीलिए इसका स्वभाव गति में होना प्रमाणित है। इन्हीं ग्रह-गोल, नक्षत्रों को देखने पर यह भी पता लगता है कि यह सब शून्य आकर्षण में हैं। शून्य आकर्षण में होने का फल यही है कि स्वभाव गति रूप में, स्वभाव गति स्थिति अक्षुण्ण रहे आया। शून्य आकर्षण में होना, स्वभाव गति प्रतिष्ठा है, इसका प्रमाण यह धरती स्वयं प्रकाशित है। इसी क्रम में और तथ्य मिलता है कि शून्य आकर्षण की स्थिति में, प्रत्येक ग्रह गोल में समाहित संपूर्ण वस्तुएँ, उसी ग्रह गोल के वातावरण सीमा में ही रहते है, चाहे वे वस्तुएँ स्वभाव गति में हो या आवेशित गति में। इसका प्रमाण सूर्य को देखने पर मिलता है। सूर्य में संपूर्ण वस्तुएँ विरल अवस्था में होना दिखाई पड़ता है। कोई ग्रह-गोल में स्थित वस्तु, यदि आवेशित हो सकता है, तो सूर्य में वस्तु जितना आवेशित है, उतना हो सकता है। इसके बावजूद सूर्य अपनी संपूर्ण मात्रा (संपूर्ण वस्तु) सहित ही कार्यरत है।

स्वयं में ग्रह-गोलों में निहित वस्तुओं के आवेशित होने के कारणों की ओर ध्यान देंगे। प्रत्येक ग्रह-गोल में, जैसे इस धरती में किसी तादाद तक विकिरणीय द्रव्यों के रहते, सभी अवस्थाओं का संतुलित रहना पाया जा रहा है। संतुलन का तात्पर्य सभी अवस्थाओं की वर्तमानता से है, अथवा चारों अवस्थाओं को वर्तमान होने से है और इनके अंतरसंबंधों में सहअस्तित्वरुपी प्रमाण के वैभव से हैं। यह भी मानव के सम्मुख स्पष्ट है कि चरम तप्त अर्थात् सर्वाधिक तप्त स्थिति में सूर्य की गणना की जा चुकी है। सूर्य में होने वाले ताप का परावर्तन, इस धरती में पहुँचना देखा जा रहा है। सूर्य (के) सहज बिम्ब के प्रतिबिम्ब, अनुबिम्ब और प्रत्यानुबिम्ब को प्रकाश के रूप में देखा जा रहा है।

धरती की सतह के नीचे स्थित और पूरकता विधि से कार्यरत इन विकिरणीय द्रव्यों को भ्रमित मानव धरती की सतह पर लाकर हस्तक्षेप कर रहे हैं। इससे नाभिकीय सहज मध्यस्थ क्रिया (मध्यस्थ बल और शक्ति) आवेशित अंशों को संतुलित करने में असमर्थ हो जाते है एवं विस्फोट हो जाता है। अजीर्ण परमाणु अपने स्वरुप में विकिरणीय होना पाया जाता है। विकिरणीय द्रव्य की परिभाषा ही है कि विकिरणीय परमाणुओं में परमाणु सहज ऊष्मा अथवा अग्नि अंतर्नियोजित होने लगती हैं। इस सूत्र से भी यह स्पष्ट होता है कि

आवेशित (हस्तक्षेपित) स्थिति में अंतर्नियोजित ऊष्मा का दबाव इतना अधिक हो जावे कि जिससे नाभिकीय द्रव्य विस्फोटक स्थिति में पहुँचे।

यह अब तर्क संगत लगता है कि सूर्य में सर्वाधिक अजीर्ण परमाणु में आवेश तैयार हो गए। फलस्वरुप नाभिकीय विस्फोट होने लगा। उसका प्रभाव विस्फोट का आधार बना। इस ढंग से सूर्य में समाहित सभी द्रव्य, विस्फोट कार्य में व्यस्त हो गए। इसके पक्ष में आज के चोटी के विज्ञानी, इस धरती पर कहते हुए पाये गये है कि अभी जितना नाभिकीय विस्फोटक बनाम एटम बम आकाश में, धरती में और समुद्र में रखे गये है, उन में यदि विस्फोट हो जाएँ तब क्रमिक रूप में प्रत्येक परमाणु के नाभिकीय विस्फोट की स्थिति आ जाएगी।

एक और तरीके से कल्पना किया जा सकता है, इस धरती में ये विज्ञानी, नाभिकीय विस्फोट सिद्धांत को अच्छी तरह समझ गये हैं। उसका विस्फोट करने में पारंगत भी हो गए है, और उसके लिए तैयारी भी कर लिये हैं। इतना तो अपना जीता-जागता, देखा-भाला तथ्य है। अस्तु, सूर्य में स्वाभाविक रूप में, इस धरती के जैसे ही चारों अवस्थाओं का विकास हो चुका रहा हो। इस धरती में जैसा विज्ञानी अपनी महिमा वश, इस धरती को सूर्य जैसा बदलने के सारे उपाय कर लिये है, वैसे ही सूर्य में भी ऐसी तैयारी, विज्ञानी लोग किये हों? अभी यहाँ यह प्रयोग सिद्ध नहीं हुआ है। वहाँ यदि प्रयोग सिद्ध हो गया, तब उस स्थिति में यह कह सकते है कि श्रेष्ठतम विज्ञानी ही ऐसे कार्यों को संपन्न किये हो।

"जो मूल वस्तु जिस वस्तु से बना रहता है वह उसके मूल वस्तु के समान है" जैसे-

(1) मिट्टी से कितनी भी, कोई भी वस्तु बनावें, वह सब मिट्टी के समान ही हैं। उनका न तो मात्रात्मक परिवर्तन होता है, न ही गुणात्मक परिवर्तन होता है। परिवर्तन ही विकास या ह्रास को माना जाता है। पदार्थावस्था में जितने प्रकार की वस्तुएँ है, उनमें से अधिक वस्तुओं के संयोग से भी, वस्तुओं को बनाकर देखा जाए, तो भी संयोग में आई सभी वस्तुएं, मूल वस्तुओं के समान ही होते हैं।

(2) प्राण कोषाओं से बनी हुई अथवा रची हुई रचनाएँ अपने मूल रूप में वह प्राणकोषा के समान ही होता है। प्राणकोषाएँ मूलत: रासायनिक वैभव की अभिव्यक्ति है। रासायनिक मूल द्रव्यों का स्वरुप भौतिक पदार्थ ही हैं। रासायनिक परिवर्तन में एक से अधिक प्रजाति की तात्विक अणुएँ अपने निश्चित आचरणों को त्याग कर तीसरे प्रकार के आचरण के लिए तैयार हो जाते हैं। यह तभी तक उसी क्रियाकलाप में अपने को व्यस्त रख पाते है, जब तक भौतिकता का वर्तमान सानुकूल रहता है। जब

कभी भी इसकी सानुकूलता समाप्त हो जावें, अथवा प्रतिकूल रूप में बदल जावें तब प्रतिकूल भौतिकी वातावरण में रसायन क्रियाकलाप और रासायनिक वैभव देखने को नहीं मिलता है।

जैसे अभी चन्द्रमा पर कोई रासायनिक वैभव दिखता नहीं है, इसी प्रकार सूर्य में भी ऐसी क्रियाकलाप संभव नहीं है। इसलिए भौतिकता सानुकूल होना अनिवार्य शर्त है। ऐसी अनुकूल स्थिति को भौतिक क्रियाकलाप बना लेते हैं। यह साक्ष्य इस धरती में स्पष्ट है। इसी प्रकार प्राण कोषा, रासायनिक कार्यक्रम, रचनाओं के रूप में और रासायनिक वैभव अर्थात् भौतिक सानुकूलता अर्थात् रासायनिक द्रव्यों के लिए भौतिक वस्तुओं की उपलब्धि, ये सभी चीजे तभी समझने को मिली। इससे हमें यह स्पष्ट होता है और अध्ययनगम्य होता है तथा विश्वास होता है कि रासायनिक द्रव्य जब कभी ह्रास गति को प्राप्त करते है, भौतिक वस्तुओं के रूप में रह जाते हैं।

इसीलिए रचना-विरचना का इतिहास, इस बात को स्पष्ट कर देता है कि पदार्थावस्था से प्राणावस्था उदात्तीकरण है और प्राणावस्था से पदार्थावस्था पूर्वोदात्तीकरण है। यही प्राणपद चक्र की लंबाई, चौड़ाई, ऊँचाई है। प्राणावस्था की कोषाएँ अपने स्वरुप में, भौतिक वस्तु से भिन्न होती हैं। रासायनिक द्रव्य के समान ही होते हैं। रासायनिक द्रव्य जो प्राणावस्था की रचना में अर्पित हुए है अथवा प्राणावस्था की रचना के रूप में जितनी भी मात्रा रसायनों की बनी रहती है, उन सबका समान रूप में गुण और मात्रा रसायनिक द्रव्य में ही हो पाता है। रासायनिक वैभव में सभी वस्तुएँ जो समाहित रहते है, वे सब अन्य द्रव्यों के अनुकूल-प्रतिकूलताएँ परिवर्ती रूप में दिखते हैं। मूलत: यह भौतिक वस्तुएँ हैं। जैसे दूध परवर्ती रस है। मूलत: यह भौतिक वस्तु ही है। इसी प्रकार पानी, इसी प्रकार अम्ल-क्षार आदि पुष्टि, पुष्टितत्व, पुष्टि रस, ये सब के सब मूलत: वस्तुएँ रासायनिक क्रियाकलापों में अपने को व्यक्त करते समय में गेहूँ, चावल, दाल, फल आदि रुपों में दिखते है। क्षार, अम्ल और पुष्टि रसों के निश्चित मात्रात्मक संयोग से जैसे - खट्टा, मीठा, तीखा आदि रूपों में मानव आस्वादन करता है। अस्तु, रसायन और प्राणकोषाओं से रचित सभी रचनाएँ प्राण कोषाओं के समान ही होते है, रचनाएँ भले विविध प्रकार की क्यों न हो।

इस क्रम में निरीक्षण कर निर्णय लेने का मूल मुद्दा यही है कि प्राण कोषा के मौलिक स्वरुप को समझना उससे रचित सभी रचनाओं को, उससे अधिक हुआ या नहीं हुआ इस बात का परीक्षण करना है। इस प्रक्रिया में यह पाया गया कि प्रत्येक प्राण कोषा में मौलिक अभिव्यक्ति, जो पदार्थ अवस्था में चिन्हित रूप में नहीं थी, वह श्वसन क्रिया और प्रजनन क्रिया है। यही प्राण कोषा का मौलिक कार्य है। प्राण कोषा से रचित यही कार्य देखने को मिलता है । रचना कार्य, रचना की प्रक्रिया, पदार्थावस्था में संपन्न हो चुकी है,

जिसको मानव ने देखा। इस प्रकार पदार्थ अवस्था से अधिक कोई आचरण, प्राणावस्था में व्यक्त हुआ, वह है - श्वसन क्रिया और प्रजनन क्रिया। अस्तु, मूलत: प्राणकोषाएँ समान है।

मानव यह देख पा रहा है कि धरती पर प्राणावस्था की रचनाएँ अन्न-वनस्पतियाँ बड़े-बड़े झाड़, पौधे, लता, गुल्म आदि रुपों में दिखाई पड़ रही है। इसके अनंतर जीवावस्था में जितनी भी शरीर रचनाएँ है, वे सब प्राण कोषाओं से रचित हुई है और मानव शरीर भी इसी भाँति प्राणकोषाओं से रचित रचनाएँ हैं। मानव शरीर भी अपने स्वरुप में प्राण कोषा से अधिक नहीं होता। यह प्राणकोषा के समान ही होता है। प्राणकोषा में श्वसन क्रिया मौलिक है और रचनाओं के आधार पर अर्थात् जिन-जिन रचनाओं में भागीदारी करना है अथवा निर्वाह करना है वे-वे रचना विधि सूत्र, प्राण कोषाओं में समाए रहते हैं। रचना का मूल स्वरुप भौतिक रचना क्रम में देखा जाता है । इसी क्रम में प्राण-कोषाओं की रचना विधि प्राण कोषाओं में सूत्रित रहता है । ऐसी कोषाएँ जिस रचना में भागीदारी निर्वाह करती है, वे दो प्रजाति के होते है-

1. बीजानुषंगी सूत्र,
2. वंशानुषंगी सूत्र।

वंशानुषंगी सूत्र के अनुसार ही भूचर, नभचर, जलचर और वंश का सूत्र, उन-उन प्रजातियों के क्रम में, शुक्र-डिम्ब सूत्र के रूप में देखने को मिलता है। शुक्र-डिम्ब सूत्र के पहले जो कुछ भी प्राण कोषाओं से रचित शरीर कार्य करते रहा है, वे सब स्वेदज प्राणियों के रूप में देखने को मिलता है (स्वदेज प्राणी याने पसीने से पैदा हुआ)। इस विधि से शुक्र कीट और डिम्ब कीट प्रणाली के अनन्तर वंश प्रणाली का, उसके पहले वनस्पतियों में पदार्थ के आधार पर स्त्री पराग, पुरुष पराग के आधार पर बीजों का होना और बीज से वृक्षों का होना देखा जाता है । अधिकांश रूप में इसी विधि से देखने को मिलता है। जीव शरीरों, मानव शरीरों में, डिम्ब शुक्र संयोग के आधार पर भ्रूण एवं भ्रूण के आधार पर संपूर्ण अंग अवयवों की रचना विधि देखने को मिलती हैं। इसकी रचना स्थली गर्भाशय में व्यवस्थित है। ऐसी शरीर रचना में मेधस रचना भी एक प्रधान भाग है। मानव शरीर रचना में ही समृद्ध पूर्ण मेधस रचना पाई जाती हैं। हृदय आदि सभी प्रधान अंग-अवयवों सहित शरीर की संपूर्ण मौलिकता, श्वसन क्रिया करना ही उपलब्धि है। मूल प्राण कोषा में भी श्वसन क्रिया ही मौलिक पहचान का आधार रहा है। उसी प्रकार मानव शरीर रचना के उपरान्त भी उतनी ही मौलिकता देखी गई।

ऐसे शरीर को चलाने वाला जीवन ही होता है। जो आशा, विचार, इच्छा, ऋतम्भरा एवं प्रमाण के रूप में ही शरीर संचालन में प्रमाणित होता है। ऐसा जीवन शरीर को, जीवंतता प्रदान किये रखता है। आशा आदि के अनुरुप इंद्रियाँ संचालित हो पाती हैं। इस विधि से, शरीर और जीवन को संयुक्त रूप में होना सहज

रहा है। जीवन, अपने अनुसार, जागृति क्रम में जागृति पूर्णता को व्यक्त करने के लिए मानव शरीर को संचालित करता है। यह परंपरा में प्रमाणित है। जीवन, शरीर को जीवंतता प्रदान करने के क्रम में भ्रमवश शरीर को, जीवन मानना आरंभ करते हुए, न्याय का याचक (न्याय पाने के इच्छुक) सही कार्य-व्यवहार करने को इच्छुक और सत्य वक्ता के रूप में होने कि स्थिति में, जीवन का आशय पूरा होना सहज नहीं है। अभी तक जागृत परंपरा न होने के कारण, आकस्मिक रूप में ही कोई-कोई जागृत हो पाते हैं। जिसके लिए अप्रत्याशित विधियों को अपनाना भी पड़ता है। परंपरा से, जीवन की प्रत्याशा, न्याय प्रदायिक क्षमता प्रमाणित होने के लिए दिशा, ज्ञान, दर्शन और आचरण परंपरा में प्रमाण के रूप में मिल जाए, उसके आधार पर प्रत्येक विद्यार्थी को संस्कार पूर्वक शिक्षा मिल जाए, यही मूल आवश्यकता है।

इसी के साथ सही कार्य-व्यवहार करने को प्रमाणों सहित अभ्यास संपन्न होने की संस्कार व्यवस्था, कार्य व्यवस्था सुलभ रूप में पंरपरा से सबको मिलने पर ही तथा सहअस्तित्व रूपी परम सत्य में अनुभव करने का मार्ग स्पष्ट हो जाने से ही मानव परंपरा का गौरव प्रमाणित होता है। ऐसी परंपरा को लाने के लिए, स्थापित होने के लिए, समाधानात्मक भौतिकवाद एक कड़ी है। और इस क्रम में यह तथ्य अवगाहन होना एक आवश्यकीय तत्व है कि जो जिससे बना रहता है अर्थात् जिससे रचित होता है चाहे कितनी भी बड़ी रचना हो, मूलत: जो वस्तु है वह समूची रचना उतनी ही है। जैसे - यह धरती निश्चित संख्यात्मक प्रजात्यात्मक परमाणुओं, अणुओं, कोषाओं से रचित रचनाएँ यह पूरी धरती उसी के समान ही है।

8) कृत्रिमता, प्रकृति और सृजनशीलता

कृत्रिमता का स्वरुप:- मानव अपने श्रम नियोजन पूर्वक, प्रकृति में जिस परिवर्तन को लाना चाहता है, वह परिवर्तन परंपरा में सुस्पष्ट नहीं हो, उसको कृत्रिमता के रूप में स्वीकार जाता है।

इसी क्रम में सभी प्रकार के यंत्र और आहार, आवास, अंलकार संबधी वस्तुएँ देखने को मिलती है। सभी यंत्रों का संचालन ईंधन विधि, चुम्बकीय विधि, विद्युतीय विधि के आधार पर देखा जाता है। इन तीनों प्रकार से मानव प्रेरित संचालित यंत्र दूरश्रवण, दूरदर्शन एवं दूरगमन के रूप में भी प्रमाणित है। इन तीनों प्रकार से प्रस्तुत होने वाली इकाई मानव ही है। इसका निर्माता भी मानव है। ऐसे निर्माण कार्यों को सृजनशील कहा जाता है। मानव क्रमागत विधि से अपनी संवेदनशीलता की तृप्ति के लिए दोनों प्रकार की आकांक्षाएँ जो मानव सहज रूप में होती है, उसकी संपूर्ण रूपरेखा को प्रमाणित कर लिया। जैसे - आहार, आवास, अंलकार संबंधी वस्तु और उपकरण। दूसरा दूरश्रवण, दूरदर्शन, दूरगमन संबंधी वस्तु और उपकरणों को तैयार करने की विधि, प्रक्रिया और प्रमाणों को प्राप्त कर लिया। इसी क्रम में समर तंत्र संबधी यंत्रों को भले प्रकार से प्राप्त कर लिया। परन्तु संवेदनशीलता का तृप्ति बिंदु नहीं मिल पाया। इस सब की प्राप्ति के बाद मानव को "समझना" ही अब मुख्य मुद्दा है। क्योंकि मनुष्य ही सभी प्रकार की आवश्यकता संबंधी वस्तुओं का निर्माता एवं भोक्ता है। संपूर्ण वस्तुओं को उपयोग अथवा सदुपयोग करने के क्रम में ही सामाजिक होना प्रमाणित होता है।

रुचि के अनुरुप जीने की विधि से सार्वभौमता नहीं बन पाती है। रुचियाँ सदैव ही इंद्रिय सन्निकर्ष की सीमा में स्पष्ट हुई है । मानव के जीने का वैभव अथवा मानव सहज जीने का वैभव अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था के रूप में प्रमाणित हो पाता है। समुदायों के रूप में जो कुछ भी जीने की विशेषताएँ है, इन सभी साधनों में विशेषकर दूरश्रवण, दूरदर्शन, दूरगमन संबंधी वस्तुओं का दुरुपयोग करता हुआ ही आदमी दिखाई पड़ता है। दुरुपयोग का तात्पर्य द्रोह, विद्रोह, शोषण, युद्ध कार्यों से अपराध और श्रृंगारिकता के प्रचारों से है, क्योंकि सभी यंत्र गति प्रदान करने के रूप में देखने को मिलते हैं। मनुष्य अपने हाथ-पैर, आँख और शब्दों से जो कुछ भी करते रहा है, उसी की गति को हजारों-लाखों गुना बढ़ाने के क्रम में दूरश्रवण, दूरगमन, दूरदर्शन जैसे यंत्रों को उपयोग में लाया जाना मानव परंपरा में प्रचलित हो चुका है। इनमें जो कुछ भी संप्रेषित होगा वह सब मानव की मानसिकता, कार्य और प्रवृतियों का ही गति और चित्रण हैं। प्राचीन काल में प्रवृतियाँ भय, प्रलोभन, आस्था और संघर्ष के रूप में स्पष्ट है। इसमें से प्रलोभन व आस्था मानव में स्वीकृत है भय व संघर्ष को अधिकांश लोग स्वीकारते नहीं है।

(1) कृत्रिमता से गति वृद्धि एवं मानव को न समझने के कारण शक्ति का दुरुपयोग :-

इस विधि से मानव अपने को सामाजिक और व्यवस्था योग्य अभिव्यक्ति के लायक जब तक नहीं हो पाता है, तब तक इन सभी यंत्रों, उपकरणों से समस्याओं की गति अथवा अपराधों की संख्या बढ़ते ही रहती हैं। सामुदायिक विधि से अपने-पराए की मानसिकता से कृत्रिमतापूर्वक मानव सहित प्रकृति पर शासन करने की मानसिकता में केवल अपराध और श्रृंगारिकता ही हैं। यही प्रचार-प्रसार का माध्यम है और उद्देश्य केवल सुविधा संग्रह ही बन पावेगा। इसलिए अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था प्रमाणित होते पर्यन्त मानव से इन यंत्रों का सदुपयोग करना संभव नहीं हो पायेगा। अस्तु, मानव को समाज और व्यवस्था को भली प्रकार से समझने के उपरान्त ही इन सभी यंत्रों का उपयोग, सदुपयोग विधि से ही हर परिवार को समृद्धि मानव परंपरा के लिए मिलेगा।

(2) कृत्रिमता की परिभाषा और उदाहरण :-

मानव ने ऐसी जितनी भी वस्तुओं को बनाया है, इसी को कृत्रिम कहा जाता है। मुख्य रूप से मानव का श्रम नियोजन जिसमें लग पाता है, जिस संयोग से अर्थात् प्राकृतिक ऐश्वर्य पर मानव का श्रम नियोजन से मानव की चाहत के अनुरुप कार्य संपन्न हो - ऐसी स्थिति को निर्मित कर लेते हैं। इसी को हम कृत्रिमता कहते है जैसे सीमेंट में लोहा मिलाकर घर बना लेते हैं। इसमें सभी वस्तुएँ प्राकृतिक हैं। सभी वस्तुएँ प्राकृतिक होने से सीमेंट बनाने में जो श्रम नियोजन किया, जिसमें वस्तुओं का संयोजन हुआ, फलत: सीमेंट का स्वरुप प्राप्त होता है। इसी उपलब्धि को कृत्रिम कहा जाता है । लोहा अपने स्वरुप में, प्राकृतिक होते हुए मानव में आशित आकार-प्रकार में उसे ढाल लेना ही, आवश्यकता बन पाती हैं। इसे सफल बनाने के क्रम में प्राकृतिक ऐश्वर्य पर श्रम नियोजन किया जाता है, फलत: वांछित रूप में लोहा मानव को मिलने लगता है। इसको सृजनता नाम दिया गया है। मिट्टी को दीवालों के आकार में, श्रम नियोजन पूर्वक रूप प्रदान किया जाता है इसको सृजनता कहा जाता है। इस प्रकार सभी यंत्रों को बनाना भी प्रकृति सहज वस्तुओं पर श्रम नियोजन पूर्वक वांछित स्वरुप, कल्पित स्वरुप देना ही सृजनता के प्रति अपने संबध और कृत्रिमता से प्राप्त वस्तु, इन दोनों को पहचानता है। इस सृजनता क्रम में, मानव का श्रम नियोजन ही, मुख्य तत्व है। कृत्रिमता विकास और जागृति के लिए प्रतिकूल होता है जबकि सृजनता विकास और जागृति को प्रमाणित करने के लिए पूरक विधि से किया गया कार्य-व्यवहार है।

(3) समृद्धि का आधार सूत्र :-

मनुष्य में श्रम नियोजन की क्षमता, सदा ही बनी रहती हैं। जीवन शक्तियाँ अक्षय है, इस कारण मानव आवश्यकता से अधिक वस्तुओं को निर्मित करने का अधिकार संपन्न है ही। मानव में अक्षय बल और अक्षय शक्ति को पहचाना जाता है, यही सूत्र मानव के समृद्ध होने का आधार है।

(4) सहअस्तित्व में अनुभव सहज समझदारी = समाधान। कृत्रिम कृषि परंपरा, कृत्रिम सड़क आदि निर्माण = निरर्थकता।

समाधान सहित ही समृद्धि का अनुभव होता है। समाधान मूलत: सहअस्तित्व सहज समझदारी है। सहअस्तित्व सहज वैभव है। अस्तित्व ही परम सत्य है। अस्तित्व सहज स्वरुप सत्ता में संपृक्त प्रकृति है। इस प्रकार अस्तित्व सहज समझदारी स्वयं समाधान है, यह त्रिकालाबाध सत्य है। मानव ही समझदारी के साथ जीता है या जीना चाहता है या जीने के लिए बाध्य है क्योंकि समझदारी के बिना मानव का स्वयं को व्यक्त करना संभव नहीं है। हर मानव स्वयं को व्यक्त करना चाहता ही है। समस्या की पीड़ा से मानव पीड़ित होता है। इस ढंग से मानव समस्या को वरता नहीं है या वरना नहीं चाहता है। इन आधारों पर समाधान ही मानव का शरण, वैभव व अपेक्षा है। समाधान अस्तित्व सहज है। अस्तित्व जैसा है, वैसे ही समझने की स्थिति में समाधान ही मानव को करतल गत होता है। संपूर्ण सृजनशीलता का उपाय मानव में जो कुछ भी सूझ-बूझ से इस रूप में आया है उसका सृजन भी निश्चित प्रयोजन है, जैसे:-

कृषि कार्य - यह स्वाभाविक रूप में मानव शरीर के आहार प्राप्ति के क्रम में होना पाया जाता है। आहार संबंधी समस्याएँ समाधानित होती हैं। ऐसे समाधान के साथ ही कृषि परंपरा समृद्ध होती हैं। कृषि के साथ मानव ने भूमि संरक्षण, जल संरक्षण, बीज संरक्षण के साथ ऋतु काल संयोगों की विधियों को अर्थात् धरती, बीज संयोग विधियों को पहचाना और समृद्ध हुआ। इनमें पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था और ज्ञानावस्था की परस्परता में और वर्तमान में विश्वास होना पाया गया।

दूसरे उदाहरण के तौर पर विविध प्रकार के मकानों को मानव ने तैयार किया। सड़क और सेतुओं को बना लिया। इनमें संयोजित सीमेन्ट लोहा के निर्माण प्रक्रिया में ईंधन संयोजन कृत्रिमता हुई। इन कृत्रिमताओं को देखने पर पता लगता है कि पदार्थावस्था (धरती) पर ही मानव का श्रम नियोजन हो पाता है। इन्हीं श्रम नियोजन के आधार पर कृत्रिमता को सृजनता के रूप में मानने के स्थान पर आ गए। इसी भ्रम के आधार पर प्रकृति पर विजय पाने की परिकल्पना तथा उमीद की गई। ये कल्पनाएँ मानव में निरर्थक सिद्ध हो गई अर्थात् यह तर्क संगत नहीं है।

(5) प्रकृति के साथ सहअस्तित्व ही समाधान है। यह मानव में होने वाली है, न कि सुविधा संग्रह में, न ही यंत्रो में :-

ऊपर कही गई सृजनता के साथ-साथ रेल मोटरों आदि यंत्रों, उपकरणों के संदर्भ में भी सामान्य रूप में ध्यान दिलाया गया। इन सभी संदर्भों को सामने में रखकर ध्यान देने पर पता लगता है कि धरती को हम गड्ढा कर सकते है, यह प्रकृति पर नियंत्रण नहीं है। हम पहाड़ को मैदान बना सकते है यह प्रकृति पर कोई विजय नहीं है। समुद्र के तल पर भी हम अपने संचार स्थापित कर सकते है, यह कोई प्रकृति पर विजय पाना नहीं हुआ। यह प्रकृति सहज मानवेत्तर प्रकृति द्वारा सहअस्तित्व की अभिव्यक्ति है, जबकि मनुष्य द्वारा इस सहअस्तित्व का निर्वाह नहीं किया जा रहा है।

सहअस्तित्व इस धरती पर मूलत: पदार्थावस्था पर ही प्राणावस्था, जीवावस्था और ज्ञानावस्थाएँ अविभाज्य रूप में वर्तमान रहती है। ऐसी पदार्थावस्था सहज वस्तुएँ ही मृद, पाषाण, मणि, धातु के रूप में सर्वाधिक मात्रा में व्यवस्थित रहती है - ऐसा पाया जाता है। इन्हीं सत्यतावश मानव ने अपनी कल्पनाशीलता, कर्मस्वतंत्रता को विविध प्रकार से चित्रित करने के प्रयासों में विविध यंत्र, उपकरणों को तैयार किया। आवास, अलंकार, आदि कार्यों को भी समृद्ध बनाया। मानव ने पदार्थावस्था सहज, वस्तुओं के "उपयोग-संयोग विधि" से संपूर्ण यंत्रों को प्राप्त कर लिया है। ये प्राप्त यंत्र एक भी ऐसे नहीं है जो पदार्थावस्था से प्राणावस्था के लिए सहायक हों। दूसरी तरफ मानव ने आवश्यकता से सुविधावादी के रूप में आवास, अलंकार, दूरश्रवण, दूरगमन, दूरदर्शन को उपयोग किया। उनमें से सर्वाधिक वस्तुएँ जैसे दूरश्रवण, दूरदर्शन एवं दूरगमन संबधी वस्तुएँ कोई समाधान का आधार नहीं बनी। इसी के साथ आवास अर्थात् सर्वाधिक विशाल मकान बना देने मात्र से वह मकान समाधान का आधार नहीं बनता। बहुत ज्यादा आहार और अलंकार संबधी (अन्न, सोना, चाँदी) द्रव्यों को इकट्ठा कर लेने मात्र से ही ये वस्तुएँ समाधान का आधार बन गई हों ऐसा कुछ नहीं हुआ। सार रूप में, वस्तुओं का संग्रह समाधान का मार्ग नहीं रहा। समाधान का आधार केवल मानव जागृति सहज वैभव ही है।

(6) मानव में समाधान अस्तित्व सहज सहअस्तित्व में अनुभव व प्रमाण है :-

मानव सहअस्तित्व में इन अंतर्सम्बन्धों को जानने, मानने, पहचानने, निर्वाह करने के रूप में समाधानित होता है। पदार्थावस्था से प्राणावस्था; पूरकता, उदात्तीकरण और प्राणावस्था से पदार्थावस्था के अंर्तसंबंध पूरकता और समृद्धि के रूप में है, यह समाधान है। इसका दृष्टा मानव ही है। प्राणावस्था से जीवावस्था की शरीर रचनाएँ प्राण सूत्र विधि से रचना सूत्र विधि में उदात्तीकरण तथा बीज परंपरा के स्थान पर वंश

परंपरा की स्थापना एवं उसकी निरंतरता दिखाई पड़ती है। कोई यंत्र ऐसा देखने को नहीं मिला कि अभी तक अथक प्रयास द्वारा बीजों से गुणात्मक परिर्वतन कर सका हो। मात्रा, तादाद में रूप में; गुणवत्ता प्रयोजनों के अर्थ में सार्थक है। स्तुषी पुष्टि हुई, इससे मात्रात्मक परिवर्तन ही हुआ न कि गुणात्मक पुष्टि। जबकि सारा प्रयास गुणात्मक परिवर्तन के लिए ही रहा।

इस उद्देश्य से प्राप्त किये गये बीजों से यही प्रमाणित होता है कि इसकी कोई वंश परंपरा सिद्ध नहीं होती है। जहाँ तक मोटाई की बात है, या मात्रा की बात है, यह घटता-बढ़ता रहता है । इस प्रकार सारा परिश्रम वंचना-प्रवंचनाएँ, व्यापार विधि से उन्नत बीज, उन्नत खाद नाम से किसानी पर व्यय अधिकाधिक बढ़ता गया। बड़े-बड़े उद्योग मोटे होते गए, किसान अपने घर को सफेद रंग नहीं दे पाता। कपड़ों में सफेदी ला नहीं पाता, गाड़ी-घोड़ा लाना तो दूर की बात रही। किसानों में वही किसान चतुर माने जाते है जो किसानी के अतिरिक्त व्यापार विधि को अपना चुके है। इसलिए आहार प्रयोजन के लिए सही उत्पादन कार्य किसानी ही है। किसान सही समृद्धि को अनुभव कर सकें, ऐसी व्यवस्था को पहचानना आवश्यक है।

(7) कृत्रिम विधि से खाद्य उत्पादन बढ़ाने में असफलता। उचित वातावरण से ही यह संभव है:-

अत्याधुनिक बीज शक्ति परिवर्धन कार्यक्रमों के अंतर्गत कितने ही श्रम और साधन नियोजित हुए, उसके अनुरुप कोई और निश्चित परिणाम निकलते नहीं पाया। बीजों के गुणवर्धन के पक्ष में बीजों में प्रयास रहता है। इसको ऐसा भी कहा जा सकता है कि बीज प्रकृति में ही गुणवर्धन का प्रयास बना ही रहता है । इसके लिए अनुकूल वातावरण को स्थापित करना ही सर्वाधिक गुणवर्धन और उसकी निरंतरता की संभावना बनना है। वातावरण में धरती, वायु, उर्वरक, जल और ऊष्मा यह प्रधान तत्व है। इन सब के संयोग से ही बीज अपने जैसे अनेक बीजों में और श्रेष्ठ बीज के रूप में होता है। खनिजीय क्षार और अम्ल तत्वों से जितनी भी खाद मानी जाती है, वह खाद न होकर धरती की सतह को उद्वेलित करने में और पौधे में पुष्टि के स्थान पर पिष्ट को संग्रह करने में अवश्य ही अस्थायी सहायक होता है। इसके विपरीत यह भी देखा गया है कि अम्ल और क्षार संयोग होने वाले रसायन तंत्रणा वश ऊपर कहे प्रकार से धरती और पौधे में तंत्रणा अवश्य होती हैं। इससे सर्वाधिक भाग धरती को क्षारीय और अम्लीय करने में प्रयुक्त हो जाता है।

इस क्रम में सामान्य व्यक्ति को भ्रमवश फसल की उपज में वृद्धि हुई जैसा लगता है। वह सब रासायनिक क्रांति के आधार पर मात्रा बढ़ने के रूप में दिखाई पड़ता है। वे मात्राएँ अंततोगत्वा सर्वाधिक उपयोगी न होते हुए मानव शरीर के लिए प्रतिकूल होना भी देखा गया है। इसलिए इसमें संतुलन पाने के लिए जैसे-जैसे खेती क्रांति का विस्तार हुआ, गोपालन, पशुपालन संबंध की आवश्यकता, उर्वरक निर्माण कार्यों के

लिए उन्नत विधियों को अपनाने की आवश्यकता अनुभव हुई। इसे पहचानने से स्वाभाविक ही इन अम्लीय क्षारीय उर्वरक संकटों से छूटा भी जा सकता है। यद्यपि जैविक उर्वरक में भी अम्ल और क्षार का होना पाया जाता है । यह उसी अनुपात में होता है जिस अनुपात में फसल ग्रहण करता है।

दूसरा, जैविक उर्वरक विधि से प्राप्त अम्ल क्षार पहले से प्राण कोशिकाओं से रचित रचनाओं से सुपाचित होना पाया जाता है। इस प्रकार जैविक और वनस्पतिजन्य उर्वरक विधि प्रणाली से रासायनिक आवर्तनशीलता सहज रूप में व्यवस्थित रहती है जबकि कृत्रिम विधि से खनिजजन्य अम्ल-क्षार विधि से जितने भी पदार्थ एवं द्रव्य है, यह उत्तेजनात्मक विधि से प्रभाव डालते हैं। क्षणिक रूप में उत्तेजना प्रदान करने के लिए जितने अम्ल और क्षार के संयोग की आवश्यकता पड़ती है, वह सर्वाधिक मात्रा में धरती को अम्लीय एवं क्षारीय बनाता है। यह अपव्यय रहता ही है। इसलिए धरती का विकृत होना पाया जाता है। जबकि उर्वरकीय होना इस धरती के लिए आवश्यक रहता है। इस प्रकार धरती को कृत्रिमतापूर्वक मदद करने गए एक संविधान की प्रक्रिया का वर्णन ऊपर प्रस्तुत किया गया है। इससे पता चलता है कि इस अम्लीय-क्षारीय उर्वरक विधि (रासायनिक खाद) से धरती को ही बरबाद करना है। पूरी धरती के अम्ल और क्षार को आज के लाभोन्माद के आधार पर खेत में बिछा दें, यह कहाँ तक न्याय होगा? आगे की पीढ़ी क्या करेगी?

इस प्रकार मानव अपने ही लाभोन्मादी, कामोन्मादी और भोगोन्मादी भ्रम जाल में फँस कर अपनी ही आगे पीढ़ी के लिए घातक सिद्ध होते आया है और घातक होने के उपक्रम को अभी भी बनाया जा रहा है। इस प्रकार कृत्रिम उर्वरक (रासायनिक खाद) मानव परंपरा के लिए और धरती के लिए घातक सिद्ध है, यह स्पष्ट हो गया। यह पदार्थावस्था से विकसित, प्राणावस्था के साथ जो प्राकृतिक वैभव है उसमें कृत्रिमता के संयोग के फलस्वरुप क्या विपत्तियाँ हुई है यह स्पष्ट है। इसी क्रम में यह भी देखा जा रहा है कि टमाटर को बहुत बड़ा बनाया गया परन्तु उसकी आंतरिक पुष्टि तत्व उतनी ही रह गई, जितनी प्राकृतिक रूप में प्राप्त एक छोटे टमाटर में थी। बाकी सब पानी भरने के पात्र के रूप में टमाटर मोटा हो गया। इसी भाँति अंगूर में देखा गया। इन सब अनुभवों के आधार पर, यह निश्चय होता है कि प्राकृतिक रूप में जो कुछ भी बीजानुषंगीय विधि से स्थापित बीजों का संरक्षण करना होता है, उसके लिए जैविक और वनस्पति जन्य उर्वरक विधि को अपनाना ही उपाय है। इसके लिए कृषि के साथ पशु पालन आवश्यक होना पाया गया।

(8) अस्तित्व सहज स्वाभाविकता को कृत्रिमता मानना भी अपराध का कारण रहा :-

अब मूलत: प्रकृति में कृत्रिमता और प्रकृति पर विजय इन सब बातों का क्या सार निकलता? इन्हीं बातों को निष्कर्ष रूप देने के क्रम में चर्चा कर विश्लेषण का मुद्दा बनाया गया है। ऊपर प्रस्तुत तर्क और विश्लेषण के आधार पर प्राणावस्था की वस्तुओं को मानव अपनी कल्पनानुसार, जिसको कृत्रिमता कहता है, उससे उन प्राणावस्था सहज प्रकृति को मदद करना, परिवर्तित करना और किसी लक्ष्य में पहुँचना नहीं बना। इसलिए हम इस निष्कर्ष पर आते है कि प्रकृति सहज पदार्थावस्था की वस्तुओं का संयोग संयोजनपूर्वक आवास, अंलकार, दूरश्रवण, दूरदर्शन, दूरगमन संबंधी वस्तुओं को पाने की संभावना थी ही, उसे मानव ने पा लिया। अस्तित्व में विभिन्न प्रकार से वैभवित पदार्थावस्था की वस्तुएँ संयोग से, योग से अपने स्वभाव गुण को संयोग गुण में व्यक्त करना सहज रहा। जैसे एक पत्थर को उठाने पर जितने बल से वह उठ सकता था, उसके लिए वह तैयार ही रहा। इसी प्रकार उतने बल से उतनी दूर जाने का गुण, उसी पत्थर में समाया रहा। इसलिए वह चल भी दिया।

इसी प्रकार शब्द, गुण, रुपों का प्रतिबिम्बन, चुम्बकीय गुण, विद्युतीय गुण, तापीय गुण इन सबमें अपने गुणानुसार परावर्ती ही कार्य करना बना रहा। इन सबका योग-संयोग यंत्रीकरण की प्रजातियों से प्रमाणित हुआ जिसको मानव ने प्रकाशित किया यह मूलत: कृत्रिमता न होकर अस्तित्व सहज स्वाभाविकता, सृजनशीलता ही रही। इसे कृत्रिमता मान लेना ही मानव विरोधी, प्रकृति विरोधी, मानव विद्रोही प्रवृत्ति का आधार हुआ। इस प्रकार प्रकृति सहज गुण प्रवर्तन, गति, बल वैभव अभिव्यक्तियों को प्राकृतिक न समझकर, कृत्रिम समझने मात्र से ही, मानव कुल को अपराधी बनाने का आधार पैदा कर दिया। यह भी कृत्रिमता हुई या कृत्रिमता का फल हुआ। जितना मानव कृत्रिम होता गया उतना ही प्रकृति के साथ अपराध करते गया अथवा झुकता, छुपता गया या भयभीत होते गया। उसी प्रकार मानव के साथ द्रोह-विद्रोहात्मक षंडयत्र रचता आया, फलस्वरुप मानव का दुखी होना पाया गया। ऐसा दुख शीरीरिक, मानसिक विचित्र रोगों के रूप में अथवा विसंगतियों के रूप में देखने को मिला। इससे मानव सहज ही छूटना चाहता है। इसके लिए सहज उपाय है - “मानव अपने को अस्तित्व में अविभाज्य रूप में है” ऐसा जाने, माने, पहचाने और निर्वाह करें। यह एक ही विधि है। कृत्रिमता - एकाधिकार, व्यापारवादी होना ही व्यापारवाद है। सृजनशीलता लोकव्यापीकरण होता है। यह जागृति क्रम जागृत परंपरा में, से के लिए उपकारी होना पाया जाता है।

9) संकरीकरण और परंपरा

इस शताब्दी में, सकंरीकरण प्रक्रिया का कर्माभ्यास कर, मानव ने देखा जहाँ तक संकरीकरण कर विविध अंकुर प्रत्यारोपण विधि और तने का प्रत्यारोपण विधि - इन दो विधियों में फूल और फल में, दोनों में प्रयोग हुए। फल जाति में अंकुर प्रत्यारोपण और तने का प्रत्यारोपण, दोनों सफल हुए। इसमें संकर विधि भी अपनाई गई जैसे - संतरा, नारंगी, सेब, बेर आदि विधियों से उपलब्धियाँ हुई। अभी तक उनमें से अधिकांश, अपनी वंश परंपरा को बनाये रखने में सक्षम नहीं दिखाई पड़ते हैं। जैसे किसी प्रत्यारोपित विधि में आया हुआ आम वृक्ष, उसकी गुठली से उसी प्रकार का आम तैयार नहीं हुआ। आम वृक्ष की यह प्रक्रिया, बहुत पहले से भी रही। इसी प्रकार सेब, अमरूद, अनासपत्ती, आडू आदि फलों में और नींबू में देखा गया। संतरा, नींबू, अमरूद में श्रेष्ठ प्रजाति के बीज डालने पर उसी प्रजाति के फल न आने की स्थिति में, अंकुर और तने को बदलने की प्रक्रिया में मानव सफल हुआ है। तना जो प्रत्यारोपित रहता है, अंकुर जो प्रत्यारोपित रहता है, उसी में होने वाले फलों को सफल रूप में होता हुआ देखा गया।

जहाँ तक पुष्पों में जिन भी विधियों को अपनाया गया, उसमें आकार-प्रकार में वांछित स्वरुप प्रत्यारोपण रंग, रूप (आकार) प्राप्त किया गया। साथ ही यह भी देखने को मिला कि इन प्रत्यारोपण विधियों से लगी हुई पुष्पों में सुगंध की क्षति होती गई। साथ ही मकरन्द और पराग गुणवत्ता में क्षति हुई, अत: प्रत्यारोपण सफल नहीं हुआ। फलों में तो यही देखने को मिला है कि प्रत्यारोपण से प्राप्त फल और फूल अपने वंश को बना नहीं पातें है अर्थात् अपने बीजानुकूल को नहीं बना पाते हैं। पीढ़ी से पीढ़ी प्रत्यारोपण की आवश्यकता बनी रहती है। फल फूलों में यह संभव भी है।

जीव कोटि में संकरीकरण कर देखा गया। गाय और भैंस जैसे संकरीकरण से वंश को स्थापित करने की भी भूमिका में कार्य हुए। इनकी जलवायु और आहार विधियों में परतंत्रता बढ़ती गई। इसका ख्याल मानव को रखना आवश्यक हो गया। ये अपने में, अपने से प्राकृतिक विधि से अपना पेट भर सकें, अपने प्रयोजन सिद्ध कर सकें, ऐसा नहीं हुआ। इनके अंसतुलित होने की स्थिति में अर्थात् मानव जब कभी भी इनके साथ ध्यान देने में चूकता है, इनमें अंसतुलन होना देखा गया। यह भी देखा गया है कि पशु जो खेत खलिहानों में काम करते है, प्रकृति के साथ अपना पेट भर लेते है और सामान्य रोगों को अपने आहार संयम से ही स्वयं ठीक कर लेते हैं। इस प्रकार की अर्हता, संकर पशुओं में देखने को नहीं मिली। इनमें होने वाले रोग बहुत ही जटिल हो जाते हैं। ये अपने में ठीक हो नहीं पाते। इनको ठीक करने में मानव बहुत समर्थ हुआ है या नहीं, इस बात से अधिक इन पर ध्यान देना प्रधान वस्तु रहता है । इस प्रकार इन

प्रजाति की गायों में, पराधीनता अधिक देखने को मिली। यह भी देखने को मिला कि इनमें दूध अधिक निष्पन्न होता है। परंतु उसकी गुणवत्ता कम हो जाती हैं। उनमें और इनमें एक तुलनात्मक बात यह निकली कि ये अपने वंश में गुणवत्ता को यथावत् स्थापित नहीं कर पाते शनै:-शनै: गुणवत्ता गिर जाती है, कम हो जाती है। जबकि प्राकृतिक रूप में जो परंपरा गाय की रही है, वे भी काफी दूध देती हैं। गाय भैंस परंपरा अपने वंश को बनाये रखने में समर्थ दिखते हैं।

इस शताब्दी में मानव पर भी संकरता की बात सोची गई। इसमें प्रधान मुद्दा मानव की मेधस रचना में किसी में स्वेच्छिक नियंत्रण होने के संबंध में प्रयत्न हुए। एक श्रेष्ठ बुद्धिमान व्यक्ति को, उन्हीं के शरीरगत, प्राणकोषाओं के आधार पर अनेक शरीर रचना करने के संबंध में भी प्रयत्न हुए। ऐसे प्रयत्नों मे कोई खास सफलता नहीं मिली। यह प्रयास विगत में आया हुआ भौतिकवाद चिंतन के अनुसार, शरीर रचना के आधार पर मानव के विकास को पहचानने के क्रम में सोचा समझा और किया गया। इन सबको करने में कोई सफलता नहीं मिली।

संकरीकरण विधि से मानव में कुछ लोग नस्ल परिवर्तन को मानते हैं। उनका सोचना है कि नस्ल के आधार पर अच्छा-बुरा आदमी होता है मूलत: मानव शरीर और जीवन का संयुक्त साकार रूप है, इस कारण काले-गोरे, मोटे-पतले, ऊँचे-ठिगने सभी प्रकार के मानव जीवन और शरीर के संयुक्त रूप में ही नियंत्रित है। मानव में जो कुछ भी परितर्वन होना या जागृति होना है वह, जीवन में ही होना है। जीवन में परिवर्तन होने का साक्ष्य समझदारी है। जीवन में ही समझदारी और संस्कार समाया रहता है। जीवन, शरीर के द्वारा प्रमाणित होता है। ऊपर कहे सभी प्रकार के मानवों में जीवन समान प्रकार में व्यक्त होना सहज है। क्योंकि हर प्रकार के आदमी गणित को समझते है, समझा है। शरीर शास्त्र को समझता है, वनस्पति शास्त्र को समझता है, जो समझदारी एक प्रजाति के व्यक्ति को हो पाया है, वह सभी प्रजाति के व्यक्तियों में होना पाया गया है। इस समझदारी से प्रत्येक प्रकार के व्यक्ति समझदारी सहज अधिकार के रूप में समान दिखाई पड़ते हैं। यही मानव जाति में मौलिक तत्व है, इसी के आधार पर मानव की एकता, अखण्डता सहज सूत्र समाहित हैं। मानव के शरीर रचना की विविधता के आधार पर एकता और अखण्डता की कल्पना भी होना संभव नहीं है। इसलिए जीवन में समानता के आधार पर मानव सहज एकता स्पष्ट हो जाता है। जबकि नस्ल के बदलने से अथवा शरीर के आकार-प्रकार के बदलने मात्र से मानव की एकता, अखण्डता नहीं बन पाती।

अस्तित्व सहज रूप में मानव कल्पनाशील और कर्म स्वतंत्र है। इस आधार पर मानव का मौलिक होना अध्ययनगम्य हो चुका है। इसी मौलिकता के आधार पर ही जागृति विधि प्रणाली पूर्वक मानव को एक

न्यायिक, समाधानित, प्रामाणिकता पूर्ण परंपरा के रूप में, प्रमाणित होना ही आज की आवश्यकता है। अस्तु, मानव में जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन रुपी अपनी समझदारी में विश्वास करना ही, जागृति का शुभारंभ हैं। ऐसी समझदारी में जागृति पूर्वक मानव को अस्तित्व और सहअस्तित्व में अखण्डता को पहचानना संभव हो गया है।

यह जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान एवं मानवीयतापूर्ण आचरण पूर्वक प्रमाणित हो जाता है।

प्राण कोषाएँ कृत्रिम नहीं होते :- प्राण कोषाएँ मूलत: रसायन वैभव की देन हैं। रासायनिक द्रव्य भौतिक वस्तुओं का ही उदात्तीकृत रूप है - यह स्पष्ट हो चुका है। रासायनिक द्रव्य अपने आप में प्राकृतिक द्रव्य है। मानव भी यदि संयोग पूर्वक रासायनिक घटना को घटित करता है, वह भी प्राकृतिक ही है, क्योंकि मूल द्रव्य पदार्थावस्था का ही है चाहे ठोस हो, तरल हो या विरल हो। विभिन्न रसायनों के संयोगपूर्वक ही प्राण-कोषाओं के रूप में रासायनिक रचना अथवा रासायनिक मूल रचना कोषाओं के रूप में भी संपन्न होती है। प्राणकोषा जो ठोस रूप में रचित रहती है उसी में प्राण सूत्र रचना कार्यकारी प्रवर्तन सहित समाया रहता है। इसी क्रम में रासायनिक रसों में कोषा का आप्लावित रहना पाया जाता है। इसका तात्पर्य है कि रसायन रसों में डूबी हुई स्थिति और ऊष्मा के दबाव वश ही मूलत: रासायनिक द्रव्य से रचित प्राणकोषा श्वसन क्रिया सहित ही विपुलीकरण और रचना कार्य को संपन्न करता है। यही प्राण कोषा रचना व महिमा का तात्पर्य है। श्वसन क्रिया करता हुआ कोषा ही प्राण कोषा के नाम से ख्यात है। ऐसी प्राण कोषाएँ अपने आप विपुलीकरण अर्थात् एक कोषा से दो, ऐसे ही अनेक बन जाने की विधि प्राण कोषाओं में निहित रहती हैं। यह विपुलीकरण विधि भी रासायनिक वैभव के सहज क्रियाकलाप है।

रसायन द्रव्य तरल, विरल, ठोस रूप में है। रसायन द्रव्य विभिन्न अणुओं के संयोग से बनने वाली वस्तु है। अणुओं के मूल में परमाणुओं का होना पाया जाता है। प्रत्येक परमाणु अपने "त्व" सहित व्यवस्था सहज रूप में है। इसके आधार पर परमाणुओं के संयोग से अणु और विभिन्न अणुओं के संयोग से भी व्यवस्था स्पष्ट हो जाती है। व्यवस्था जड़-चैतन्य प्रकृति में वर्तमान सहज आचरण हैं। यही आचरण सहअस्तित्व सहज क्रम में समग्र व्यवस्था में भागीदारी है। इसी क्रम में रासायनिक द्रव्य व प्राण कोषाओं से रचित रचनाएँ सब अपनी-अपनी परंपरा सहज विधि से आचरणशील है ही। प्रत्येक इकाई का स्वयं में व्यवस्था होने का आचरण, वर्तमान में अक्षुण्णता के रूप में देखने को मिलता है, जैसे लोहे का परमाणु-अणु "लौहत्व" के साथ वर्तमानित रहना पाया जाता है। इसकी अक्षुण्णता प्रमाणित है। एक प्राण कोषा और उनसे रचित रचना अपने-अपने "त्व" सहित व्यवस्था के रूप में प्रमाणित हैं। ऐसी प्राण कोषाएँ रचना सूत्र संपन्न रहते हैं। विधिवत् रचना के लिए निश्चित सूत्र रहते ही हैं। प्राण कोषा में ही उस-उस प्रजाति के

अनंत प्राण कोषाओं में भी, प्राण सूत्र के आधार पर ही रचनाएँ निश्चित होना पाया जाता है। यही "त्व" सहित व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी का साक्ष्य है।

प्राण सूत्र सहित प्रत्येक कोषा अपने "त्व" सहित व्यवस्था रुपी कोषा है। फलस्वरुप किसी एक रचना रुपी सम्मिलित प्रकाशन समग्रता है। ऐसी समग्रता में प्रत्येक प्राण कोषा का भागीदार होना स्पष्ट है। इसलिए प्रत्येक प्राण कोषा समग्र व्यवस्था में भागीदार है। प्राण कोषा अपने में व्यवस्था होने के स्वरुप में बीज-वृक्ष नियम संपन्न रहता है। यही प्राण कोषाओं में "त्व" सहित व्यवस्था का प्रमाण है। वनस्पति, जीव और मनुष्य शरीर के साथ यही रचना सूत्र संपन्न होते हैं। प्राण सूत्र विधि से, बीज-वृक्ष नियम विधि से प्राणावस्था की सभी रचनाएँ स्पष्ट हैं। प्रत्येक रचना अपने में एक संपूर्ण रचना होते हुए अनेकानेक रचनाओं के साथ सहअस्तित्वशील रहना देखने को मिलता है। जैसे आम, नीम आदि अनेक प्रजाति के वृक्ष, पौधे-लता आदि सभी एक दूसरे के साथ, बीज-वृक्ष नियम सहित निश्चित आकार व आचरण को प्रकाशित करते हुए देखने को मिलता है।

इसी क्रम में जीवावस्था, समृद्ध मेधस युक्त शरीर और जीवन का संयुक्त साकार रूप होते हुए भी जीवन, शरीर को तादात्म्य विधि से स्वीकारा रहता है। इसका सूत्र है- जीवन, शरीर को जीवन्त बनाये रखते हुए शरीर को ही अपना जीने की स्थली स्वरुप स्वीकारता है। इसलिए जीवन शक्तियाँ उन-उन शरीर रचना को अनुरुप बह पाती है। इसी यथार्थता के आधार पर अनेकानेक प्रजाति के जीवों का वर्तमान होना स्पष्ट है। ये सब वर्तमान में ही हैं। प्रत्येक प्रजाति के जीव अपने ढंग से, अपनी परंपरा को बनाये रखते हुए देखने को मिलता है। प्रत्येक जीव अपने में व्यवस्था होने के कारण अपनी प्रजाति के जीव कोटि के साथ सम्मिलित होता है। इसी के साथ किसी एक प्रजाति के जीव अनेकानेक प्रजाति के जीव के साथ जीता हुआ भी देखने को मिलता है। इससे यह भी स्पष्ट हुआ कि एक प्रजाति की संपूर्ण वनस्पतियाँ अन्य प्रजाति की वनस्पतियों के साथ वर्तमान होना देखने को मिला। और एक प्रजाति के जीवों का दूसरी प्रजाति के जीवों के साथ जीना देखने को मिला। ये सभी क्रियाकलाप स्वाभाविक रूप में नियम, नियंत्रण, संतुलन विधियों से संपन्न होते आए।

पदार्थावस्था में परिणाम क्रियाकलाप रुपी परंपरा में नियंत्रित रहना स्वाभाविक वर्तमान हैं। प्राणावस्था में संपूर्ण रचनाएँ बीजानुषंगीय विधि से नियंत्रित रहना तथा संतुलित रहना प्रमाणित है, पीपल की पत्ती, झाड़ तथा जड़, उसी प्रकार अन्य झाड़ पौधे-लता आदि का अपने-अपने तरीके के पत्र-पुष्प, फल, बीज तथा जड़ होना पाया जाता है । ये सब रचना कार्य में नियंत्रण का द्योतक है। नियंत्रण में नियम समाया रहता है, क्योंकि नियम पूर्वक ही रासायनिक योग और वैभव होना पाया जाता है। प्रत्येक रासायनिक प्रक्रिया में,

एक से अधिक प्रजाति के अणुओं का संयोग होना देखा गया है। ये अणु निश्चित मात्रा व नियम से ही संयोगों में आते हैं। फलत: रासायनिक वैभव स्पष्ट होता है। मूलत: पदार्थावस्था में परमाणु व अणु नियमित रहना पाया जाता है। प्राणावस्था में इस नियम के आधार पर ही नियंत्रण प्रकाशित हुआ। यह नियंत्रण बीज से वृक्ष तथा वृक्ष से बीज तक आवर्तनशीलता के रूप में स्पष्ट हो गया है। अस्तित्व में ऐसी कोई चीज नहीं है जो नियंत्रित न हो अथवा नियमित न हो। इसलिए नियमित रहना और नियंत्रित रहना अणु-परमाणु की स्थितियों में भी देखने को मिलता है। यही नियम-नियंत्रण के रूप में प्राणावस्था की रचनाओं में आवर्तनशील विधि से स्पष्ट हो गया है।

प्राणावस्था में रचनाएँ नियंत्रण की साक्षी हैं। जबकि जीवावस्था और ज्ञानावस्था की शरीर रचनाओं में अंग अवयवों का संतुलन आवश्यक रहता ही है। इसलिए जीव शरीरों और मानव शरीर की रचनाओं में नियंत्रण और नियम समाहित रहता ही है। इस क्रम में प्रत्येक एक का अपने "त्व" सहित व्यवस्था के रूप में वैभवित होना पाया जाता है। जीवावस्था और ज्ञानावस्था की शरीर रचनाएँ वंशानुगत विधि से सफलता का प्रकाशन करती हैं। वंशों की महत्वपूर्ण भूमिका आकारों और ज्ञानेन्द्रियों-कर्मेन्द्रिय कार्यों के आधार पर निश्चित होना पाया जाता है। आकार, आयतन कार्य के तालमेल के लिए उस-उसके अंग-अवयवों की रचना निश्चित अनुपाती होना पाया जाता है। इनका कार्य संतुलन, जीवन सहज आशा, मेधस क्रिया के आधार पर संपन्न होना पाया जाता है। प्रत्येक जीव का आचरण अपने-अपने शरीर सहज रूप में व्याख्यायित रहता है। ऐसी व्याख्या के आधार पर ही प्रत्येक प्रजाति के जीव अपनी मौलिकता की व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी के अर्थ में सार्थक बनते हुए देखने को मिलता है।

प्रत्येक अंग-अवयवों का अपना-अपना आकार वंश की प्रधान पहचान है। इस पहचान के साथ उसका कार्य जीवन के संयोग से ही संपन्न होता हुआ समझ में आता है। जीवन, जीव शरीरों में, आशा का प्रसारण करता हुआ देखने को मिलता है। प्रत्येक जीव जीने की आशा से ही जीता हुआ मिलता है। ज्ञानावस्था सहज मानव जीवन में आशा, विचार, इच्छा, ऋतम्भरा और प्रमाण जैसे शक्तियों का क्रियाकलाप समझने को मिलता है। इसे समझने वाला भी मानव ही है। मानव के दृष्टा पद में होने का प्रमाण जीवन और शरीर संयुक्त रूप में सिद्ध होता है। समझने के क्रम में ही अज्ञात को ज्ञात एवम् अप्राप्त को प्राप्त करने के कार्यकलापों को मानव ही सहज रूप में संपन्न किया करता है। दृश्य के रूप में अस्तित्व ही नित्य वर्तमान है। अस्तित्व में चारों अवस्थाएँ अपने में एक अनुपम अभिव्यक्ति है। जीवों का कार्यकलाप उन के प्रजाति वंश के अनुसार निश्चित कार्य रूप में रहता है। यही संतुलन का तात्पर्य है। मानव अस्तित्व में दृष्टा पद में होते हुए भी अभी तक मानव का कार्यकलाप अनिश्चित है। मानव शरीर भी अवयवों के संतुलित रूप में

ही प्रकाशित है। इस प्रकार प्राण कोषाओं से सभी वनस्पतियाँ जीव और मानव शरीर की रचनाएँ होते हुए समझ में आती हैं।

जीवन और शरीर के संयुक्त रूप में जीने वाले जीव एवम् मानव शरीर में सप्त धातुएँ देखने को मिलती हैं। सप्त धातुओं के सर्वोच्च संतुलित रचना मानव शरीर ही है। स्वेदज व असमृद्ध मेधस युक्त रचनाओं को जीवन चलाता नहीं है अथवा वे चलाने योग्य नहीं होतें। उनमें सप्त धातुएँ देखने को नहीं मिलती हैं। वे रचनाएँ प्राण कोषाओं से ही रचित रहती हैं। झाड़ व पौधे सभी प्राण कोषाओं की ही रचना होते हुए इनमें सप्त धातु नहीं होते। इन्हीं सब प्रमाणों के साथ जीवन और शरीर का संयोग उसी शरीर से संयोगित हो पाता है, जिस शरीर की संरचना में सप्त धातुएँ अंग अवयवों के संतुलन के अर्थ से रचित रहते है तथा समृद्ध मेधस व समृद्धि पूर्ण मेधस की रचना संपन्न होती हैं। ऐसे ही शरीर को जीवन संचालित करता हुआ देखने को मिलता है। इस क्रम में जो भी प्राण कोषाएँ देखने को मिलती है, वे सब विधिवत् रासायनिक वैभव के रूप में दिखते हैं। इसके साथ कृत्रिमता नहीं हो पाती। जो कुछ भी कृत्रिमता का आकार दे पाना मानव से बन जाता है वह सब पदार्थावस्था सहज वस्तुओं के रूप में ही देखने को मिलता है। रासायनिक क्रिया प्राकृतिक ही होती है, कृत्रिम होती नहीं है इसलिए प्राण कोषाएँ प्राकृतिक ही होती है, कृत्रिम नहीं होती है। प्राण कोषाओं से रचित रचनायें स्वाभाविक रूप में प्राकृतिक है, कृत्रिम नहीं।

प्रकृति का तात्पर्य - पहले से ही क्रिया के रूप में रहता है। इसी का नाम प्रकृति है। पहले से जो क्रिया और वस्तु, गति और स्थिति रहते आया, वैसी क्रिया को घटाना (घटित करना) प्राकृतिक ही हुआ। मनुष्य प्रकृति सहज कई घटनाओं को स्वयं भी घटित करा सकता है। इसलिए इसे कृत्रिमता का नाम देना चाहते हैं। वह इसलिए सार्थक नहीं हो पाता है कि वह पहले से ही बना रहता है। ऐसा अभी प्राण कोषाओं के संबंध में कहा जा चुका है। इसी के साथ जीवन को कृत्रिम प्रक्रिया से घटित किया नहीं जा सकता। जीवन जब कभी भी घटित होगा, वह परमाणु ही गठनपूर्णता पूर्वक ही प्रमाणित हो पाता है।

परमाणु में गठन एक प्रकृति सहज प्रक्रिया है। ऐसे गठन में पूर्णता का होना उसी परमाणु में निश्चित क्रिया का परिणाम घटना है। इसलिए मनुष्य द्वारा जीवन को घटाना (अर्थात जीवन उत्पन्न करना) संभव नहीं है और आवश्यक भी नहीं है। इसी प्रकार मनुष्य द्वारा प्राण कोषाओं को घटाना (घटित कराना) संभव नहीं है और आवश्यक भी नहीं है। वर्तमान में पाए जाने वाले शरीर और जीवन के क्रियाकलाप के साथ-साथ मनुष्य का जागृत होना ही एकमात्र लक्ष्य बनता है। कृत्रिम कोषा और कृत्रिम जीवन को बनाने का कोई लक्ष्य नहीं बनता है। इसलिए आवश्यकता भी नहीं बन पाता है और इसीलिए अवसर भी सिद्ध नहीं होता।

10) उद्योग, आवश्यकता, संबंध और संतुलन

मानव का निरीक्षण करने पर पता लगता है कि परिवार मानव विधि से मानव में आवश्यकताएँ प्रतीत होती हैं। परिवार मानव का तात्पर्य एक से अधिक समझदार मानव परस्पर संबंध को पूरक विधि से पहचानने के फलस्वरुप आवश्यकताएँ अपने आप प्रतीत होती हैं। प्रतीत का तात्पर्य- प्रत्येक रूप में प्रमाणित होने का प्रयास उदय है। इसे प्रत्येक दो या दो से अधिक मानव परस्परता में पूरकता की अपेक्षा करता हो, विश्वास करता हो ऐसी स्थिति में ही आवश्यकताएँ समझ में आती हैं। यथा जानने, मानने में आता है, फलस्वरुप प्रयासोदय होना पाया जाता है । प्रयासों की प्रक्रिया रूप में प्राकृतिक ऐश्वर्य पर विशेषकर वन, खनिज पर श्रम नियोजन होना, फलस्वरुप आवश्यकता के रूप में प्राकृतिक ऐश्वर्य परिवर्तित होना पाया जाता है।

1. पत्ते से तन ढंकना है, तो उसके लिए समुचित प्रक्रिया करना ही होगा। तभी पत्ते से तन ढंकने की आवश्यकता पूरी होगी।
2. यदि पेड़ के छालों से तन ढंकना है, उस स्थिति में आने के लिए भी समुचित प्रक्रिया करना ही होगा। तभी तन ढंकना बन पाएगा।
3. रुई से तन ढंकने की जब बारी आई, तब उसके लिए समुचित प्रक्रिया मानव ने प्रमाणित की। फलस्वरुप कपड़े से मानव तन ढंकता हुआ देखने को मिला।
4. पत्तों से यदि आवास, फूस से आवास, झाड़ो से आवास, झाड़ पत्ते, फूल से आवास बनाने की आवश्यकता के आधार पर ही प्रक्रियायें प्रमाणित होती हैं।

तो इसी क्रम में मिट्टी, पत्थर के संयोग से मकान; लोहा, सीमेंट से मकान; लकड़ी, लोहा, मिट्टी, पत्थर, सीमेंट से मकान की आवश्यकता के साथ-साथ विविध प्रकार-आकार वाले आवासों को आज देखा जा रहा है। इसे आज मानव की आवश्यकता के आधार पर प्रसवित अथवा उत्पन्न कल्पनाशीलता और उसके क्रियान्वयन क्रम में प्रमाणित प्रक्रियाएँ स्पष्ट हुई हैं, इसी क्रम में गतिशील यंत्रों का धारक-वाहक, यंत्रों की आवश्यकता के आधार पर अनेकानेक यंत्रों की परिकल्पाएँ और प्रक्रियाएँ प्रमाणित हुई। इन आवश्यकताओं के साथ ही, उत्पादन के रूप में प्रक्रियाएँ प्रमाणित करते आए। इसी प्रक्रिया में पारंगत होने, प्रमाणित करने की भूमिका को मानव ने निर्वाह किया। इन्हीं प्रक्रियाओं को तकनीकी नाम दिया गया। ऐसी प्रक्रियाओं को विधिवत् प्रशिक्षित करने को, शिक्षित करने का, कर्माभ्यास करने का प्रावधान मानव परपंरा ने स्थापित कर लिया। यही तकनीकी प्रौद्योगिकी विज्ञान-शिक्षा कहलाता है। इस समय में

अर्थात् बीसवीं शताब्दी के अंत में दूरश्रवण, दूरगमन, दूरदर्शन संबंधी और भारवाहक संबंधी सभी यंत्रों को मानव परंपरा ने प्राप्त कर लिया। ये सब उपलब्धियाँ मानव को अच्छी भी लग रही हैं। मानव में इसे बनाये रखने की इच्छा और संकल्प भी समझ में आता है। मानव ने ही इन सब यंत्रों का निर्माण किया है।

उल्लेखनीय बात यह है कि ऐसे यंत्रों की उपलब्धि के उपरान्त यह निष्कर्ष निकाल लिया गया है कि यंत्र का नियंत्रण सुलभ है, मानव को नियंत्रित करना सुलभ नहीं है। इस बात को तब मान लिया जब यंत्र तैयार हो चुका। इसमें पहली बात ध्यान में लाने की है कि ऐसे व्यापारियों ने, ऐसे निर्णय को स्वीकारा जो अपने को सर्वोत्कृष्ट व्यवस्थापक अथवा विकसित हो गये, ऐसा मानते रहे। ऐसे व्यवस्थापक अधिकांश उत्पादन में लगे हुए व्यक्तियों को उत्पादन के लिए मार्गदर्शन, निर्देशन पूर्वक नियंत्रित करते आए। उनका प्रधान मुद्दा या इस प्रकार निर्णय लेने का आधार बिन्दु यह बना कि मनचाहे उत्पादन और मनमाने लाभ के प्रति प्रतिबद्धतावश कार्यकर्ता और व्यवस्थापक के बीच बंटवारे के मुद्दे पर फँसी हुई स्थिति रही है। यह स्थल आज भी उलझा हुआ है। इसका मूल कारण भय और प्रलोभन ही है।

आज तक भय और प्रलोभन के आधार पर ही उत्पादन व्यवस्था को बनाए रखने का प्रयास सतत् रहा। शनैः-शनैः प्रलोभन, सुविधा, संग्रह से संघर्ष भड़कने के अनंतर संघर्ष, दूसरों से भयभीत होने की स्वीकृतियाँ घटती आई। इसके विपरीत दूसरों को भयभीत करने की प्रवृति व मानसिकता बढ़ी। तरीकों को बारंबार बदला गया। फलतः अच्छे व्यवस्थापक भय पैदा करने में अपनी असमर्थता स्वीकारते गए। उसी की प्रतिक्रिया में उद्योग, उत्पादन संयंत्रों को स्वचालित होना सुगम मान लिया गया। उसमें भी कुछ आदमियों की आवश्यकता पड़ी। इस स्थिति को इस प्रकार अनुकूल मान लिया गया है कि बहुत लोगों की जगह थोड़े लोगों के साथ व्यवस्था देना सुगम है।

कम और अधिक लोगों के साथ भी यह देखा गया कि प्रलोभन और धन के बंटवारे के मुद्दे पर ही व्यवस्थापक और कार्यकर्ताओं के बीच दूरी बनी रही। जहाँ ज्यादा लोग काम करते थे, वह स्वचालित होने के उपरान्त भी थोड़े लोगों के साथ भी, व्यवस्थापक और कार्यकर्ताओं के बीच बंटवारे का प्रसंग एक मुद्दे के रूप में बना ही रहता है। इसमें अधिकांश रूप में यही सुनने को मिल रहा है स्वचालित संयंत्रों में काम करने वाले यंत्र नियंत्रक के रूप में ही अधिकांश लोग हैं। स्वचालित संयंत्र विहीन स्थितियों में उतना ही पढ़ा लिखा व्यक्ति जो कुछ भी साधनों को प्राप्त करता है, उससे अधिक स्वयं को मिलने के आधार पर सांत्वना पाते हुए देखा जा रहा है। कुछ संयंत्रों में यह भी आरंभ हो चुका है कि बंटवारे में और परिवर्तन की आवश्यकता है। यह मूलतः प्रलोभन के तृप्ति बिंदु न होने से है। यही समस्या मूलतः व्यवस्थापक और कार्यकर्त्ताओं में परेशानी का मुद्दा है। मूल व्यवस्थापक संग्रह और भोग के लिए लाभोन्मादी मानसिकता को अपनाए रहते

हैं। कार्यकर्त्ता सदा ही, आज के बाद और ज्यादा प्रतिफल मिले, कम काम करना हो और जिम्मेदारियाँ कुछ न हो इसी का अनुसंधान करता ही रहता है, ऐसा देखने को मिलता है। यह स्थिति कमोवेश सभी देशों में ऐसी ही है। इससे यह पता चलता है कि लाभोन्मादी विधि में किए जाने वाले व्यवस्थापक और कार्यकर्त्ता दोनों के संतुष्ट होने को कोई बिंदु नहीं है।

आवश्यकता के आधार पर ही सभी उद्योग स्थापित हो पाते हैं। लाभोन्माद के आधार पर ही असंतुलन आरंभ होता है। असंतुलन, मानव की वांछा व उपलब्धि के बीच रिक्तता ही है। इसमें उल्लेखनीय तथ्य यही है कि भय और प्रलोभन के आधार किया गया समझौता ही तत्कालीन सांत्वना के रूप में होना देखा गया है। परंतु अन्तत: असफल होता है। यही व्यवस्था और कार्यकर्त्ता दोनों में देखने को मिलता है। एक क्षण सांत्वना रहती है तो बहुत क्षण असंतोष रहता है। यही स्वरुप आज का चित्रण है।

उत्पादन और संतुलन सहज वैभव का मूल सूत्र विकल्प के रूप में होना समझ में आता है कि:-

1. भय और प्रलोभन के स्थान पर मूल्यों की पहचान, निर्वाह और मूल्यांकन करने का दायित्व।
2. लाभोन्माद के स्थान पर विकल्प के रूप में आवर्तनशीलता की समझ और प्रक्रिया।
3. स्वयं व्यवस्था एवं समग्र व्यवस्था में भागीदारी।
5. श्रम मूल्यों का मूल्यांकन, स्वयं का, दूसरों का मूल्यांकन।
6. श्रम विनिमय।
7. हर मानव सहज रूप में अक्षय बल, अक्षय शक्ति संपन्न है। श्रम शक्ति ही निपुणता, कुशलता के रूप में मूल पूंजी है। यह पूंजी निवेश, पूंजीवाद और साम्यवाद का विकल्प है।
8. संग्रह के स्थान पर समृद्धि।
9. मानव व नैसर्गिक संबंध, हर परिवार मानव का उत्पादन में भागीदारी।
10. हर परिवार में व्यवहार व उद्योग, परिवार व्यवस्था में भागीदारी।

इन सबके मूल में, प्रत्येक व्यक्ति में जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान, मानवीयता पूर्ण आचरण ज्ञान होना एक अनिवार्यता है। तभी हर मानव में, से, के लिए स्वयं में विश्वास, श्रेष्ठता का सम्मान, प्रतिभा और व्यक्तित्व में संतुलन, व्यवहार में सामाजिक, व्यवसाय में स्वावलंबी होना सहज होता है। मानव जब तक स्वयं में, से, के लिए विश्वास नहीं करेगा, तब तक एक व्यवस्थापक रहकर अथवा एक कार्यकर्ता रहकर अथवा और भी किसी स्थिति में रहकर संतुष्टि, संतुलन, नियंत्रण पाना संभव नहीं है। फलस्वरुप अव्यवस्था को पैदा करेगा ही करेगा। इसलिए जीवन प्रत्येक मानव में, समान रूप में विद्यमान होने के सत्य में जागृति आवश्यक है।

जीवन के क्रियाकलाप का पहला स्वरुप :-

1. कल्पनाशीलता और कर्म स्वतंत्रता है।
2. जानना, मानना, पहचानना, निर्वाह करने की क्रिया है।
3. आस्वादन और चयन क्रिया है।
4. तुलन और विश्लेषण क्रिया है।
5. चिन्तन और चित्रण क्रिया है।
6. बोध और ऋतंभरा (संकल्प) क्रिया है।
7. अनुभव और प्रामाणिकता पूर्ण क्रिया है।

ये सभी क्रियाएँ जागृतिपूर्ण जीवन सहज रूप में प्रमाणित होना पाया गया और जागृति प्रत्येक व्यक्ति में होना संभावित भी है।

कल्पनाशीलता और कर्म स्वतंत्रता के आधार पर ही मानव ने अपनी आशा, विचार, इच्छा के अनुरुप सामान्य आकांक्षा, महत्वाकांक्षा संबंधी वस्तुओं और उपकरणों को तैयार कर लिया है। इसी के आधार पर निर्भर रहकर अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था साकार नहीं हो पाई। इसलिए मानव सहज विभूतियों को समझना और मानव आकांक्षा सहज अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था को साकार करने के उद्देश्य से मानव का संपूर्ण अध्ययन करना आवश्यक है।

(1) चयन और आस्वादन :-

बच्चे-बूढ़े, ज्ञानी, अज्ञानी, विद्वान, मूर्ख सब में चयन करना और आस्वादन करने की क्रिया को देखा जा सकता है। बच्चों को बहुत सारे खिलौने, विविध मिठाइयों के सम्मुख रखने पर हर बच्चा अपने-अपने तरीके से किसी-किसी वस्तु को अपनाता हुआ देखने को मिलता है। इस प्रकार सभी बच्चे विविध प्रकार से चयन क्रिया संपन्न करते हुए देखने को मिलते हैं। इसको खेत, खलिहान, फैक्ट्रियों, उद्योगों और उत्पादन, बाजार, व्यापार, जंगल, झाड़ी-औषधि, जड़ी-बूटी आदि सभी जगहों में आजमाया जा सकता है। यह चयन क्रिया सर्वाधिक रुचि मूलक विधि से होता देखने को मिलता है। फलत: आस्वादन का कार्यकलाप पाँचों ज्ञानेन्द्रिय प्रधान विधि से होना पाया जाता है। कर्मेन्द्रियों द्वारा चयन और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधेन्द्रियों द्वारा जीवन आस्वादन क्रिया करता हुआ देखने को मिलता है। इसको हम प्रत्येक स्थिति में परीक्षण कर सकते हैं। स्वयं को भी निरीक्षण परीक्षण की वस्तु के रूप में इस्तेमाल कर सकते हैं और दूसरों को भी उपयोग कर सकते हैं।

(2) तुलन और विश्लेषण :-

तुलन में मानव प्रियाप्रिय, हिताहित, लाभालाभात्मक तुलन को हर स्थिति में भ्रमित व्यक्ति करता है। प्रिय-अप्रियता का संपूर्ण तुलन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के साथ ही सर्वाधिक हो पाता है। स्वयं के साथ भी, दूसरों के साथ भी यही देखने को मिलता है। हिताहित संबंधी तुलन शरीर स्वास्थ्य केन्द्रित विधि से होना पाया जाता है। स्वास्थ्य के लिए उचित अनुचित के आधार पर हिताहित का निर्णय होना स्पष्ट है। जहाँ तक लाभालाभात्मक तुलन का कार्य रूप है कम देना, ज्यादा लेना की इच्छा, विचार, आशा से संबंद्ध रहता है। इसी क्रम में लाभोन्माद तक लाभोन्मादी व्यापारवाद को मानव परंपरा ने अपनाया है।

ऊपर कही गई तीनों दृष्टियाँ (तुलन) बिना सही समझदारी के भी अधिकांश व्यक्तियों में क्रियाशील रहती हैं। ऐसी तीनों दृष्टियाँ जीवों में भी किसी अंश में क्रियाशील होना, देखने को मिलती हैं। मौलिक रूप में जागृत मानव में कार्य करने वाली क्रियाशील दृष्टियाँ है, वे दृष्टियाँ है न्याय-अन्याय, धर्म-अधर्म और सत्य-असत्य। मानव परपंरा में सहज रूप में जागृति और इनकी निरंतरता ही जागृति का मतलब है। संबंधों को पहचानना, मूल्यों को निर्वाह करना तथा मूल्यांकन क्रिया व उभय तृप्ति का होना अपने रूप में न्याय है। इस क्रम में न्याय सबके लिए वांछित रहते हुए परंपरागत विधि से सर्व सुलभ होने की स्थिति तथा प्रमाण, किसी परंपरा में देखने को नहीं मिलता है क्योंकि न्याय संहिता व न्यायालयों में फैसला करते है, न्याय नहीं। यह स्वाभाविक रूप में मानववादी चिंतन क्रम में दृष्टिगोचर होता है।

व्यक्ति, परिवार, समाज, राष्ट्र, अतंर्राष्ट्र जैसे परिप्रेक्ष्यों में सामरस्यता आवश्यक हुई। मानव में पाई जाने वाली प्रियाप्रिय, हिताहित, लाभालाभ, न्यायान्याय, धर्माधर्म, सत्यासत्य रुपी दृष्टिकोणों में सामरस्यता आवश्यक हुई। परिवार, समाज, राज्य, व्यवस्था प्रामाणिकता सहज निश्चित दिशा में सामरस्यता के प्रति परिशीलन करना, पुनर्विचार करना, संतुलित ध्रुवीकृत विधि से निष्कर्षों को पाना आवश्यक हुआ। इसी आधार पर कल्पना, तर्क, विज्ञान हुआ।

प्रत्येक परिवार में उत्पादन-कार्य संपन्न होता हुआ देखने को मिलता है अथवा इसकी आवश्यकता इस धरती पर सभी स्थितियों में प्रमाणित है।

मानव में, से, के लिए जागृति अथवा जागृति पूर्णता ही लक्ष्य है। इसलिए जागृति की ओर दिशा निर्देशित होना सामाजिकता है। यह जागृति सहज लक्ष्य सर्वमानव में पाई जाने वाली संचेतना, संचेतना सहज अपेक्षा रुपी तृप्ति और उसकी निरंतरता के अर्थ में पहचाना गया है। मानव संचेतना जानने, मानने, पहचानने, निर्वाह करने के रूप में क्रियारत होना पाया जाता है। जानने, मानने का तृप्ति बिंदु अस्तित्व में अनुभूति

और उसके प्रमाण रूप में स्वानुशासन सहज रूप में अक्षुण्ण होता है। जीवन ज्ञान, मानवीयतापूर्ण आचरण सहित परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी सबको सुलभ हो पाती हैं। यही कल्पनाशीलता का तृप्ति है।

इस प्रकार परिवार मूलक, स्वराज्य गति सहित स्वानुशासन संपन्न होना ही मानव परंपरा का सहज लक्ष्य है। इसी क्रम में मानव का मानवीयतापूर्ण विधि से स्वयं में व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी संपन्न होना सहज है। ऐसी सहजता किसी भी समुदाय परंपरा में, से सुलभ नहीं हो पाई। तथापि हर देश, हर समुदाय में श्रेष्ठतम व्यक्तियों का होना, इतिहास सहज आंकलन के रूप में भी देखा जा रहा है। आज भी आदर्श व्यक्ति अथवा व्यक्तित्वों को हर समुदाय, हर देश, हर परंपरा में जन सामान्य स्वीकारता हुआ देखने को मिल रहा है। जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन सहज अध्ययन से मानवीयतापूर्ण आचरण प्रमाणित हो जाता है। मानवीयता पूर्ण आचरण सहज व्यक्ति तथा परिवारों को अब पहचानना संभव है। आदर्शवादी-भौतिकवादी कोई समुदाय, कोई शासन, कोई समाज सेवी संस्था ऐसे व्यक्ति, परिवार को पहचानने का प्रयास नहीं कर पाए।

परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था सहज संभावना के लिए, यही सर्वेक्षण का आधार है। मानव में, मानवीयतापूर्ण आचरण सहज पहचान इस प्रकार से देखा गया है - जो स्वधन, स्वनारी/स्वपुरुष, दया पूर्ण कार्य-व्यवहार करता है। संबंधों की पहचान, मूल्यों का निर्वाह और मूल्यांकन कार्य करता है, उभय तृप्ति सहज प्रमाण होता है। तन, मन, धन रुपी अर्थ को सदुपयोग, सुरक्षा करता है। यही मानवीयता पूर्ण आचरण का स्वरुप है।

i) स्वधन का स्वरुप है :- प्रतिफल, पारितोष, पुरस्कार से प्राप्त धन। प्रतिफल वह वस्तु है - प्राकृतिक ऐश्वर्य पर श्रम नियोजन करने के फलस्वरुप उपयोगिता, सुन्दरता (कला) मूल्यों सहित वस्तुएँ जो उपलब्ध होती है और की गई सेवाओं के प्रतिफल में प्राप्त वस्तु पुरस्कार, किसी श्रेष्ठ अभिव्यक्ति के फलस्वरुप में प्राप्त वस्तु हैं। पारितोष, स्नेह मिलन उत्सव को अथवा उत्सव सहज विश्वास के अभिव्यक्ति सहज रूप में प्राप्त वस्तु हैं। जैसे बुजुर्गों से मिलने से, बच्चों से मिलने से, जन्म दिवस, आनंद उत्सव में अर्पित वस्तुएँ पारितोष के रूप में गण्य होती हैं। प्रसन्नता का उत्सव सहित अर्पित वस्तु पारितोष हैं। इस प्रकार से स्वधन का स्वरुप स्पष्ट है।

ii) स्वनारी/स्वपुरुष से स्पष्ट है कि विवाह पूर्वक प्राप्त दाम्पत्य संबंध :- यह सब व्यवस्था के रूप में प्रत्येक व्यक्ति को प्रमाणित होने और समग्र व्यवस्था में भागीदारी निर्वाह करने के क्रम में विवाह संबंध संयत होता है। दांपत्य संबंध में ही यौवन यौन संबंध संयत, सुरक्षित होता है। जबकि भोग, बहुभोग,

अतिभोग क्रम में लिप्त हर मानव असंयत होना पाया गया। इसकी अंतिम परिणित क्रूरता ही निकली अथवा दीनता हुई। अभी तक इतिहास के अनुसार बहुयौन, यौन भोग के लिए मानव का राक्षस अथवा पशु जैसे वर्तना आवश्यक है। यह इतिहास में अथवा वर्तमान में भी देखा जाता है।

iii) दया :- अपने स्वरुप में जीवन जागृति सहज प्रामाणिकता क्रम में होने वाली एक अभिव्यक्ति है। दया सहज मानवीयता की अभिव्यक्ति का आंकलन व प्रमाण मानव में ही हो पाता है। क्षमता, योग्यता, पात्रता के अनुरुप वस्तु सुलभता की मूल्यांकन क्रिया है। पात्रता और व्यक्तित्व संतुलन में ही मानवीयता पूर्ण आचरण को मानव प्रमाणित कर पाता है। इसी सत्यतावश हर मानव का ऐसा मूल्यांकन व आचरण क्रम में प्रमाणित होना एक आवश्यकता है। इसी आधार पर पात्रता के अनुरुप वस्तु सहज उपलब्धि कार्य में अपने तन, मन, धन को अर्पित करता है। यही दया का तात्पर्य है। हर मानव में मानवीयता सहज पात्रता रहता ही है। मानवत्व रुपी वस्तु का निर्धारण व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी के अर्थ में और प्रामाणिकता और स्वानुशासन को व्यक्त करने के अर्थ में ध्रुवीकृत होता है। इन ध्रुवों के मध्य में जो-जो वस्तुएँ मानव के पास होना चाहिए वह सब पात्रता के अनुरुप समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व प्राप्ति सहज वस्तुएँ हैं। संपूर्ण वस्तु जो मानवीय व्यवस्था में प्रमाणित होता है वह समाधान, समृद्धि, अभय और सहअस्तित्व है। शरीर यात्रा काल से इन चारों वस्तुओं को अथवा चारों वस्तुओं के लिए संप्राप्ति योग्य पात्रता मानव में जीवन सहज रूप में रहती ही हैं। इस प्रकार शरीर यात्रा काल में ही, प्रत्येक मानव संतान दया का पात्र रहता ही है। परंपरा में उन वस्तुओं को दया पूर्वक पीढ़ी से पीढ़ी को समर्पित किया जाता है। परंपरा में जो वस्तुएँ स्थापित करना है वह उसमें होने मात्र से ही आगे पीढ़ी में स्वाभाविक रूप में पात्रता के अनुरुप वस्तु सुलभ होती है।

इस प्रकार यह तथ्य समझ में आता है कि परंपरा में ही दया पूर्वक कार्य-व्यवहार का मूल्यांकन हो पाता है और प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। मूल्यांकन का तात्पर्य प्रत्येक परिवार मानव के रूप में परस्पर पहचानने और निर्वाह करने में अक्षुण्णता है। इसका सहज अर्थ यही हुआ- मानवीयता का लोक व्यापीकरण तथा व्यवस्था परंपरा में भागीदारी को निर्वाह करना। प्रत्येक व्यक्ति दयापूर्ण कार्य-व्यवहार करने योग्य योग्यता से संपन्न रहते हैं। फलस्वरुप भावी संतानों में अथवा आगत पीढ़ी में समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व प्रमाणित होना सहज है।

परंपरा में, सर्वशुभ का स्रोत न रहते हुए भी, कोई न कोई मानव, किसी-किसी समुदाय परंपरा में सर्वशुभ संबंधी कामनाओं की पुष्टि करते रहे हैं। अभिव्यक्ति को, प्रमाणित करता है। परंपरा जितना जागृत रहता है, उससे अधिक जागृत व्यक्ति ने उन-उन परंपराओं में शरीर यात्रा का निर्वाह किया और परंपरा से अधिक

जागृति को व्यक्त किया। यही क्रम आज भी है। वर्तमान परंपराओं से अधिक जागृति सहज अभिव्यक्ति और संप्रेषणा की प्रस्तुति स्वयं "समाधानात्मक भौतिकवाद" है। इससे यह पता चलता है कि, मानव परंपरा अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था के रूप में जब तक स्थापित नहीं हो जावेगा, तब तक समुदाय परंपरा से अधिक जागृत मानव होता ही रहेगा। इस गवाही से यह समझ में आता है कि जीवन सहज रूप में हर व्यक्ति जागृति के लिए प्रकारान्तर से प्रयास करते ही रहता है।

iv) तन, मन, धन रुपी अर्थ की सुरक्षा एवं सदुपयोग :- मनुष्य तन, मन, धन रुपी अर्थ का सदुपयोग करता ही है। यह क्रिया मानव में ही होना पाया जाता है। तन का स्वरुप सबको समझ में आ गया है - पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और पाँचों कर्मेन्द्रियों के क्रियाकलाप। मन का स्वरुप - जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन, मानवीयता पूर्ण आचरण संपन्न मानसिकता से है। कम से कम जीवन ज्ञान संपन्न मानसिकता से है। जीवन ज्ञान संपन्नता से ही अखण्ड समाज सार्वभौम व्यवस्था में भागीदारी होना संभव हुआ। जीवन ज्ञान संपन्नता ही निर्भ्रमता का द्योतक होना पाया गया। इसी आधार पर ऐसी ज्ञान संपन्न मानसिकता और स्वस्थ शरीर के संयोग से ही ये तथ्य प्रस्तुत होते हैं। इसी के साथ स्वधन का (श्रम नियोजन पूर्वक प्राप्त जो कुछ भी धन रहता है, उन सब का) सदुपयोग, सुरक्षा प्रत्येक मानव चाहता है। भ्रमित मानव भी सुरक्षा चाहता है, जबकि निर्भ्रम मानव चाहता भी है, करता भी है। ऐसे सदुपयोग को, सुरक्षा को देखा गया है, परखा गया है। इसे इस प्रकार पहचाना जा सकता है कि:-

जागृत मानव अपने तन, मन, धन रुपी अर्थ को आगे पीढ़ी, पीछे पीढ़ी के साथ वर्तमान दायित्व एवं कर्त्तव्य पूर्वक अर्पित, समर्पित कर सदुपयोग पूर्वक सुख को पा लेता है। फलस्वरुप उस-उस की सुरक्षा होना प्रमाणित होता है।

उपयोग :- स्वायत्त मानव सहज परिवार में तन, मन, धन रुपी अर्थ का उपयोग मूल्य और मूल्यांकन पूर्वक उभय तृप्ति।

सदुपयोग :- परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था में भागीदारी करते हुए तन, मन, धन रुपी अर्थ का नियोजन, सदुपयोग है।

प्रयोजनशीलता :- जागृतिपूर्ण विधि से प्रमाणित करने में नियोजित किया गया तन, मन, धन रुपी अर्थ।

सदुपयोग पूर्वक सुख उनको मिलता है जो अपने तन, मन, धन को विकास और जागृति, कर्तव्य और दायित्वों के लिए अर्पित करते है जिसके लिए अर्पित हुआ, उसकी सुरक्षा, जागृति और विकास के अर्थ में संपन्न हुई। यही पूरकता विधि है।

मानव परंपरा में पूरक विधि से ही, मानव सहज ऐश्वर्य तन, मन, धन रुपी अर्थ का सदुपयोग, सुरक्षा सहज सौन्दर्य, सुख और समाधान को देखना बनता है एवं यही मानव परंपरा में पाई जाने वाली मौलिकता है। इस क्रम में मानव सहज सुरक्षा, सदुपयोग- जो सुरक्षित करता है, जो सुरक्षित होता है, इन दोनों में ओतप्रोत उत्सव अर्थात् प्रसन्नता की समानता, समाधान की समानता और सौंदर्य बोध सहज ही होता है। यही मानव तथा मानव परंपरा, नियंत्रित होने का मूल बिंदु है। इसका सकारात्मक सौंदर्य प्रत्येक जागृत मानव या जागृत परिवार में देखा जा सकता है। जो मानवतीयता पूर्ण आचरण मे दृढ़ हो चुके हैं।

तन, मन, धन रुपी अर्थ के सदुपयोग, सुरक्षा क्रम में ही मानव व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी है और अखण्ड समाज रचना, रचना कार्य और उसमें भागीदारी का निर्वाह करता है, यही जागृत पंरपरा का दायित्व हैं।

मानवीयता सहज विधि से तन, मन, धन रुपी अर्थ का सदुपयोग - सुरक्षा क्रम में जनसंख्या नियंत्रण का मार्ग प्रशस्त होता है और पर्यावरण सुरक्षा भी सुलभ होता है। मानव जब तक असुरक्षा से पीड़ित रहेगा, तब तक प्रदूषण को पैदा करता ही रहेगा। पर्यावरणीय और नैसर्गिक समस्याओं को तैयार करेगा। अभी तक इन परिप्रेक्ष्यों में निर्मित संपूर्ण समस्याएँ मानव के प्रति मानव का भ्रम मुक्त मिलन संपन्न न होना रहा। इसकी गवाही कई रुपों में दिखाई पड़ती है। अंगरक्षक से सीमा सुरक्षा तक फैला हुआ जाल हर एक देश, हर एक सम्प्रदाय कहलाने वाले के पीछे सब दिखता है। यह सब इसी बात का द्योतक है कि मानव के साथ मानव ने अपने तन, मन, धन की सुरक्षा, सदुपयोग को पहचाना नहीं, निर्वाह किया नहीं और मूल्यांकन करना तो कोसों दूर रहा। इसका और भी परंपरागत साक्ष्य द्रोह-विद्रोह, शोषण और युद्ध का प्रसंग इतिहास में गुंथा हुआ वर्तमान में देखने को मिलता है। इन सब प्रतिकूलताओं के बावजूद सर्वशुभ कार्यक्रम, योजनाएँ, शास्त्र विधि, विचार विधि, प्रमाण, अनुभव दर्शन विधि अपने आप उद्गमित होकर मानव के सम्मुख प्रस्तुत हो गया है अथवा हो रहा है। यह "समाधानात्मक भौतिकवाद" भी प्रस्तुत है।

मानव परंपरा में बढ़ रहा भ्रम जो अपना-पराया के रूप में है, परेशान कर रहा है। जिससे मुक्त होने के लिए मानव को पहचानना ही होगा। अस्तित्व को पहचानना ही होगा। सहअस्तित्व को पहचानना ही होगा और जीवन को पहचानना ही होगा। यह तथ्य, सत्य, यथार्थ अनेक समुदाय परंपरा रुपी प्रवाह में ऐसी कोई चीज दिखाई नहीं पड़ती है, इसलिए इस साक्ष्य से संपूर्ण समुदायों द्वारा अपने भ्रम को स्वीकारना संभव हो जाएगा। फलस्वरुप निर्भ्रमता के लिए प्रयास सहज रूप में ही होगा। इस प्रकार सभी मानव शुभ चाहते हुए भी, शुभ से वंचित रहे, इसका कारण स्पष्ट हो जाता है और सर्वशुभ के लिए मार्ग सहअस्तित्व सहज प्रणाली से प्रशस्त हो जाता है। सहअस्तित्ववादी प्रणाली में ही संपूर्ण भौतिकता, रासायनिकता समाधान

क्रम में होना प्रमाणित हुआ है। संपूर्ण मानव समाधान के प्यासे हैं। मानव समाधान परंपरा में जीने के लिए बाध्य है। समाधान ही सुख और सौंदर्य होने के फलस्वरुप यही मानव धर्म है, यह प्रमाणित है। मानव के अतिरिक्त सभी जीव, सभी वनस्पति, सभी पदार्थ उन-उन परंपरा के अनुरुप अस्तित्व में निश्चयता सहज सूत्र के अनुरुप कार्य करता हुआ अध्ययन गम्य हो चुका है। यही प्रधान रूप में, समाधानात्मक भौतिकवाद की सफलता है।

मानव सहज शरीर यात्रा, जीवन और शरीर के संयुक्त यात्रा के प्रयोजनों को देखने पर पता लगता है कि जागृति अर्थात् जानना, मानना, पहचानना, निर्वाह करना, उसकी तृप्ति और निरंतरता का होना ही है। यही प्रामाणिकता, स्वानुशासन, सर्वतोमुखी समाधान, समृद्धि, अभय और सहअस्तित्व के रूप में प्रमाणित होना ही है। यही व्यवसाय, व्यवहार, समाज व्यवस्था, विचार और अनुभव सहज रूप में वांछित, आवश्यकीय चिरप्रतीक्षित घटना है अथवा उपलब्धि है। उल्लेखनीय बात यही है कि अब संपूर्ण सौभाग्य, मानव के लिए करतलगत होना संभव हो गया है। इस क्रम में प्रत्येक मानव, प्रत्येक परिवार, संपूर्ण मानव के तन, मन, धन रुपी अर्थ का सदुपयोग एवं सुरक्षा सहज रूप में होगी। फलस्वरुप पर्यावरणीय नैसर्गिक समस्या, प्रदूषण समस्या, न्याय समस्या, सुरक्षा समस्या, उत्पादन समस्या, विनिमय समस्या, शिक्षा-संस्कार समस्या और स्वास्थ्य-संयम समस्याएँ दूर होंगी।

मानव जीवन सहज न्याय-अन्याय, धर्म-अर्धम, सत्य-असत्यात्मक तुलन पूर्वक न्याय, धर्म, सत्य दृष्टि से कार्य करने के क्रम में मानवीय आचरण, अखण्ड न्याय सहज वैभव मानव कुल में सार्थक होगा। सार्वभौम व्यवस्था में भागीदारी, धर्म सहज वैभव, सर्वतोमुखी समाधान सहज विधि से सार्थक होगा। जागृति, प्रमाणिकता, स्वानुशासन सत्य सहज वैभव मानव में, से, के लिए सुलभ रहेगा ही।

(3) चिंतन और चित्रण :-

न्याय सहज वैभव का दृष्टा जीवन ही होता है। जीवनगत चित्त में ही न्याय साक्षात्कार होता है। यह जीवन में होने वाली छठवीं क्रिया चिंतन है। इसके पहले चयन और आस्वादन, विश्लेषण और तुलन क्रियाओं को, प्रत्येक भ्रमित मानव में इन्द्रिय सन्निकर्ष पूर्वक संपन्न होना स्पष्ट किया जा चुका है। चित्त में ही चिंतन और चित्रण कार्य संपन्न होता है। चिंतन में ही (न्याय-धर्म-सत्य रूपी) प्रयोजनों को अनुभव रूप में पहचाना जाता है (अर्थात साक्षात्कार करता है)। चिंतन विधि से न्याय के प्रयोजन को मनुष्य पहचानता है, जीवन पहचानता है। यह न्याय-धर्म-सत्य साक्षात्कार विधि से ही संभव है| फलस्वरुप अखण्ड समाज की कल्पना और परिवार मानव की कल्पना सहज स्पष्ट होता है। फलस्वरुप व्यवहार में प्रमाणित होना आवश्यक हो

जाता है । इस प्रकार चिंतन अर्थात साक्षात्कार में प्रयोजनों का पहचान कल्पनाशीलता के संयोग से ही हो पाता है।

(4) बोध और ऋतंभरा (संकल्प) :-

जीवन सहज और दो क्रियाएँ बोध और संकल्प के रूप में पहचानी जाती है। यह बुद्धि में होने वाला वैभव है। बोध जो कुछ भी होता है न्याय, धर्म, सत्य का ही होता है। न्याय सहज बोध का प्रमाण परिवार मानव के रूप में ही देखने को मिल चुका है। धर्म बोध का तात्पर्य है- सार्वभौम व्यवस्था का बोध होता है। सर्वतोमुखी समाधान को प्रमाणित करने के लिए संकल्पित होना। कल्पनाशीलता = न्याय सहज रूप में सबंधों की पहचान, मूल्यों का निर्वाह कार्य में पहली राहत, पहला सुख जिसकी निरंतरता की संभावना उदय हो चुकी रहती हैं। सर्वतोमुखी समाधान के रूप में संपूर्ण कल्पनाशीलता नित्य सुख के रूप में परिणित हो जाता है या जागृत हो जाता है। यही कल्पनाशीलता का तृप्ति बिंदु है। सर्वतोमुखी समाधान पूर्वक ही व्यवस्था में भागीदारी का प्रमाण व्यवहार में मिल पाता है। यही सुख की निरंतरता की गवाही है। यह भी गवाही है कि व्यवस्था की ही निरंतरता होती है, अव्यवस्था का नहीं। अव्यवस्था का परिवर्तन भावी है क्योंकि अस्तित्व में विकास निश्चित है, इससे व्यवस्था निश्चित है। इसलिए अव्यवस्था का परिवर्तन भावी है, यही नियति है। अनुभव बोध सदा सुखद होता है। परम आनंद सहज बोध में बनी ही रहती है। इसकी सार्थक प्रक्रिया समाधान ही है जो बुद्धि सहज संकल्प के रूप में वर्तमान रहता है।

(5) अनुभव और प्रामाणिकता :-

पाँचवी दो क्रियाएँ जीवन में अनुभव और प्रामाणिकता के रूप में संपन्न होती हैं। मानव संचेतना सहज तृप्ति, उसकी निरंतरता के रूप में अनुभव प्रमाणित होता है। मानव संचेतना जानने, मानने, पहचानने, निर्वाह करने का कार्यकलाप है। इसका तृप्ति बिंदु समाधान है। इसका बोध ही धर्म है। जो परम संतोष और आनंद स्वरुप ऐसे जानने, मानने, पहचानने और निर्वाह करने का तृप्ति बिंदु ही अनुभव की वस्तु है। एक बार किसी एक मुहूर्त में अनुभव गम्य होने के उपरान्त अनुभव मूलक विधि से, जीवन व्यक्त होना पाया जाता है। इसके पहले अनुभव गामी विधि से अर्थात् अज्ञात को ज्ञात करने एवं अप्राप्त को प्राप्त करने के क्रम में जागृति होती है। इसी जागृति क्रम में कल्पनाशीलता कर्म-स्वतंत्रता प्रयोग होते ही रहता आया है।

जागृति जानने, मानने, पहचानने, निर्वाह करने के क्रम में है। यह व्यवहार में स्पष्ट होता है। सर्व प्रथम चयन और आस्वादन में जागृति, दूसरा विचार (विश्लेषण) और तुलन में जागृति। तीसरा चिंतन और चित्रण

में जागृति। चौथा बोध और संकल्प में जागृति। पाँचवें चरण में परम तृप्ति की अनुभूति और उसका प्रामाणिकता। मानवीयता व्यवहार में प्रमाणित होना ही जीवन जागृति सहज अभिव्यक्ति, संप्रेषणा और प्रकाशन है। यही दूसरी भाषा में जागृति सहज अनुभव बल, विचार शैली तथा जीने की कला है। यही मानव परंपरा की मूलपूंजी है। जागृति सहज वैभव ही मानवीयतापूर्ण परंपरा का वैभव है। इसलिए मानव परंपरा का जागृत होना, जागृत रहना सर्वोपरि एवं अनिवार्य है। यही जागृति प्रबुद्धता, संप्रभुता और प्रभुसत्ता के रूप में वैभवित रहना ही त्रिकालाबाध सत्य है।

आवर्तनशील अर्थव्यवस्था, व्यवहारवादी समाज चेतना और मानव संचेतनावादी मनोविज्ञान ही संयुक्त रूप में मानवीयतापूर्ण संस्कृति, सभ्यता, व्यवस्था, विधि, प्रक्रिया, व्यवसाय, व्यवहार, विचार और अनुभव सहित अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था के रूप में जीने की कला को अध्ययन रूप में प्रमाणित करता है। इसका मूल ज्ञान ही जीवन ज्ञान है। मूल दर्शन ही सहअस्तित्व दर्शन है। मूल ज्ञान संबंध में संक्षिप्त पहचान प्रस्तुत किया गया। इसके पहले "परमाणु में विकास" अध्याय में विशद् विश्लेषण हुआ और भी जहाँ-जहाँ, जैसा-जैसा, जितनी-जितनी आवश्यकता पड़ी, जीवन अध्ययनगम्य होता ही रहेगा।

अस्तित्व दर्शन - के संबंध में मानव सहित अस्तित्व, सत्ता में संपृक्त प्रकृति ही हैं। जड़-चैतन्य प्रकृति सदा ही स्थिति-गति सहज सहअस्तित्व के रूप में होना अध्ययन क्रम में पहले "अस्तित्व" अध्याय में प्रस्तुत किया है। इसके बाद भी अस्तित्व सहज अध्ययन, दर्शन के रूप में आवश्यकतानुसार प्रस्तुत होता ही रहेगा। जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन सहज अभिव्यक्ति के रूप में मानवीयतापूर्ण आचरण और उसके वैभव को स्पष्ट कर दिया गया है। अस्तु, अस्तित्व दर्शन जीवन ज्ञान और मानवीयतापूर्ण आचरण सहज रूप में ही मानव परंपरा अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था के रूप में वैभवित होने की संभावना को स्पष्ट किया गया है।

अभी जो कुछ भी मानव के समक्ष स्पष्ट किया जा रहा है, अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था, जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन, मानवीयता पूर्ण आचरण के आधारों पर प्रस्तुत किया जा रहा है। इस चिंतन में और भी मौलिक तथ्य हमें पहचानने में आया कि मानव ही अस्तित्व का दृष्टा है। अस्तित्व सत्ता में संपृक्त जड़ और चैतन्य प्रकृति है। अस्तित्व ही सहअस्तित्व के रूप में नित्य वर्तमान है। अस्तित्व ही परम सत्य है। जीवन जागृति पूर्णता, उसकी निरंतरता ही मानव सहज गंतव्य और गति है। इन तथ्यों को पूर्णतः समझने के उपरान्त ही "समाधानात्मक भौतिकवाद" को मानव में, से, के लिए अर्पित किया गया है।

मानव सहज रूप में जागृत होना चाहता ही है। जागृति पूर्वक ही उत्पादन कार्यों में प्रदूषण निवारण के उपाय भी समझ में आते है और उत्पादन कार्य संयत हो जाता है। संयत होने का तात्पर्य उत्पादित वस्तुओं

में गुणवत्ता की मजबूती श्रेष्ठता, तादाद, उपयोगिता, सदुपयोगिता और प्रयोजनीयता के अर्थ में है। इसकी सार्थकता के स्वरुप में व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी, नियंत्रण का ध्रुव बनती है, इसलिए नियंत्रण संभव है। ऐसी स्थिति अखण्ड समाज सूत्र से सूत्रित रहेगी और उसकी अक्षुण्णता मानव परंपरा सहज जागृति के आधार पर सफल सार्थक रहेगी।

सहअस्तित्व सहज रूप में ही आवर्तनशीलता प्रभावशील होने के कारण मानव जागृतिपूर्वक आवर्तनशील विधि से जीने की कला को विकसित करता है। इसका कारण तत्व यही है कि मानव परंपरा सहज रूप में अस्तित्व में विश्वास करता है, इसका तात्पर्य जागृति है। अस्तित्व में जागृति, सहअस्तित्व में जागृति, विकास प्रणाली में जागृति, जीवन में जागृति, भौतिक-रासायनिक रचना-विरचना में जागृति, पूरकता में जागृति, उदात्तीकरण में जागृति, "त्व" सहित व्यवस्था में जागृति, मानवत्व सहित मानव अखण्ड समाज सार्वभौम व्यवस्था में भागीदारी निर्वाह करने में जागृति; प्रामाणिकता, स्वानुशासन, सर्वतोमुखी समाधान, समाज न्याय में जागृति, समृद्धि और अभयता में जागृति, क्रियापूर्णता, आचरण पूर्णता और उनकी निरंतरता में जागृति सर्वसुलभ रहने के आधार पर ही मानव परंपरा जागृत रहने का प्रमाण अक्षुण्ण रहता है। ये सभी मुद्दे, ये सभी बिंदुएँ अस्तित्व दर्शन, जीवन ज्ञान और मानवीयतापूर्ण आचरण पूर्णत: उसी निरंतरता में समाए रहते हैं। फलस्वरुप मानवीयतापूर्ण संस्कृति, सभ्यता, विधि व व्यवस्था सर्वसुलभ हो जाती है। यही मानव कुल की महिमा है। इस विधि से युद्ध, शोषण, द्रोह-विद्रोह विहीन सहअस्तित्व सहज समाज रचना और सार्वभौम व्यवस्था मानव कुल के लिए सहज सुलभ होगी।

परस्पर पूरकता क्रम ही आवर्तनशीलता है, मानव जागृति पूर्वक संपूर्णता सहज प्रयोजनों को ध्यान में रखते हुए कार्यक्रमों को पहचानने से अपने आप आवर्तनशील हो जाता है। जैसे धरती का संरक्षण, क्षरण शीलता से मुक्ति दिलाना, उर्वरक से समृद्ध बनाये रखना। यह स्वाभाविक रूप में, जो कुछ भी सुरक्षित धरती पर जितनी हरियाली उत्पन्न होती है, सबको उस धरती पर समा लेने पर उस धरती की उर्वरकता संतुलित रहते हुए किसी न किसी मात्रा में समृद्ध होती हुई देखने को मिलती है। जहाँ तक अनाज को पाते है, वह भी अंततोगत्वा खाद बनकर धरती में समा जाता है। यह स्वयं आवर्तनशीलता का प्रमाण है। यह संबंध श्रम नियोजन विधि से संपन्न होता है। श्रम नियोजन पूर्वक ही मानव धरती की क्षरणशीलता को रोक पाता है। इसके फलस्वरुप धरती में फसल बोने की संभावना और फसल होने की संभावना तथा धरती की उर्वरकता को बनाए रखने में संतुलन की संभावना, यही आवर्तनशीलता का फलन हैं। धरती के संरक्षण से स्वाभाविक रूप में धरती में जो पानी बरसता है, वह अधिकाधिक धरती में समाने का अवसर एवम् परिस्थितियाँ निर्मित हो गई। इससे धरती में समाया हुआ जल धरती के लिए सदा ही उपयोगी होना पाया गया।

जल संरक्षण क्रम में अधिकाधिक जल को एकत्रित कर रख लेना, कृषि के लिए, हरियाली के लिए उपयोगी होना पाया जाता है। उसी के साथ-साथ वातावरण सहज ऊष्मा के प्रभाव से जब धरती से पानी का वाष्पीकरण होता है, वह जितना अधिक होगा, उतना ही अधिक वर्षा होने की संभावना बन पाता है। इसमें यह भी ध्यान देने की बात आती है कि जैसे-जैसे युद्धोन्माद और लाभोन्माद घटता जायेगा वैसे ही क्रम से समुद्र, धरती का वायुमंडल, धरती के भीतर जो खलबली मानव ने उन्मादवश पैदा किये है, वह शनै:-शनै: कम होने की संभावना बनती हैं। अभय सहज मानव परंपरा में युद्ध की आवश्यकता शनै:-शनै: कम होते हुए कुछ समय के अनंतर शून्य हो जाता है। अर्थात् नियंत्रित हो जाता है अर्थात् जागृति सहज नियंत्रण प्रभावशील होता है। दूसरा, अपव्यय समाप्त होने लगता है। सद्व्यय, सार्थकता, सुरक्षा अवतरित होने लगती है। फलस्वरुप आवश्यकताएँ संयत हो जाती है। उत्पादन की तादाद वह भी यांत्रिकता संबंधी वस्तुओं का (अनावश्यक) उत्पादन न्यूनतम होते जाता है। फलस्वरुप इससे संबंधित वस्तुओं की आवश्यकता कम हो जावेगी। सदुपयोग की विधि में आज भी यंत्रों का उपयोग न्यूनतम हो जाता है। सुविधा, मनमौजी, रंगरैली कार्यक्रमों के लिए भय तथा प्रलोभन नहीं रहता। भ्रमवश लाभोन्मादी, कामोन्मादी, भोगोन्मादी विधि से आज सर्वाधिक यांत्रिक उपकरणों का उपयोग होता हुआ आंकलित होता है। ये सब इसमें से व्यर्थता जिन-जिन में मूल्यांकित होता है, कम होना स्वाभाविक है। यंत्र दूरसंचार, दूरदर्शन समाज गति के अर्थ में अवश्य रहेगा, जो परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था (जो एक परिवार में विश्व परिवार रूप में समाज रचना, उसकी व्यवस्था) का तालमेल बनाए रखने के लिए उन यंत्रों का उपयोग, सदुपयोग और प्रयोजनशीलता रहेगी। हर परिवार मानव के लिए हर देश, हर काल में समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व सहज विधि से जीने की कला वर्तमानित रहेंगी।

ऊपर कहे अनुसार व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी को जीता हुआ मानव में उत्सवशील रहने के आधार पर अपव्ययता अपने आप समाप्त हो जाती है। इसलिए यंत्रों की आवश्यकता कम हो जावेगी। फलत: कोलाहल, भय, सशंकता समाप्त होती जायेगी; उत्साह, उत्सव, नित्य उमंग निरंतर उद्गमित होता जायेगा। फलस्वरुप सुख, समाधान, सौंदर्य बोध निरंतर सुलभ रहेगा। इसलिए चंचलता-कौतूहल अपने आप समाप्त होते जाएगा। हर यात्रा; परीक्षण, निरीक्षण, सर्वेक्षण, अध्ययन, अध्यापन और व्यवस्था में श्रेष्ठता के ध्रुवों पर शिक्षा प्रदान करना और शिक्षा ग्रहण करने के अर्थ में परंपरा सहज होगा।

मानव को अपने में अभी तक के अध्ययन से वर्तमान परिस्थितियों को ध्यान में रखकर इस बात का विश्लेषण समझ में आना आवश्यक है कि "मैं जो कुछ भी करता हूँ, समझकर करता हूँ या करके समझता हूँ अथवा कोई कराता भी है?" इन बातों पर विचार करना आवश्यक है।

अस्तित्व को सहअस्तित्व के रूप में ध्यान में लाने पर पता चलता है कि जागृति पूर्वक मानव ही अस्तित्व में दृष्टा है। दृष्टा पद की संभावना में प्रत्येक मानव है, इसका साक्ष्य व्यवहार में प्रमाणित होने वाली कल्पनाशीलता और कर्म स्वतंत्रता ही है। इस बात का विश्लेषण हो चुका है कि मानव बहु-आयामी अभिव्यक्ति है। सभी आयामों, कोणों, दिशाओं और परिप्रेक्ष्यों में मानव का व्यक्त होना अवश्यंभावी और नियति है। इसमें सफलता का संपूर्ण स्रोत केवल मानव परंपरा, अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था में जागृति है और यह मानव जीवन का चिरंतन सत्य है। इसके आधार पर अर्थात् जागृति सहजता के आधार पर संपूर्ण आयामों, कोणों, दिशाओं, परिप्रेक्ष्यों में की गई अभिव्यक्ति, संप्रेषणा, प्रकाशन, कार्य-व्यवहार ही समाधान के रूप में प्रमाणित है यह स्पष्ट हो चुका है। इन तथ्यों से यह निर्धारित होता है कि स्थिति और गति में पूरकता विधि से संपन्न किया गया कार्य-व्यवहार समाधान पूर्वक ही सफल होना पाया जाता है। सफलता का तात्पर्य समाधान, समृद्धि, अभय और सहअस्तित्व के फलित होने से है। सफलता का दूसरा स्वरुप अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था में भागीदारी प्रमाणित होने से है। यह समझदारी पूर्वक किया गया कार्य-व्यवहार का फलन, इन स्वरुपों में वर्तमान और प्रमाणित होना पाया जाता है। इससे यह पता लगता है कि समझकर किया गया कार्य व्यवहार सफल होना संभव है, सफल होना आवश्यक है, सफल होना सार्थक है और अनिवार्य है।

व्यवहार प्रमाण के आधार पर ही सार्वभौम व्यवस्था और अखण्ड समाज प्रमाणित हो पाता है। इसलिए आवश्यकताएँ सीमित अथवा संयत होती हैं। वर्तमान में विश्वास ही व्यवस्था का प्रमाण है। इसलिए भी मानव का संयत होना सहज होता है। मानव का संयत होना ही आवश्यकताओं को संयत अथवा सीमित होना है। यही समझदारी की मूल वस्तु है। ऐसी समझदारी के आधार पर ही सीमित आवश्यकताओं के आधार पर उत्पादन कार्य संयत होना, विनिमय कार्य लाभ-हानि से मुक्त विधि से संपन्न होना, देखने को मिलता है। फलत: लाभोन्माद संयत होना सहज है। कोई एक उन्माद संयत होने के आधार पर, अन्य दोनों उन्माद संयत हो जाते हैं। लाभोन्माद, कामोन्माद और भोगोन्माद ही मानव परंपरा में अव्यवस्था का कारक एवं द्योतक है। न्याय सुलभता से भोगोन्मादी और कामोन्मादी प्रवृत्तियाँ संयत हो जाती हैं। समग्र व्यवस्था में भागीदारी, सर्वतोमुखी समाधान और प्रामाणिकता के आधार पर सहज ही लाभोन्माद का संयत होना संभव है। इस प्रकार तीनों उन्माद शांत होकर, सार्वभौम व्यवस्था, अखण्ड समाज परंपरा के उत्सव में अथवा नित्य उत्सव में विलीन हो जाते हैं।

जागृति क्रम में यही महिमा देखी गई है कि जैसे-जैसे मानव जागृत होता है, वैसे ही अजागृति अथवा भ्रम जन्य कार्यकलाप समाप्त हो जाते हैं। इसे ऐसा भी समझ सकते है कि किसी भी कार्य-व्यवहार को सही

ढंग से करते तक गलतियाँ होना संभव है अथवा गलतियाँ होती हैं। सही कार्य समझ में आने के उपरान्त गलती की संभावना ही समाप्त हो जाती हैं। निर्भ्रमता का प्रमाण मानवत्व सहित व्यवस्था, समाज और सामाजिकता है। समाज और सामाजिकता में, मानव से मानव को विश्वास सहज ही होता है। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदार होना विश्वास का प्रमाण है। ऐसी व्यवस्था में प्रमाणित होना, जागृति और जागृति प्रकरण प्रमाण रूप में होता है। अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था ही जागृति का द्योतक है।

उक्त तथ्यों से यह स्पष्ट हो गया कि जीने की कला, विचार शैली और अनुभव बल के आधार पर ही, मानव परंपरा अपनी जागृति का साक्ष्य प्रस्तुत कर पाती है। भविष्य के प्रति आश्वस्त एवं वर्तमान में प्रमाण रूप में अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था के रूप में वैभवित हो पाता है। यही मानव का लक्ष्य है। इस लक्ष्य के संदर्भ में ही आवश्यकता, उत्पादन के लिए उद्योग तथा संबंध और संतुलन को बनाये रखना सुलभ हो जाता है। मुख्य बात यह है कि-

1. व्यवस्था में मानव संयत होता है, जो जागृति का प्रमाण है।
2. परिवार मानव की आवश्यकता संयत होती है, यह जागृति का प्रमाण है।
3. प्रत्येक परिवार आवश्यकता से अधिक उत्पादन करता है, यह जागृति का प्रमाण है।
4. प्रत्येक परिवार अथवा प्रत्येक अवस्था में परिवार समृद्धि का अनुभव करता है, यह जागृति का प्रमाण है।

इस तथ्य को ऐसा समझा जा सकता है कि जब परिवार अपनी स्वायत्तता की परिभाषा में वर्तमान होता है, तब यह परस्पर संबंधों को पहचानता हुआ, मूल्यों को निर्वाह करता हुआ और मूल्यांकन करता हुआ देखने को मिलता है। साथ ही परिवार में अपनाया हुआ उत्पादन कार्य में भागीदार होता हुआ देखने को मिलता है। इस क्रम में आवश्यकता से अधिक उत्पादन, प्रमाणित होता है। इसके मूल में यह भी तथ्य प्रभावशील रहता है कि जीवन और शरीर के संयुक्त रूप में प्रत्येक मानव वैभवित होने के कारण, जीवन शक्तियाँ अक्षय होने के कारण आवश्यकताएँ सीमित होने के कारण आवश्यकता से अधिक उत्पादन होता है। फलत: समृद्धि का अनुभव होना संभव है।

5. परिवार मानव समाधान-समृद्धि पूर्वक प्रमाण है जो अर्थ (तन, मन, धन) का सदुपयोग-सुरक्षा करता है। यह जागृति का प्रमाण है। फलस्वरुप उद्योगों को मानव सहज आवश्यकता के अनुरुप निर्वाह करना सहज हो जाता है।

मानव परंपरा जब से जागृत परंपरा के रूप में प्रामाणिक हो जावेगी, उसी मुहूर्त से नैसर्गिक और वातावरण संतुलन के लिए जागृति होना स्वाभाविक है। जैसे ईंधन (ऊर्जा) स्रोतों को उपयोग करने के क्रम में और इनके उपयोग के तादाद तरीके के आधार पर ही पर्यावरण संबंधी समस्या ग्रस्त होना अथवा समाधानित होना पाया जाता है। इस मुद्दे पर संतुलन का आधार ऊर्जा स्रोत के रूप में खनिज, कोयला और तेल को पहचाना गया। वह प्रदूषण के लिए सर्वाधिक कारक तत्व सिद्ध हुआ। इससे यह ज्ञानार्जन होता है या मानव की समझ में आता है कि अन्य प्रकार के ऊर्जा स्रोतों से आवश्यक कार्य करना चाहिए। ऐसी ऊर्जा स्रोत सूर्य ऊर्जा और प्रवाह शक्ति के रूप में बड़ी तादाद में दिखाई पड़ती हैं। इन दो स्रोतों को सर्वाधिक उपयोग करने की विधि को, तरीके को तत्काल खोज लेना चाहिए। इन दो स्रोतों में से प्रवाह शक्ति को, विद्युत चुम्बकीय शक्ति में परिवर्तित करना शीघ्र आरंभ करना चाहिए। फलत: खनिज तेल और कोयले को उपयोग करने की आवश्यकता न हो। इसी के साथ और ऊर्जा स्रोत जैसे - गोबर गैस, कचरा गैस के रूप में जो पहचाना गया, उसकी वृद्धि किया जाना चाहिए। जिससे ईंधन और मार्ग प्रकाश दोनों पूरा हो सके। इसी बीच में सौर ऊर्जा को उपयोग करने के उपकरणों का निर्माण और उसकी सुलभ उपलब्धियों के संबंध में संपूर्ण जन मानस को जागृत करना आवश्यक है।

मानव जागृत परंपरा सहज रूप में जीने के क्रम में शरीर को निरोग रखना भी एक कार्य है। इस क्रम में जो संक्रामक, आक्रामक विधियों से जो कुछ भी परेशानियाँ देखने को मिलती हैं, उसके निवारण के लिए सर्वत्र सहज रूप में पाई जाने वाली जड़ी-बूटी आदि घरेलू वस्तुओं से बहुत सारे रोगों को ठीक करने का अधिकार हर परिवार में स्थापित कर लेना सहज है। क्योंकि परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था क्रम में स्वास्थ्य-संयम कार्यक्रम प्रत्येक परिवार का एक दायित्व है। इस क्रम में पवित्र आहार पद्धति एक प्रमुख कार्यक्रम रहेगा। इसे ध्यान में रखकर कृषि कार्य के लिए जो समझदारी चाहिए उसको भी स्वीकृति करना आवश्यक हो जाता है। इस क्रम में धरती का उर्वरक संतुलन को बनाए रखना एक आवश्यकता है। इसमें मानव का दायित्व भी बनता है। धरती, अनाज उत्पादन-कार्य, उर्वरकता का संतुलन स्वाभाविक रूप में एक-दूसरे से आवर्तनशील कार्य हैं। इस आवर्तनशीलता में पहले भी संतुलन का जिक्र किया जा चुका है। इसमें मुख्य बात यही है कि धरती में उपजी हुई संपूर्ण हरियाली, दाना को निकालने के उपरान्त सभी घास, भूसी, जानवर खाकर गोबर गैस के अनंतर खाद बनकर खेतों में समाने की विधि को अपनाना चाहिए। अन्यथा घास, भूसी ज्यादा होने की स्थिति में अच्छी तरह से सड़ाकर खाद बनाना चाहिए। यह खेतों में डालना चाहिए। यह विधि सर्वाधिक कास्तकारों के यहाँ प्रचलन में है ही। इसकी तादाद बढ़ाने की आवश्यकता है। जैसे-जैसे खेत अधिक होता है वैसे-वैसे खाद की मात्रा भी अधिक होना आवश्यक है।

कीटनाशक या कीट नियंत्रक कार्यों को भी कास्तकारों को अपने हाथों में बनाए रखना चाहिए जिससे पराधीनता की नौबत न आए।

धरती में अम्ल और क्षार अनुपाती विधि से समाहित होने का जो क्रम बना है, वह पाचन विधि से बना है। धरती में पाचन विधि का तात्पर्य जहाँ तक उर्वरक संवहन प्रक्रिया रहती है वहाँ तक (उतनी गहराई तक) धरती में हवा का संचार होना पाया जाता है। यही पाचन विधि का क्रम है। इस विधि से हवा से धरती को जो आवश्यक चीज है, रसायन है या वस्तु है, वह समावेश होने के क्रम में हैं। यह क्रिया अनुपाती अम्ल, क्षार आदि रसायनों के संयोग से होता है। जैसे-जैसे अम्ल, क्षार आदि रसायन अर्थात् खनिज संयोग से धरती का अर्थात् कृषि और वन का संयोग होने से धरती में अनुपाती अम्ल और क्षार संचय होना पाया जाता है, यही अनुपात से अधिक क्षार ही ऊसर (बंजर) भूमि में परिवर्तित हो जाता है जिसमें फसल की संभावना समाप्तप्राय हो जाती है।

अभी जैसा भी रासायनिक खाद और उसके मनमाने उपयोगों को देखने पर पता चलता है कि एक दो पीढ़ी के बाद धरती से कोई कुछ ले नहीं पाएगा। इसके आधार के रूप में कहीं भी इस बात को सर्वेक्षण कर सकते है कि जहाँ-जहाँ रासायनिक खाद का उपयोग हो रहा है, उस जमीन में अम्लीयता, क्षारीयता कितने प्रतिशत बढ़ गई। इसके अनुपात को ऐसे सभी खेतों में परीक्षण कर सकते है कि जब से रासायनिक खाद पड़ रहा है उसके पहले जिन-जिन खेतों की मेड़ बन चुकी है, उन खेतों के मेड़ों की मिट्टी का परीक्षण प्रयोग कर सकते हैं। वहाँ रासायनिक खाद के पहले की मिट्टी रहती ही है। उसके आधार पर अम्ल और क्षार खेतों में कितना बढ़ा है, उस अनुपात का पता लगाया जा सकता है। इससे यह भी पता लगेगा कि कितने अनुपात में रासायनिक खाद डालने से कितने दिन में अम्ल और क्षार कितना बढ़ेगा, जिससे वह ऊसर (बंजर) हो जावेगी। इन सब चीजों का आज की स्थिति में सबके लिए परीक्षण करना सुलभ हो गया है। आज की अधिकांश धारणा रासायनिक खाद और कीटनाशक दवाइयों के दूरगामी प्रतिकूल प्रभाव के ऊपर अथवा प्रतिकूल प्रभाव की कल्पना के आधार पर, सुनने को मिलता है।

इन सभी अनुभवों के आधार पर अथवा सहअस्तित्व सहज आवर्तनशीलता के आधार पर देखने पर पता चलता है कि - मिट्टी के गुण, धर्म को उसकी उर्वरकता के आधार पर ही पहचाना जाता है। उर्वरकता में इन सभी द्रव्यों (रसायनों) की सम्मिलित क्रियाकलाप देखने को मिलती है कि वनस्पतियों के सभी आवश्यकीय रसायन द्रव्य, अनुपाती विधि से समाहित हैं। जिसको पाकर बीज अनेक बीजों में परिवर्तित करने योग्य द्रव्यों के रूप में पहचाना जाता है। इस प्रकार उर्वरकता का आधार उर्वरक मिट्टी और वनस्पति के संयोग से ही, धरती और हरियाली की आवर्तनशीलता में ही धरती में उर्वरकता अपने आप बढ़ती है।

प्राणावस्था, पदार्थावस्था के पूरक होने के क्रम में उर्वरक पूर्ण होना पाया जाता है। यही मुख्य सूत्र है कि धरती की उर्वरकता से संपन्न होना और हरियाली से भरपूर होना। इस धरती को जैसा भी घोर परिश्रम से जीव पक्षियों की पूरकता के संयोग से ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों में भी बड़े-बड़े वृक्षों को पनपता हुआ, परिवर्तित होता हुआ देखने को मिलता है। यह मानव से पहले ही अथवा धरती पर मानव के अवतरित होने के पहले की बनी हुई स्थिति रही। मानव का वनों पर जैसे ही हाथ चला, बहुत सारे भागों को मैदान बना डाला। बहुत सारे भागों को वन से रहित किया। वन काट डाला। ऐसी स्थली में मानव ने सर्वाधिक खेती व बगीचे का काम किया। इसमें फूल और औषधि एक शोभनीय कार्य रहा। इस क्रम में धरती की उर्वरकता भौतिक रूप में जो जंगल झाड़ी के पत्ते और खड़े हुए तृणों (घास-फूस) से मिलती रही। मानव ने फसल उगाना शुरु किया। जो सामान्य रूप में अनाज के आधार पर किया गया। अनाज के साथ घास-भूसी होना स्वाभाविक रहा। उसको पुन: खेत में वितरित करने में जो व्यतिरेक पैदा हुआ, उसी के आधार पर धरती की उर्वरकता कम होते गई। दूसरी विधि से भी उर्वरकता में कमी होना देखा गया। सैकड़ों वर्षों से धरती जहाँ-जहाँ क्षरण प्रणाली के चपेट में रही, वहाँ उर्वरकता का ही ह्रास होने लगा। इस प्रकार जितने स्थानों पर क्षरण हुआ, वहाँ-वहाँ धरती बंजर होने लगी। इसका मूल कारण मानव ही रहा। अंततोगत्वा मानव अपने कार्यकलापों को करते और प्रकृति सहज परिणामों को समझते हुए आज यहाँ तक पहुँचा। आज की स्थिति यही है कि वन खनिज के साथ मानव ने जैसा उत्पात मचाया, चाहे वह जैसा भी मानसिकता हो, वन खनिज तो क्षतिग्रस्त हुई ही हैं। यह सब क्षति मानव से हुई, यह बात समझ में आ गई है। अब क्षतियों को कैसे पूरा किया जाए, उसके पहले क्षति न करने की विधियों को कैसे अपनाया जाए, ऐसी समझदारी की आवश्यकता, अनिवार्यता और अपरिहार्यता आ खड़ी है।

जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान, मानवीयता पूर्ण आचरण ज्ञान, अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था और सहअस्तित्व सहज गति के द्वारा सहज रूप में ही, धरती में जो कुछ भी क्षति हुई है, वह पुनश्च अपने में भर जाने की एक व्यवस्था सहअस्तित्व में रखी गई है। खनिज, लोहा, कोयला और तेल यही सबसे बड़ा अत्याचार का आधार रहा है। इसे गंभीर क्षति माना जा सकता है। इस धरती को संतुलित रखने के लिए जो कुछ भी खनिज और वनस्पति तैयार हो चुके हैं, उनमें संतुलन गुण बना ही है। इसका प्रमाण यही है कि यह धरती चारों अवस्थाओं सहित स्वयं में एक व्यवस्था है और समग्र व्यवस्था में भागीदारी के रूप में कार्य करता हुआ देखने को मिल रहा है। यह इस प्रकार है कि यह धरती एक सौर व्यूह में, सौर व्यूह अनेक सौर व्यूह में, अनेक सौर व्यूह आकाश गंगा में भागीदारी के रूप में कार्य करता हुआ देखने को मिल रहा है। ब्रह्माण्डीय किरण-विकिरण और ऊष्मा परिवर्तन कार्यकलाप विकास और पूरकता के लिए सहायक है। इस धरती के लिए प्रतिकूल किरण-विकिरण प्रभाव को अनुकूल बना लेने योग्य धरती स्वयं

अपने प्रभाव क्षेत्र को बना ली है। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए मानव को अपने द्वारा किए हुए भूलों को सुधारने के लिए तत्पर होना ही पहला कदम है।

विश्व जन मानस में मानव परंपरा से हुई भूल सुधारने के लिए आवश्यकीय वास्तविक विचारों की एक आवश्यकता बनी ही रही। यह मध्यस्थ दर्शन, सहअस्तित्ववाद, आवर्तनशील अर्थव्यवस्था, व्यवहारवादी समाजशास्त्र और मानव संचेतनावादी मनोविज्ञान के आधार पर मानव सुधार के लिए मानसिकता तैयार कर सकता है। यह मानव के लिए अर्पित हो चुका है। यह दर्शन अपने आप में संपूर्ण आयाम, कोण, दिशा, परिप्रेक्ष्य में नैसर्गिकता, वातावरण, संबंध, संपर्क, स्थिति-गति में, मानव के भ्रमवश पैदा की हुई संपूर्ण समस्याओं का समाधान है। इसलिए यह "समाधानात्मक भौतिकवाद" रासायनिक-भौतिक संतुलन, पूरकता संबंधी तथ्यों पर सहज ही समाधान प्रस्तुत करता है। इसी क्रम में इस धरती के साथ मानव का अत्याचार वन, खनिज के साथ हुआ। उसमें से घातक क्षति खनिज, कोयला एवं खनिज तेल का होना, स्पष्ट किया जा चुका है।

धरती पर मानव से हुई क्षति की पूर्ति के लिए सौर ऊर्जा, प्रवाह शक्तियों के प्रति शक्तियों की उपयोगिता विधि में जागृत होने पर बल दिया। सूर्य ऊर्जा को रश्मि से किरण विधि में ऊष्मा का संग्रहण विधि से उपयोग करने की तकनीकी, अभी कुछ दूरी तक विकसित हुई है। जिसका और अधिक विकास होना और लोकमानस तक लोकव्यापी करना - यह आवश्यक कार्य है। प्रवाह शक्ति से बिजली तैयार करने के कार्यक्रम को सर्वोपरि मानकर जुड़ना आवश्यक है। इस कार्य में पहले से ही आदमी पारंगत हुए। इसमें आवश्यकीय बदलाव लाने में आज का मानव समर्थ है, महत्वपूर्ण बिंदु यही है। जहाँ तक तेल और तेल से चलने वाले यंत्रों की बात है, जिसके लिए खनिज तेल की अपरिहार्यता बनी रही है, इसके लिए धरती की सतह में तैलीय वृक्षों की पहचान, सर्वाधिक तेल उत्पन्न करने वाले वृक्षों की पहचान, सर्वाधिक तेल उत्पन्न करने वाले वृक्षों का वृक्षारोपण करना आवश्यक है। प्रत्येक कास्तकार अपनी आवश्यकतानुसार तेल उत्पादन करने का कार्यक्रम स्थापित करे, यह आवश्यक है।

इसी के साथ साथ यह भी आवश्यक है कि जहाँ तक भवन निर्माण कार्य हैं, उसमें लकड़ी की आवश्यकता को तब तक न्यूनतम किया जाय जब तक जंगल समृद्ध न हो जायें। सर्वाधिक आवश्यक है, घरों को केवल मिट्टी और ऊष्मा के संयोग के आधार पर बनी हुई ईंट, खप्पर बनाने की तकनीकी को, अभ्यास को, लोकव्यापीकरण कर लेना। इसी के आधार पर घर-मकान बनाने में जंगलों से जो अपेक्षाएँ सहायक साधन के रूप में सोचते रहे, करते आए, इसका निराकरण ऊपर कहे अनुसार स्पष्ट होता है।

उसी के आधार पर और एक महत्वपूर्ण संभावना मानव के सम्मुख होती है कि जंगलों में तैलीय वृक्षों का वृक्षारोपण किया जाय। इस विधि से आँकड़ें निकालने पर यह पा सकते है कि धरती के नीचे से जितना तेल निकालते रहे है, उस अनुपात में कहीं अधिक गुना तेल धरती की सतह में उत्पन्न होने की स्थिति है - यह समझ में आता है। इसी के साथ ऐसे वनस्पति तेलों से चलने वाले यंत्रों को तैयार कर लेना भी एक कार्यक्रम है। यह घटित हो सकता है। इस कार्यक्रम से तेल और कोयला को धरती के अंदर से निकालने की आवश्यकता शून्य हो सकती है। वनस्पति तेल जलने से जो धुआँ होता है उसको पचाने का कार्य वनस्पति जगत में बना ही हुआ है, जबकि खनिज तेल और कोयले के धुएँ के अधिकांश भाग को पचाने में वनस्पति संसार असमर्थ रहता है। परिणाम स्वरुप प्रदूषण बढ़ा, पर्यावरण असंतुलन हुआ। बड़े-छोटे यंत्रों को चलाने के क्रम में इन सभी साधनों जैसे सूर्य ऊर्जा, प्रवाह शक्ति के विद्युतीकरण, वनस्पति तेलों से यंत्रों को चलाने की प्रक्रिया को प्रमुख ऊर्जा स्रोत के रूप में पहचानते हुए समस्त यंत्र योजना और निर्माण उससे काम लेने की कार्य योजनाओं में मानव को पारंगत होने की आवश्यकता है। इसे परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था कार्य-व्यवहार विधि से संपन्न किया जाना संभव है परिवार मूलक स्वराज्य योजना की कार्य योजना पहले स्पष्ट हो चुकी है।

इस प्रकार मानव कुल के द्वारा भ्रमवश किये हुए सभी भूलों का सुधार समाधान सहित व्यवस्था क्रम में हो सकता है।

अस्तित्व सहज एवं मानव सहज व्यवस्था का अध्ययन ही मूलत: नैसर्गिक मानव की पारंपरिक व्यवस्था का सहज अध्ययन है, जो स्वयं जागृति का प्रमाण हैं। सम्पूर्ण जागृति, सर्वतोमुखी समाधान, प्रामाणिकता और लोक न्याय के रूप में वैभवित हो पाते हैं। फलत: समृद्धि और अभय मानव में, से, के लिए सुलभ हो जाता है। सभी कार्यों के साथ मानव परंपरा का परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था के रूप में अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था के रूप में वैभवित होना संभव हैं। जिसकी आवश्यकता सर्वमानव में पाई जाती है अथवा स्वीकृति सर्वमानव में पाई जाती हैं। इसलिए परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था कार्यक्रम को प्रमाणों के आधार पर अपनाना चाहिए।

परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था विधि से ही न्याय-सुलभता और लाभ-हानि मुक्त विनिमय सुलभता संभव हो जाती हैं। ऐसा संभव होने पर संग्रह के स्थान पर समृद्ध होना ही है। प्रत्येक परिवार मानव आवश्यकता से अधिक उत्पादन करने के क्रम में समृद्धि का अनुभव करता है। न्याय सुलभ होने से मानव वर्तमान में विश्वास करता ही है। फलत: सभी ओर समाधान नजर आता है। इसी सत्यतावश समृद्धि सहित परिवार मानव व्यवस्था के रूप में प्रमाणित हो जाता है।

हर परिवार में आवश्यकता से अधिक उत्पादन होने के आधार पर प्रत्येक परिवार में शरीर पोषण, संरक्षण और समाज गति के अर्थ में निश्चित उत्पादन-कार्य विधिवत् निर्धारित रहना संभव हो जाता है। फलस्वरुप उत्पादन सुलभता का अनुभव होना सहज है। इस प्रकार न्याय सुलभता, उत्पादन सुलभता, विनिमय सुलभता सहज आवर्तनशील वैभव, स्वयं नित्य उत्सव के रूप में स्वराज्य व्यवस्था को प्रमाणित कर देता है। ऐसे उत्सव के अभिन्न अंगभूत मानवीय शिक्षा-संस्कार और स्वास्थ्य संयम सहज कार्यक्रम मानव कुल में व्यवहृत होता ही रहेगा।

11) भय, प्रलोभन या मूल्य और मूल्यांकन

भय और प्रलोभन का प्रचलन अर्थात् जन मानस में स्वीकृति शुभ के अर्थ में आदर्श युग के आरंभ काल से ही होना पाया जाता है। धर्मशास्त्रों, परीकथाओं से यह पता लगता है कि विभिन्न समुदायों में विभिन्न प्रकार से पाप पुण्य कार्यों, व्यवहारों का उपदेश दिया गया। इसी प्रकार पुण्य कार्य-व्यवहार के विपरीत रूप में किये गये कार्य-व्यवहार को पाप निरुपित किया गया। पाप और नरक के प्रति भय तथा पुण्य और स्वर्ग के प्रति प्रलोभन उपदेशों से, सभी कथा परीकथाओं को प्रत्येक परंपरा में प्रकारान्तर से कहा गया है। यही कारण रहा, लोक मानस ने स्वर्ग और पुण्य को अपनी चाहत में बसा लिया, फलस्वरुप भय को स्वीकार लिया। आदर्श युग के पहले भय रहा ही। नस्ल-रंग के आधार पर कबीला युग तक प्राकृतिक भय एवं मानव की परस्परता में भय बना ही रहा, यही प्रधान कारण रहा। यही आदर्श युग में, प्रलोभन की बात स्वीकारने का आधार हुआ और सुरक्षा का आश्वासन राजगद्दी से प्राप्त होता ही रहा। धर्म गद्दी से स्वर्ग का प्रलोभन एवं मोक्ष का आश्वासन मिलता ही रहा। इस प्रकार भय, प्रलोभन, सुरक्षा के आश्वासन पर आधारित जीने के तरीके विकसित होते रहे। आज भी भय और प्रलोभन के साथ ही राज्य शासन, उद्योग व्यवस्था को निर्वाह करना चाहते हैं। यह सभी देशों में प्रकारान्तर से प्रभावशील रहा है।

गणतांत्रिक विधि से जब शासन जनादेश के आधार पर राजनैतिक दलों के हाथ लगा, उसमें जनादेश पाने के लिए जनमत के साथ धन व्यय को सवैध मान लिया गया। यही मुख्य रूप में गणतांत्रिक प्रणाली की जड़ में ही पराभव का बीज जुड़ गया। बँटवारे के अनंतर पैसा पाने के अधिकारों का बँटवारा से संतुष्टि-असंतुष्टि बह पड़ी। इस प्रकार गणतंत्र प्रणाली आज वोट-नोट, बँटवारा, संतुष्टि-अंसतुष्टि के चक्कर में फँस गई। इसी के साथ जन मानस भी शासन-प्रशासन को पहले ही अपना-पराया मानते रहा। आज की स्थिति में शासन को स्वीकारने के स्थान पर अस्वीकार करते रहा। दूसरी विधि से सोचने पर पता चलता है कि गणतांत्रिक विधि से शासन होना संभव ही नहीं है क्योंकि जन प्रतिनिधि किसी न किसी सामान्य परिवार से जनादेश के साथ गद्दी पर बैठता है।

भय आदि काल से ही प्राकृतिक भय, पशु भय मानव में निहित अमानवीयता का भय के रूप में रहा है। नस्ल, रंग, जाति, सम्प्रदाय, मत, पद, पंथ और वस्तुओं के संग्रह के आधार पर मानव बंधा रहा, उसका पिंड नहीं छूटा। हरदम ये भय पैदा करते ही आए। स्वर्ग का प्रलोभन ही संग्रह सुविधा और भोग विलास के रूप में मानव मानस में परिवर्तित हुआ। आज के मानव मानस से, रहस्यमय स्वर्ग के साथ भरोसा कम हो गया और अब मरने के बाद आश्वासन के रूप में मिलने वाले स्वर्ग के प्रलोभन से कहीं अधिक भरोसेमंद

माना जाता है, संग्रह और भोग। राज सत्ता और वस्तु को हथियाने के क्रम में ही संघर्ष का दौर चल रहा है। यह प्रधानत: अधिकारियों, राजनेताओं, कुछ एक धर्म नेताओं-व्यापारियों तथा उद्योगपतियों में देखने को मिल रहा है। आम जनता के लिए ये ही सब लोग सुविधा संग्रह का आदर्श हैं। इस आधार पर अधिकाधिक संख्या में मानव मानस संग्रह सुविधा और भोग यात्रा में व्यस्त है।

उल्लेखनीय बात यह है कि रुचि मूलक मानसिकता के आधार पर शासन, व्यवस्था, समाज और वर्तमान में विश्वास होना संभव नहीं हैं। व्यवस्था का विचार, अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिंतन से सर्वसुलभ होता है। यह चिंतन अस्तित्व में अविभाज्य मानव सहज अध्ययन है। अस्तित्व समग्र का अध्ययन, मानव संपूर्णता का अध्ययन करने वाला मूल वस्तु मानव ही है। मानव अपने रूप, गुण, स्वभाव, धर्म के रूप में संपूर्ण होता है। इसका अध्ययन संभव हो गया है। मानव मूलत: शरीर और जीवन के संयुक्त रूप में है, यह प्रमाणित है, वर्तमान है। इसका विधिवत् अध्ययन किया गया। शरीर रचना के संबंध में, रासायनिक-भौतिक रचना रुपी शरीर के समुचित रूप को स्पष्ट कर दिया है और जीवन का स्वरुप "अस्तित्व में परमाणु में विकास" अध्याय में स्पष्ट किया गया है। परमाणु में विकास ही गठनपूर्णता पूर्वक चैतन्य प्रकृति ही जीवन पद में प्रतिष्ठित है - ऐसा पाया जाता है। ऐसा जीवन ही जागृति क्रम में मानव परंपरा में, मानव शरीर द्वारा प्रमाणित होता है। यह नियति सहज कार्य है। ऐसे कार्य की सफलता क्रम में, मानवीयता एवं मानवत्व एक स्पष्ट आयाम है - इस बात को स्पष्ट किया है। इस प्रकार अस्तित्व- सत्ता में संपृक्त प्रकृति है, यह स्पष्ट हो चुका है। अस्तित्व सहज चारों अवस्थायें सहअस्तित्व के रूप में, नित्य वर्तमान है - यह स्पष्ट किया जा चुका है।

इस प्रकार सहअस्तित्व सहज विधि से मानव व्यवस्था को पहचानने का मार्ग प्रशस्त होता है। इसका सूत्र यही है। प्रत्येक एक अपने "त्व" सहित व्यवस्था है और समग्र व्यवस्था में भागीदार हैं। इसलिए मानव भी मानवत्व सहित व्यवस्था है और उसकी समग्र व्यवस्था में भागीदारी सहज संभव हैं। इसीलिए व्यवस्था, मानवत्व सहज गति है, न कि शासन। व्यवस्था विधि से ही परस्परता में मूल्य और मूल्यांकन सार्थक होता है।

व्यवस्था अस्तित्व सहज वर्तमान में विश्वास है। अस्तित्व नित्य वर्तमान है। वर्तमान में विश्वास रहना, उसकी अक्षुण्णता की आवश्यकता रहना, यही मानव में जागृति का प्रमाण हैं। व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी ही गति है।

प्रत्येक मानव वर्तमान में विश्वस्त, भविष्य के प्रति आश्वस्त रहना ही चाहता है। इसमें अगर कोई बाधा निर्मित हुई है तो वह मानव के कारण ही है। यदि रहस्यता हुई है तो वह भी मानव सहज नैसर्गिकता है।

सर्वप्रथम मानव के साथ विश्वास बनाए रखने; विश्वास पाने और उसकी निरंतरता पर भरोसा कर सकें, यही मुख्य स्थली हैं। इस पर विचार करने, विवेचना करने, योजनाबद्ध तरीके से प्रमाणित होने के लिए मानव ही अध्ययन के मूल में प्रस्तुत होता है। अध्ययन की मूल वस्तु मानव ही है। अध्ययन करने वाला मानव ही है और प्रयोजित होते समय मानव और नैसर्गिकता का मूल्यांकन होना एक आवश्यकता बन जाती है।

मानव जब कभी भी अपने में समाधान से तृप्त होता है, तब-तब नैसर्गिकता में समाधान यथा मानव धरती, जल, वायु, जंगल, जीव, पक्षी के साथ समाधान आता है। इनके साथ कितना समाधान सहज कार्य किया, यही स्व-समाधान की पुष्टि है।

सहअस्तित्ववादी नजरिए से जब हम देखते हैं, तब हमें आंकलित होता है कि हम कितना समाधानित हैं। इस बात को अपने में मूल्यांकन करने योग्य होते हैं। समाधान मूलत: पूर्णता और पूर्णता की निरतंरता के अर्थ में प्राप्त अवधारणा के रूप में मानव में ही प्रमाणित होना पाया जाता है। पूर्णता का स्वरुप अस्तित्व में गठन पूर्णता, क्रिया पूर्णता, आचरण पूर्णता ही हैं, जिसका दृष्टा-ज्ञाता जागृत मानव है। दृष्टा का तात्पर्य अस्तित्व सहज नित्य वर्तमान में जानने, मानने, पहचानने, निर्वाह करने से है। इसकी अबाध गति, अक्षय स्रोत सहअस्तित्व है। मानव ही प्रमाणित हो पाता है। इसकी सत्यता सहज अभिव्यक्ति के लिए मानव में अप्राप्त की प्राप्ति, अज्ञात को ज्ञात करने और प्रमाणित होने की अभिप्सा देखने को मिलती है। अभीप्सा की सार्थकता अभ्युदय के पक्ष में कल्पना, विचार और इच्छा सहज क्रियाकलाप से है। अभीप्सा सर्वमानव में वर्तमान है ही। अभीप्सा में, इच्छा की पूर्णता के प्रति अवधारणा सहज रूप में परिवर्तित करना ही मानव सहज जागृत परंपरा का कार्यकलाप है। जागृति पूर्वक ही मानव का वर्तमान में विश्वास और उसकी अक्षुण्णता के प्रति आश्वस्त होना पाया जाता है।

अस्तित्व में अविभाज्य वर्तमान रुपी मानव सहअस्तित्व सहज विधि से ही जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान, मानवीयता पूर्ण आचरण ज्ञान संपन्न होता है, इसका प्रावधान नित्य समीचीन है। इसी आधार पर कल्पना, विचार, चरित्र रूप में समुदाय परंपरा मानव, परिवर्तन सहज संभावना को स्वीकार करते ही आया। जिसके आधार पर आज प्रमाण सहज जागृति के लिए हम मानव प्रतीक्षित रहे आए हैं। फलत: जागृति अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था के अर्थ में फलीभूत होना निश्चित है। मानवीयता सहज जागृति का नित्य स्रोत सहअस्तित्व है, जागृति की नित्य प्रक्रिया सहअस्तित्व है। जागृति का निरंतर धारक-वाहक जागृत मनुष्य ही हैं। इस प्रकार जागृति की स्थिति, गति, संभावना स्पष्ट है।

मानव का ही मूल्य और मूल्यांकन सहित जीने की कला, विचार शैली और अनुभव बल संपन्न होना सहज हैं। और कोई वस्तु जागृति के लिए अथवा सर्वतोमुखी जागृति को प्रमाणित करने के लिए समीचीन नहीं

हैं। इसलिए मानव सहज अपेक्षा और कार्य प्रणाली के बीच सामरस्यता को स्थापित करने के क्रम में ही पूर्णता की संपूर्ण अवधारणाएँ समाहित होती है, यह एक सहज प्रक्रिया है।

अस्तित्व में चारों अवस्थाओं का अंर्तसंबंध और उसकी निरंतरता को मानव द्वारा जानना, मानना, पहचानना, निर्वाह करना पूर्णता सहज अवधारणा और उसका प्रमाण रुपी आचरण हैं। यही मुख्य बिंदु है। नैतिकता के संतुलन से मानव की भागीदारी अपने-आप स्पष्ट होती हैं। वन, खनिज, जल के साथ मानव जागृति पूर्वक प्राकृतिक नियमों का पालन कर पाता है।

अन्यथा भ्रमवश आवश्यकता से सुविधा, सुविधा से भोग, भोग से अतिभोगवादी प्रलोभनों के चक्कर में संग्रह, सुविधा लिप्सावादी आधार पर तमाम अपराध कर डालता है। अभी तक का किया हुआ भी इसी तरीके से हुआ है। अभी तक मानव में भय और प्रलोभन यथावत् है। भय और प्रलोभन का यही क्रम बनता रहा है कि आवश्यकता से सुविधा, सुविधा से भोग, भोग से अतिभोग। इसी क्रम में जीने के तरीकों को अपनाया गया। इसका स्रोत संग्रह को मान लिया गया। संग्रह के लिए एक मात्र स्रोत, यह धरती रही आई। फलस्वरुप जो मनमानी कर सकते थे, उससे नैसर्गिकता का असंतुलन, प्रदूषण के रूप में एवं विकराल जन संख्या के रूप में सामने आया। यह समस्या के रूप में मानव के सम्मुख प्रस्तुत हुआ।

उल्लेखनीय बात यह है कि मानव ने ही जनसंख्या को बढ़ाया। बढ़ाने के लिए प्रेरणा देते ही आया और प्रदूषण को विज्ञान-तकनीकी की सहायता से प्रौद्योगिकी तरीके से मानव ने ही निर्मित किये। जहाँ तक जनसंख्या वर्धन की बात है, इस बात में सभी ने भागीदारी को निर्वाह किया। किसी समुदाय ने कम, किसी समुदाय ने ज्यादा किया - ऐसा आंकलित हो पाता है। इसको प्रत्येक समुदाय, प्रत्येक मानव समझ सकता है। जहाँ तक प्रदूषण की बात है, प्रधानत: उद्योगों से इसकी शुरुआत होती है। उद्योगों से निर्मित वस्तुओं की आवश्यकता मानव मानस में होना पाया जाता है। इसका साक्ष्य यह है कि जो कुछ भी उद्योगों द्वारा उत्पादन प्रस्तुत किये गये, उसे मानव ने स्वागत किया, अपनाया। अपनाने का स्वरुप, आवश्यकता से सुविधा, सुविधा से भोग, भोग से अतिभोग की ओर देखा गया। इस प्रकार कृत-कारित, अनुमोदित प्रमाणों से मानव प्रदूषण में अपनी भागीदारी को प्रस्तुत किया। इन तथ्यों को यहाँ पुन: उल्लेख किया गया है कि मानव में यह अध्ययन किया गया है-

1. मानव अपनी गलती की समझ में पीड़ित हुए बिना, अपने द्वारा की जा रही गलती का सुधार नहीं करता।
2. गलती की पीड़ा की समझ की स्थिति में ही मानव ने सुधार को स्वीकारा।

अर्थात् उसकी (सुधार की) आवश्यकता को समझा गया, फलस्वरुप वह उसके लिए आवश्यकीय क्रियाकलापों को अपनाता है। इस आधार पर, इस धरती में पाए जाने वाले सभी समुदायों ने प्रदूषण और जनसंख्या वृद्धि में भागीदारी को निर्वाह किया है। इस गलती की पीड़ा सभी समुदायों को महसूस करने की आवश्यकता है। इसी के आधार पर इससे बचने की अथवा सुधरने की बात समझ में आती है।

अस्तित्व में चारों अवस्थाएँ इस धरती पर होना प्रमाणित हैं। यह धरती एक सौर व्यूह का अगंभूत (अंग के रूप में) कार्य करती हुई है यह स्पष्ट हो चुका है। ऐसे अनंत सौर व्यूह होने की कल्पना मानव में होती है, इस धरती पर जितने भी मानव है वे सब धरती पर जागृति सहज प्रमाणों को प्रमाणित करें, इसकी परम आवश्यकता हैं। क्योंकि सभी समस्याएँ मानव में, मानव से, मानव के लिए की हुई हैं। इसलिए सभी आयामों, कोणों, दिशाओं, परिप्रेक्ष्यों में समाधान प्रस्तुत करना भी परम आवश्यकता है। इसका आधार यही है कि मानव को समस्याएँ स्वीकृत नहीं हैं। अपितु समाधान सहज ही स्वीकार्य होते हैं। समाधान का संपूर्ण प्रयोजन मानव इकाई के अंतर-संबंधों और अस्तित्व में परस्पर सहअस्तित्व सहज वर्तमान में, पहचाना जाता है। अर्थात् पूर्णता क्रम, पूर्णता और उसकी निरंतरता सहज सूत्रों, व्याख्याओं जानने, मानने, पहचानने, निर्वाह करने के प्रमाणों से संप्रेषित होता है। यही मानव भाषा का अर्थ है। इस अर्थ को संप्रेषित करने के लिए कारण, गुण, गणितात्मक विधि से, विवेक और विज्ञान सम्मत तर्क प्रणाली को अपनाना होता है। इसी विधि से पूर्णता की अवधारणा, उसकी अक्षुण्णता सहज रूप में ही मानव परंपरा में प्रवाहित होती हैं। मानव परंपरा अर्थात् मानवीयता पूर्ण शिक्षा-संस्कार, परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था, मानवीय आचरण संहिता रुपी संविधान इसकी प्रतीक्षा सबको है। इसका कारण एक ही है, इसका नित्य सर्वशुभ, मानव में ही स्वीकृत रहता है। इसी सत्यतावश मानव में नित्य स्वीकारा हुआ प्रमाण इच्छा के रूप में, शुभ विचार के रूप में, शुभ कल्पना के रूप में प्रस्तुत कर लेना स्वाभाविक है। उत्पादन में व्यवहार में आशा, विचार, इच्छा, ऋतम्भरा और प्रमाण में होने वाली सहज संप्रेषणा ही मानवीय आचरण, मानवीय व्यवहार और मानवीय व्यवस्था के रूप में प्रमाणित होती हैं। इसके लिए मानवीय शिक्षा-संस्कार परपंरा के रूप में प्राप्त होना भी, सहज हैं। यही प्रमाण परंपरा का तात्पर्य और अपेक्षा है।

मानव सहज जागृति ही मानवीयतापूर्ण व्यवस्था का आधार है। उसकी निरंतरता का स्रोत हैं। संपूर्ण मानव का जागृति क्रम जानने, मानने, पहचानने, निर्वाह करने का सहज क्रम है। जानने, मानने की संपूर्ण वस्तु अस्तित्व ही है। अस्तित्व में मानव अविभाज्य हैं। "अस्तित्व में परमाणु में विकास" सहज विधि से विद्यमान जीवन प्रतिष्ठा और अस्तित्व में रासायनिक-भौतिक रचना रुपी शरीर के संयुक्त रूप में मानव परिभाषित है और व्याख्यायित हैं। अस्तित्व में संपूर्ण वस्तु अपने-अपने स्वरुप में परिभाषित हैं और आचरण पूर्वक

वैभव के रूप में व्याख्यायित हैं। जैसे सत्ता अपनी व्यापकता अर्थात् सर्वत्र एक सा विद्यमान स्वरुप में परिभाषित है और पारदर्शी, पारगामीयता के रूप में व्याख्यायित है। सत्ता में संपृक्त प्रकृति अनंत इकाईयों के रूप में परिभाषित है। श्रम, गति, परिणाम सहित क्रियाओं के रूप में व्याख्यायित है।

सत्ता में संपृक्त जड़-चैतन्य प्रकृति में प्राणावस्था, पदार्थावस्था सहज परिभाषा, व्याख्या सहित रासायनिक-भौतिक रचना के रूप में परिभाषित और व्याख्यायित है। सत्ता में संपृक्त प्रकृति सहज जीवन अक्षय शक्ति और अक्षय बल के रूप में परिभाषित है और जागृति और उसकी निरतंरता के लिए व्याख्यायित है।

संपूर्ण अस्तित्व निश्चित परिभाषा और निश्चित व्याख्या सहित ही नित्य वर्तमान है। निश्चयता, व्यवस्था समझ में आना ही परिभाषा, पद और अवस्था रुपी प्रतिष्ठा को व्यक्त करता है। व्याख्या, महिमा और प्रयोजनों को व्यक्त करता है। व्यक्त होना वर्तमान में हैं। अस्तित्व सहज स्थिरता विकास व जागृति सहज निश्चयता की परिभाषा निश्चयता ही व्याख्या अध्ययनगम्य है।

मानव जड़-चैतन्य प्रकृति का संयुक्त साकार रूप है। मानव शरीर रचना की परंपरा शरीर संयोग से संपन्न होना ज्ञातव्य है। जीवन अपनी जागृति को प्रमाणित करने की अनिवार्यता वश, मानव शरीर को संचालित करता है। जबकि जीवों के शरीर को भी जीवन ही संचालित करता है। इसमें उद्देश्य वंशानुषंगीय कार्यकलापों को वर्तमान में प्रमाणित करना रहता है। यही मानव और जीवों के उद्देश्य में भेद हैं। मानव परपंरा में जीवन प्रमाणित होता है, जबकि जीवावस्था में शरीर सहज क्रियाकलाप प्रमाणित होता है। जीवन का उद्देश्य जागृति है। जागृति सहज व्याख्या अस्तित्व में जागृति सहज ज्ञान, दर्शन और आचरण ही हैं। मानव जब कभी भी जागृति सहज प्रमाणों को प्रस्तुत करेगा, तब इन्हीं तीन बिंदुओं में अपने को व्याख्यायित करेगा।

दर्शन के अर्थ में दृष्टा और दृश्य दोनों समाहित हैं। दृष्टा का अर्थ समझने वाला है और समझा हुआ है। मानव ही दृष्टा है। दृष्टा रुपी मानव में छ: (6) दृष्टियाँ होती हैं। जिसमें से न्याय, धर्म, सत्य से नियंत्रित प्रिय, हित और लाभ (समृद्धि) दृष्टियाँ जागृत मानव में प्रमाणित होती हैं। भ्रमित मानव में केवल प्रिय, हित और लाभ दृष्टियाँ प्रकाशित होती हैं। जीवन जागृति के अर्थ में ज्ञान यही है- जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान और मानवीयता पूर्ण आचरण ज्ञान। जीवन-ज्ञान और अस्तित्व दर्शन के फलस्वरुप, जागृति, सार्वभौम व्यवस्था विधि से आचरण, कार्य, व्यवहार के रूप में प्रमाणित हो पाता है। इसी के साथ, जागृतिपूर्वक जो कुछ भी उत्पादन कार्य करते है और करने के लिए प्रयत्न करते है, वह सब सहअस्तित्व सहज मानसिकता सहित ही संपन्न होना देखने को मिलता है। फलस्वरुप मानव सहअस्तित्व सहज उत्पादन कार्यकलापों को योजनापूर्वक अपनाता रहेगा। इसलिए नैसर्गिक संबंधों का निर्वाह, मूल्यों का निर्वाह और मूल्यांकन सहज

हो पाएगा। मानव सहअस्तित्व अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था के रूप में ही प्रमाणित हो पाता है। इसलिए मानव संबंधों का पहचान, मूल्यों का निर्वाह व मूल्यांकन सहज ही संपन्न होगा। इन दोनों स्थितियों के फलस्वरुप प्राकृतिक ऐश्वर्य पर जीवन और शरीर की संयुक्त विधि से नियोजित श्रम वस्तु में स्थापित उपयोगिता व कला मूल्य के आधार पर मूल्यांकन होना सहज हो जाता है, यही मूलतः मुद्रा व प्रतीक मुद्रा का विकल्प है।

मुद्रा और श्रम मूल्य :- मुद्रा और प्रतीक मुद्राएँ अभी तक समुदायों में, विविध प्रकार से प्रचलित रहीं। धातुओं के ऊपर लिखी हुई संख्याओं को मुद्रा कहते है। उन्हीं संख्याओं को कागज पर छापने से वह प्रतीक मुद्रा कहलाता है। दोनों प्राप्ति नहीं हैं। जो कुछ भी प्राप्ति है; वह आहार, आवास, अलंकार संबंधी और दूरदर्शन, दूरगमन, दूरश्रवण संबंधी वस्तुओं में हैं। इन सब की उपयोगिता स्पष्ट है। इनका सदुपयोग करना भी है। मुद्रा और प्रतीक मुद्रा का उपयोग नहीं हो सकता, सदुपयोग होने की बात तो दूर रही। इसलिए इस भ्रम का विकल्प आवश्यक रहा। इसका विकल्प श्रम का नियोजन, श्रम मूल्य का मूल्यांकन और श्रम विनिमय ही हैं। वस्तुओं का विनिमय मूल्य, श्रम नियोजन के आधार पर होना पाया जाता है। इसलिए वस्तुओं का मूल्यांकन होना सहज संभव है। वस्तुओं का मूल्यांकन ही श्रम का मूल्यांकन है। वस्तु का विनिमय ही, श्रम का विनिमय है। इस प्रकार श्रम का मूल्यांकन और श्रम विनिमय प्रणाली को अपनाना सुलभ है। जिससे द्रोह-विद्रोह, शोषण अपने-आप शांत हो जाते हैं। इसकी गति अवश्य ही मानव कुल चाहता है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर आते है कि:-

1. श्रम मूल्य को पहचाना जा सकता है।
2. श्रम मूल्य का मूल्यांकन उत्पादित वस्तु के उपयोगिता और कला के आधार पर किया जा सकता है।
3. श्रम विनिमय मानव सहज एक आवश्यकता है।
4. श्रम विनिमय को वस्तु विनिमय के रूप में किया जा सकता है।

श्रम मूल्य का मूल्यांकन प्राकृतिक ऐश्वर्य पर श्रम नियोजन के आधार पर होना पाया जाता है। श्रम नियोजन आज भी प्राकृतिक ऐश्वर्य पर ही होता है। उसे प्रतीक मूल्य के चक्कर में ले जाकर परस्पर विश्वासघात करने की हजारों मंजिल की एक बड़ी दुकान आदमी जाति ने सजा लिया है। इसी व्यापार में ही सर्वाधिक दिलचस्पी मानव में देखने को मिलती है। इसके मूल में संग्रह है, संग्रह के मूल में भोग है। सुविधा भोग की लिप्सा में व्यापारवाद को मानव मानस से सर्वाधिक संख्या में स्वीकार कर लिया है। व्यापार मूलतः उत्पादन नहीं है, जबकि उत्पादन और उपभोक्ता के बीच में सर्वाधिक पवित्र सेवा मानकर जनमानस ने स्वीकारा है। इसका प्रमाण है व्यापारी ने जो दाम लेकर जिस वस्तु को बेच लिया, उसका विश्वास प्रत्येक

मानव करता आया है। अभी भी सर्वाधिक लोग विश्वास करते हैं। अभी की स्थिति में, कई देशों में, जिस वस्तु को जिस नाम से बेचा जाता है, उस नाम की वस्तु का जो सहज रूप गुण होता है, उससे भिन्न या विकृत वस्तुओं को बेचकर लाभोन्माद की तुष्टि देता हुआ आदमी देखने को मिलता है। जैसे चावल में पत्थर मिलाकर बेचना। इसी प्रकार औषधि द्रव्यों में भी मिलावट की बात देखी गई हैं। यह लाभोन्माद से ही आता है। लाभोन्माद संग्रह के रूप में विनियोजित रहता है। यह उदाहरण यहाँ इसलिए दिया गया है कि वस्तुओं को खरीदते समय ही मानव सहज रूप में ही विश्वास से खरीदता हैं। उस वस्तु के निष्प्रयोजन और विकल्प की स्थिति में पीड़ित होना स्वाभाविक है । इससे पता लगता है कि एक तो मूल्यों की मूल्यांकन विधि में, मूल्यांकन में जो ज्यादा कम वाली बात है, वह अपने प्रकार की दो स्थितियाँ निर्मित करता है। दूसरी यह भी बात समझ में आती है कि वस्तु की पवित्रता, गुणवत्ता पर प्रश्न चिन्ह लग गए है? इसलिए मानव की व्यवस्था प्रणाली में, प्रत्येक व्यक्ति व्यवस्था में भागीदार है, इस कारण व्यापार मानसिकताएँ ग्राम मूलक उत्पादन और समृद्धि सहज मानसिकता में विकसित होना स्वाभाविक है।

समृद्धि, व्यवस्था में भागीदारी होने के प्रमाण में अपने-आप प्रमाणित होती है। अपने आप का मतलब नियति सहज रूप में ही समझने से है। मानव में संपूर्ण उपलब्धियाँ समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व ही है। यही व्यवस्था में, से, के लिए जीने की कला सहज प्रमाण है। व्यवस्था में भागीदारी क्रम में समाधान, समृद्धि सहज पाया गया। यह बुद्धिजीवियों का प्रश्न हो सकता है कि अव्यवस्था बहुल समुदाय परंपराओं में व्यवस्था सहज विधि से जीना कैसे बन पाएगा? उसको ऐसा देखा गया, किया गया और मूल्यांकन भी किया गया कि परंपरा से अधिक जागृत होने की संभावना समीचीन रहता ही है। इस बात का ज़िक्र पहले भी किया गया है। इसी क्रम में हर वर्तमान में ऐसे व्यक्ति के होने की संभावना से कोई भी बुद्धिजीवी इन्कार नहीं कर सकता। इसके प्रमाणों में भौतिकवादी विधि से अनेक अनुसंधान ज्ञान परंपरा में प्रचलित नहीं था। इसी प्रकार आदर्शवादी विधि में भी बहुत सारे महापुरुष अपने को मौलिक रूप में व्यक्त किये, जिनकी गुण गाथा सम्मान और आस्था के साथ आज भी किया जाना देखने को मिल रहा है। इसी नियति क्रम में अर्थात् जागृति क्रम में मध्यस्थ दर्शन, सहअस्तित्ववाद को व्यक्त करने से पहले जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन और मानवीयता पूर्ण आचरण सहज विधि से, जी कर देखा गया, उसके अनंतर ही ग्रंथ को लिखने की प्रक्रिया शुरु की गई।

अस्तित्व दर्शन, जीवन ज्ञान, मानवीयता पूर्ण आचरण सहित जीने के क्रम में यह देखा गया है कि जीवन ज्ञान के साथ ही स्वयं के प्रति विश्वास हुआ। श्रेष्ठता के प्रति सम्मान करना सहज हो गया। जीवन ज्ञान को कुछ लोगों में प्रबोधन पूर्वक अवधारणा में लाए और उन्हीं के चिंतन और व्यवहाराभ्यास के योगफल में

उनमें भी स्वयं के प्रति विश्वास, श्रेष्ठता के प्रति सम्मान करना प्रमाणित हुआ। अस्तु, इसी क्रम में यह देखा गया कि व्यक्तित्व एवं प्रतिभा में संतुलन स्थापित हुआ। जिसके प्रमाण में व्यवहार में सामाजिक, व्यवसाय में स्वावलंबन सहज आवश्यकता महसूस हुई, स्वीकार हुई, उसी विधि से जीया गया। इसलिए स्वयं में, से, के लिए प्रमाण होने के फलस्वरुप, मानव में, से, के लिए प्रमाण होने की संभावना पर विश्वास किया है। इसी सत्यतावश यह अभिव्यक्ति मानव के सम्मुख अर्पित हुई है।

उपर्युक्त क्रम में जागृति स्पष्ट हो गई। यह अस्तित्व दर्शन, जीवन ज्ञान की संयुक्त महिमा के रूप में स्पष्ट हुई। इसी महिमावश मानवीयता पूर्ण आचरण ध्रुवीकृत, समीकृत विधि से समझ में आया। इसके लोक व्यापीकरण की सहज संभावना भी समझ में आई। तथा दो विधियों से आई विचारधारा, कहाँ-कहाँ निग्रह बिंदु में आई, यह बात भी समझ में आई। अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिंतन सहज प्रकाश में सभी निग्रह बिंदुओं का समाधान समझ में आया तब इसको प्रस्तुत करना उचित समझ लिया।

जीवन ज्ञान का लोक व्यापीकरण होता है, इसको सर्वश्रेष्ठ शिक्षण संस्थाओं में भी प्रयोग किया गया। यह संप्रेषित होता है इसका प्रमाण मिला। फलस्वरुप रहस्य का उन्मूलन करने में विश्वास किया। इस प्रकार हर व्यक्ति अपने में प्रयोग कर देख सकता है जीवन ज्ञान में पारंगत होने के उपरान्त:-

1. स्वयं के प्रति विश्वास होता है।
2. श्रेष्ठता के प्रति सम्मान होता है।
3. जीवन में ही रहस्य से मुक्ति मिलता है।
4. मानव जागृत होकर देवमानव, दिव्यमानव होता है, यह सत्य समझ में आता है। फलस्वरुप देवी-देवता संबंधी रहस्य से मुक्ति मिलता है।
5. अस्तित्व दर्शन सहज रूप में ही होता है। फलस्वरुप ईश्वर संबंधी रहस्य से मुक्ति मिलता है।
6. अस्तित्व ही सहअस्तित्व के रूप में समझ में आता है।

इस विधि से अज्ञात को ज्ञात करने का उपाय सहज ही समझ में आता है। इस प्रकार धर्म संबंधी रहस्य सहअस्तित्व विधि से, प्रमाण संपन्नता सहित सार्वभौम व्यवस्था और अखण्ड समाज रचना और उसकी निरंतरता में, से, के लिए संपूर्ण बोध सहित कार्य प्रयास आरंभ हुआ।

ऊपर कहे अनुसार मानव किसी भी देश, काल में जीवन विद्या में पारंगत होने के उपरान्त व्यक्तित्व और प्रतिभा में संतुलन सहित, व्यवहार में सामाजिक, व्यवसाय में स्वावलंबी होना संभव होता है। इसे एक से अधिक व्यक्तियों में देख लिया गया। इन आधारों पर परिवार परिवार समूह, ग्राम मोहल्ला परिवार, ग्राम समूह परिवार, क्षेत्र परिवार, मंडल परिवार, मंडल समूह परिवार, मुख्य राज्य परिवार, प्रधान राज्य परिवार,

विश्व राज्य परिवार भी व्यवहार में समाजिक, व्यवसाय में स्वावलंबी होगें। यह परंपरा में संतुलन होने का प्रमाण हैं। प्रत्येक मानव परिवार मानव के रूप में ही मूल्यांकित हो पाता है। समृद्धि और समाधान ही स्वावलंबन और सामाजिकता का प्रमाण हैं। प्रमाण परंपरा परिवार में, से, के लिए वर्तमान हो पाता है। इससे यह भी समझ में आया कि यदि परिवार नहीं है, तो प्रमाण नहीं हैं।

प्रत्येक मानव मूलत: सुख धर्मी है ही। आशा के रूप में यह मानव में प्रमाणित होता है अथवा इच्छा के रूप में यह पाया जाता है। इसकी सफलता की निरंतरता नियति सहज व्यवस्था और व्यवस्था में भागीदारी का फलन हैं। संपूर्ण परंपराएँ व्यवस्था के संबंध में भ्रमित होने के फलस्वरुप, प्रत्येक मानव अपने में कल्पनाशील होने के कारण रुचि मूलक विधि से मानसिकता में आना एक बाध्यता बन गई। इतिहास के अनुसार भी, स्वर्ग की परिकल्पना भी रुचि के अनुकूल वर्णन हैं। रुचि सहज कल्पनाएँ इन्द्रिय सन्निकर्ष के आधार पर हैं। इन्द्रिय सन्निकर्ष शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध के रूप में होना पाया जाता है। इसी का रुचिकर होना, अरुचिकर होना देखा जाता है।

रूचि की एकरूपता का, सार्वभौमिकता का कोई नियम नहीं होता। रुचि मूलक मानसिकता को हटाने के लिए अथवा परिवर्तन करने के लिए एक मात्र प्रस्ताव उपदेश के रूप में मोक्ष को बताया गया। उसके लिए विरक्तिवादी चरित्र, साधना और उसके क्रम का प्रस्ताव भी मानव के सम्मुख प्रस्तुत है। यह भी देखने को मिला कि विरक्ति में मानव ने अपने को अर्पित भी किया। यह सब होने के उपरान्त भी, किसी भी परपंरा में सार्वभौम व्यवस्था निखरकर, उभरकर जनमानस में नहीं आया। अथवा इस रिक्तता के चलते सामान्य मानव के लिए रुचि मूलक प्रणाली से कल्पनाओं को दौड़ाना सहज हो गया। फलत: अव्यवस्था के अनंतर पुन: अव्यवस्था हाथ लगते आया। मूल मुद्दा भक्ति, विरक्ति, भोग और संग्रह क्रम में अखण्ड समाज, सार्वभौम व्यवस्था सूत्र व्याख्या और कार्यक्रम लोक विदित नहीं हो पाई। अभ्यास में आना तो दूर ही रहा। आज की स्थिति में सर्वाधिक संग्रह, भोग की मानसिकता अथवा लोक मानसिकता को देखते हुए व्यवस्था को पहचानना एक अनिवार्य स्थिति निर्मित हो चुकी है। इसके पक्ष में अर्थात् सार्वभौम व्यवस्था को पहचानने के पक्ष में सर्वमानव में सुखापेक्षा (सुख की अपेक्षा) एक मात्र सूत्र हैं। सुख सहज सूत्र व्याख्या ही भरोसा करने और प्रयोग कर, अभ्यास कर, प्रमाणित कर, लोक व्यापीकरण करने योग्य कार्यक्रम दिखाई पड़ता है।

इसका मूल ध्रुव जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन तथा मानवीयतापूर्ण आचरण का समीकरण ही हैं। इसके लिए अस्तित्व सहज सूत्र, सहअस्तित्व सहज व्याख्या, अध्ययन सुलभ हो चुका है। अस्तु, मानवीयतापूर्ण विधि और व्यवस्था को पहचानना सुलभ हुआ। इसको व्यवहार रूप देना ही इसका लोक व्यापीकरण ही हमारी

निष्ठा और कर्तव्य हैं। इसी विधि से पाई जाने वाली सुखाकांक्षा, व्यवहार और कार्यक्रम सहज सुलभ होने की संभावना आ चुकी हैं। इसी संभावना के आधार पर प्रत्येक मानव मानवत्व सहित व्यवस्था और समग्र व्यवस्था में भागीदारी निर्वाह करने के कार्यक्रम को परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था क्रम में पहचान कर निर्वाह कर सकते हैं। इससे ही प्रत्येक मानव सुख, समाधान, समृद्धि, अभय, सहअस्तित्व को अनुभव करेगा।

12) भौतिकता, अभिव्यक्ति, संस्कार और व्यवस्था

सम्पूर्ण अभिव्यक्ति, सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति के रूप में नित्य वर्तमान है। वर्तमान, त्रिकालाबाध सत्य है। वर्तमान में सहअस्तित्व में अनुभव प्रतिष्ठा वश दृष्टा पद व जागृतिपूर्ण मानव परंपरा है। यह प्रमाणित होना ही सत्य दृष्टा होने का प्रमाण हैं। व्यापक रूपी सत्ता में संपृक्त प्रकृति में ही जीवन है और जीवन में ही जागृति प्रमाणित होता है। यह एक सहज कार्य के रूप में प्रमाणित हो चुका है। इस धरती पर मानव, शरीर और जीवन के संयुक्त रूप में प्रकाशमान है और अभिव्यक्तिशील है। विकास क्रम में संपूर्ण वनस्पति जगत प्राणावस्था के रूप में व्यक्त हैं। यह भौतिक वस्तु की महिमा है, यह समझ में आ चुका है। विकास, परमाणु में होना देखा गया है। ऐसे परमाणुओं में, से चैतन्य पद में संक्रमित होने के उपरान्त ही 'जीवन' है। यह 'जीवन' अपनी महिमा को जीवनी क्रम में संपूर्ण जीवों के रूप में दिखता है। जागृति क्रम में मानव भी जागृति पूर्वक एक अभिव्यक्ति है। इस प्रकार सत्ता में संपृक्त प्रकृति चार अवस्थाओं में व्यक्त है। इसका नामकरण पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था और ज्ञानावस्था है।

पदार्थ, प्राण, जीव अवस्था सहज कार्यकलाप नियमित, नियंत्रित, संतुलित रहना पाया जाता है। ज्ञानावस्था के मानव के लिए अपने में नियंत्रित, नियमित और संतुलित रहना अभी भी प्रतीक्षित है। इस धरती पर सबके लिए अभी तक कोई ऐसा मार्ग नहीं निकला, जिससे प्रत्येक समुदाय, परिवार, व्यक्ति संयत हो सके, नियंत्रित हो सके। नियमित हो सके और सुख, सार्थक, समाधान और सौंदर्य का अनुभव कर सकें। इसके मूल में मानव में निहित अमानवीयता का भय ही प्रधान विरोधाभासी तत्व है। यदि अमानवीयता के संपूर्ण स्वरुप का आंकलन करें तब युद्ध, शोषण, पर-धन, पर-नारी, पर-पुरुष, पर-पीड़ा, व्यापार, नौकरी के रूप में दिखाई पड़ता है। यही सब अमानवीयता का विराट रूप हैं। युद्ध, प्रौद्योगिकी, शक्ति केन्द्रित शासन और व्यापार कर्मों में फँसा हुआ व्यक्ति स्वाभाविक रूप में संग्रह करने के लिए अपने को अर्पित करता हैं। जितना मानव अपने में अविश्वास और भय से पीड़ित होता है, उतना ही संग्रह से सुखी होने, राहत पाने की आशा करता है। संग्रह के लिए पुन: अमानवीय कर्मों को, कृत्यों को और घटनाओं को घटित करते ही आया है। अभी भी घटित कर रहा है।

1. शोषण कृत्यों को लाभोन्मादी विधि से आदमी कर ही रहा है।
2. भोगोन्मादी विधि से संग्रह और पीड़ा पैदा कर ही रहा है।
3. युद्ध घटना के लिए सभी तैयारी कर चुके हैं और
4. पर्यावरण समस्या को घटित कर चुके हैं।

पर्यावरण समस्या में जलवायु, धरती, वन संबंधी बातों को सोचा गया है। ये सब के सब धरती के वातावरण में संपूर्णता को बनाये रखे थे। जब से मानव अपने को युद्ध, शोषण, संग्रह के आधार पर विकसित मानने लगा तब से ही इस धरती के वातावरण में स्थित समस्त द्रव्यों का ह्रास होने लगा। इसमें भ्रम होने का मूल कारण प्रौद्योगिकी रहा। इसकी मुक्ति एक ही है वह है मानवीयता। मानवीयता पूर्वक ही मानव अमानवीयता से मुक्ति पा सकता है। यही सर्वमानव में, से, के लिए अपेक्षित जागृति है।

मानवीयतापूर्ण पद्धति, प्रणाली, नीति, जीने की कला सर्वतोमुखी समाधान रूप में ही सभी विधाओं में अपनाने की स्थिति में ही इस धरती का वातावरण पुन: समृद्ध होना; जनसंख्या का नियंत्रण होना, प्रदूषण से मुक्त होना और सर्वाधिक धरती की सतह में पाए जाने वाले स्रोतों से ही ईंधन (ऊर्जा) स्रोत संपन्नता संभव हैं। जिस प्रकार से, जितनी तेजी से, धरती का वातावरण संतुलन बिगड़ रहा है। संतुलन के लिए ही समाधानात्मक भौतिकवाद प्रस्तुत है। प्रमाणित होना हर मानव की प्रवृत्ति पर निर्भर है। इसका मूल कारण धरती में "चुंबकीय प्रभाव" समेत ही संतुलन-असंतुलन सहज प्रभाव हैं। यह धरती ही ठोस, तरल, विरल वस्तुओं की संपूर्णता में ही अपनी संपूर्णता को बनाए हुए हैं। इस संपूर्णता में जो महत्वपूर्ण बिंदु है, वह है- इस धरती में, उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव को होना पाया जाता है। इन दोनों का संतुलन, बीच धारा की चुम्बकीय प्रभाव धारा है। यह अपने आप में ध्रुव से ध्रुव के साथ बंधा हुआ, नित्य प्रवाह हैं। वही, धरती की सतह में विद्युत प्रवाह के रूप में स्थापित है, इसलिए संपूर्ण वातावरण में विद्युत तरंग का होना पाया जाता है। अभी तक के विकास और विकसित परिकल्पनाओं के चलते धरती के साथ जितने भी खिलवाड़ हुए उसके अनुसार इस धरती के बीच में स्थिर रूप में पाई जाने वाली चुम्बकीय प्रभाव में व्यतिरेक उत्पन्न हो जाना भी एक संभावना हैं। यदि ऐसा संतुलन, असंतुलन में परिवर्तित हुआ तो इस धरती का ठोस रूप में विकृत परिवर्तन संभव हैं। यह तथ्य आगामी दिनों में परीक्षण के लिए एक बिंदु बन सकता है।

तत्काल इस बात की आवश्यकता है कि मानवीयतापूर्ण विधि से जीने की कला को हर समुदाय में हर मानव स्वीकार करे। फलस्वरुप हर समुदाय मानव चेतना में संक्रमित होने एवं हर नर-नारी मानव संचेतना पूर्वक प्रमाणित करने का समान अवसर और संभावना सुलभ हो सकें।

ऊपर स्पष्ट किये गये तथ्यों के आधार पर युद्ध, शोषण, लाभोन्मादी व्यापार, लाभ, शक्ति केन्द्रित शासन के आधार पर विकास का मूल्यांकन करना और उसको मान लेना दोनों गलत है और गलत ही रहेगा। यही मानव में देखने को मिला है, सही अर्थात् सहअस्तित्व सहज अर्थ में यथार्थता, वास्तविकता, सत्यता जब तक ज्ञानी, अज्ञानी, विज्ञानी कहलाने वालों को समझ में नहीं आयेगा तब तक वह अपनी कल्पनाओं अथवा कल्पित निश्चयों उन्मादत्रय को सत्य मानते रहेगें। इस प्रकार मानव में ही सत्य से बहुत दूर रहते हुए भी

अपनी भ्रमित कल्पनाओं को सत्य समझना पाया गया। यथार्थता, वास्तविकता, सत्यता को सहअस्तित्व सहज वैभव के रूप में समझना और परीक्षण, निरीक्षण करना, सर्वेक्षण पूर्वक व्यवहार में सार्वभौमता को पहचानना संभव हुआ है। इस कार्य को मानव ही करता है। ऐसी स्थिति जब तक नहीं आएगी, तब तक मानव में जागृति का प्रमाण सिद्ध नहीं हो पाएगा।

अस्तु, इसका सहज उपाय है परिवार मूलक स्वराज्य व्यवस्था को समझें और अपनावें। इसको जीवन ज्ञान, अस्तित्व दर्शन ज्ञान, मानवीयतापूर्ण आचरण से सफल बनाएँ। जिससे ही यह धरती स्वर्ग होगी। मानव ही देवता होंगे। मानव ही देव कोटि में प्रमाणित होंगे। मानव धर्म अर्थात् सार्वभौम व्यवस्था, अखण्ड समाज सफल होगा। फलत: नित्य शुभ, समाधान, सुख, सार्थक सौंदर्य बोध सबको सुलभ होगा।

॥ नित्यम् यातु शुभोदयम् ॥

भूमिः स्वर्गताम् यातु, मनुष्यो यातु देवताम्।
धर्मो सफलताम् यातु, नित्यम् यातु शुभोदयम् ॥

मूल ग्रंथ

"अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिंतन"

बनाम

"मध्यस्थ दर्शन सहअस्तित्ववाद"

दर्शन (मध्यस्थ दर्शन)

- मानव व्यवहार दर्शन
- मानव कर्म दर्शन
- मानव अभ्यास दर्शन
- मानव अनुभव दर्शन

वाद (सहअस्तित्ववाद)

- व्यवहारात्मक जनवाद
- समाधानात्मक भौतिकवाद
- अनुभवात्मक अध्यात्मवाद

शास्त्र (अस्तित्व मूलक मानव केंद्रित चिंतन)

- व्यवहारवादी समाजशास्त्र
- आवर्तनशील अर्थशास्त्र
- मानव संचेतनावादी मनोविज्ञान

संविधान

- मानवीय आचार संहिता रूपी मानवीय संविधान सूत्र व्याख्या

परिभाषा

- परिभाषा संहिता

अन्य

- विकल्प एवं अध्ययन बिंदु
- आरोग्य शतक

मध्यस्थ दर्शन पर आधारित उपयोगी संकलन

परिचयात्मक संकलन

- जीवन विद्या एक परिचय
- दिव्य पथ (जीवन परिचय – श्रद्धेय श्री ए. नागराज)

सहयोगी संकलन

- संवाद भाग - 1
- संवाद भाग - 2

प्रकाशित पुस्तक प्राप्ति ईमेल :

books@divya-path.org

प्रकाशित एवं अप्रकाशित मूल प्रति डाउनलोड :

www.madhyasth.org

सामान्य पूछताछ :

info@divya-path.org

Madhyasth Darshan Information Portal /

'जीवन विद्या' गतिविधि जानकारी :

www.madhyasth-darshan.info